

अनुत्तर योठीः तीर्थकर महावीर

श्री मौतिल जन रोदा निधि इन्दौर
द्वारा भेंट

श्री गोठी लाचनालय
धाना—नीमच (म. प्र.)
बीरेन्द्रकुमार जैन

श्री वीर निवारण ग्रंथ-प्रकाशन-समिति, इन्दौर

वर्तमान में चौहानपुर में जोवल्लि विराजमान
त्रिलोकयेश्वर श्री महाकीर प्रभु के घरणों में
विश्वधर्म के अध्यनात्म संश्रद्धा
पूज्य मुनीश्वर श्री विद्यानन्द स्वामी के
सारंस्त्रित कर-कर्मलों में

मेरी दिवंगता वा कस्तूरी-वा की पृष्ठ-स्मृति में,
जिसने मूँझे इस योग्य बनाया

श्री गाँधी लाचलालय
वघाना-नीमच (मु. प्र.)

दैशाली का विद्रोही राजपुत्र

ब्रह्म गीतिकृत लग्न दोषा विषि दन्दोर . अनुक्रम
दृश्य मैट

मैं कौन हूँ	१
पश्च-पुरुष का अवरोहण	१४
प्रतीक्षा करो, प्रियकारिणी	२६
यन्त्रिभेद की रात	३१
भर्यादा तोड़ बहुता भहासागर	३७
ओ मेरी देह के सारांग	४२
त्रैसोव मेश्वर का अक्षतरण	४९
बाल भागवत के लीलान्धेल	५६
हम राजाओं के राजा हैं	६३
अनहोना बेटा	७४
अन्यजात शानेश्वर	८०
प्रकृति और पुरुष	९०
कसमसाते खहापड़	१००
मुन्दरियों के स्वप्न-देश में	१०६
पिप्पली कानन के मेले में	११५
प्रथम लोक-यात्रा	१२७
युग्मावतार का सिहावलोकन	१३९
प्रमद-काष की शिवानी	१५२
अदिति, तुम्हारी कोख से मेरा आदित्य जन्मे	१६०
जब पुकारीगी, आँठंगा	१८५
कैवल्य-सूर्य की पूर्वाभार	१९२
आगामी मनवन्तार की तलवार	२१३
परा-ऐतिहासिक हतिहास-विष्वासा	२२७

सूरज को गोद नहीं लिया जा सकता	२४०
बैशाली के संयागार में	२५०
जीवन-रथ की बल्या	२७१
परित्राता का पाणिप्रहण	२८०
प्रति-क्षमार का उद्घाटी प्रति-सूर्य	२८८
विष्वव-चत्र का धुरन्धर	२९९
पूर्ण सम्बादिता की खोज में	३०८
मैं सिद्धालय से फिर लौटूँगा	३१५
महाभिनिष्करण	३३७
प्रस्थानिका	
समाप्ति	



मैं कौन हूँ

मैं कौन हूँ ? देख रहा हूँ, कि पिछले काण जो मैं था, वह इस काण नहीं हूँ । कुछ है जो बीत गया है, कुछ है जो नवा आ गया है । फिर मेरे मैं होने का क्या अभ रह जाता है ? एक और अनितम, ऐसा मैं कोई हूँ ? भीतर से उत्तर आया : नहे, यह जो पूछ रहा है कि 'मैं कौन हूँ'—यह कौन है ? । . . . यह जो देख रहा है कि 'पिछले काण जो था, इस काण नहीं हूँ : कुछ बीत गया है, कुछ नवा आ गया है'—यह कौन है ? और अविकल्प इसका एक ही तो उत्तर भीतर से आ रहा है : 'निश्चय, वह तो मैं ही हूँ : ध्रुव मैं' ।

देख रहा हूँ कि मैं अच्छुत स्वर्ग का इन्द्र हूँ । गणना और वर्णना से परे है मेरा वैभव, मेरा भोग । मेरा ऐंटिक सुख । इतना ही कहना काफी होगा कि सूष्टि की चिति-शक्ति, मेरे चित्त की हर इच्छा-तरंग पर उत्तर कर मेरा मन आहा रूप, रस, गन्ध, वर्ण, स्पर्श बन जाती है । . . .

वह अच्छुत स्वर्ग है : महीं ऐंटिक सुख समाधि की तलसीनता तक पहुँच हुए है । तरल रसों की इस ऐंड्रालिक मध्यापुरी में काल-बोध सम्भव नहीं : दिन-रात का भ्रेद बनुभव में नहीं आता । आयु के बीतते वर्षों का पता ही नहीं चलता । रसों की नामारंगी प्रभा-तरंगों में एक अन्तहीन स्वर्म चल रहा है । . . .

। . . पर आज एकाएक यह क्या घटित हुआ है कि, सपने की यह धारा कहीं से सहसा ढूढ़ी है, भंग हुई है । और काल की गति को मैं बपनी सुचुम्ना नाड़ी में, उत्सर्पित और अवसर्पित होते देख रहा हूँ । . . . इन्द्रनील मणि के इस प्राकृतिक सरोवर की सुरम्य सीढ़ियों पर अकेला बैठा हूँ । लगता है जैसे किसी सन्ध्या के तट पर, नितान्त एकाकी उपस्थित हूँ : पदार्थ में, वपने में, काण-काण कुछ बीतने और उत्तेज होने के कम को मैं हाथ में रखके रस की तरह साफ देख रहा हूँ । दृव्य अपने मौलिक रूप में नज़र होकर, यानों मेरे सामने प्रवाहित है । ठीक ऐसे

ही, जैसे इस सरोवर के नीलमी जलों की ये अनमलाती नहरें। ॥१॥ इन पानियों की सुगन्धाविल शैया में बनेक बार अपनी इन्द्राणियों और बदलभाओं के साथ कीड़ामन्न होकर भी, इस प्रवाह को ऐसा प्रत्यक्ष कभी नहीं देखा, नहीं जाना, जैसा कि आज देख-जान रहा हूँ। ॥२॥

॥३॥ मेरे लक्ष पर अलती यह सहजात माला ! उपणाद शैया पर मुहूर्त माल में, अंगड़ाई घर कर जाग उठने की तरह जब मेरा यह दिव्य आरीर आविभूत हुआ था, तब यह माला, मेरे साथ ही जन्मी थी। जिस दिव्य से मेरी देह बनी है, उसीसे निर्मित है यह माला। पर सारे स्वगतों के विविध कलावृक्षों के लभाम फूलों से जैसे यह गुणी है : और हर क्षण एक नयी सुगन्ध इसमें से तरंगित होती है। ॥४॥ माला तो अपनी अगह दर्सी ही नवीन, आस्वर, ताजा है : सुगन्ध का प्रवाह भी ऐसा ही है। ॥५॥ किन्तु इस काल-संध्या के तट पर से देख रहा हूँ, कि मह मेरी वही सहजाता माला नहीं है। जाने कौन एक अनश्य पंखरी छिप हो गई है : जाने कहीं कुछ दृढ़ गया है : विर्धाटित ही गया है।

॥६॥ और अभी इसी धार, यह माला मेरे कथ पर है, किर भी दूर उन चैत्यवृक्षों की हरियाली मर्कत आभा में दूर-दूर, दूर-दूर, चली जा रही है। और मुझे लग रहा है, मैं इस इन्द्रनीलमणि की नहरीली मीठी गर हूँ, किर भी जाने कहीं कहीं चला गया है। जाने कितने आपों में बंट गया है, बिखर गया है। एक और बखण्ड कोई मैं हूँ, बेशक, जो देख रहा है : पर जाने कितने 'मैं' के कथ एक पर एक खुल रहे हैं, चैत्य-वृक्षों की उन नाना रंगी रलिम उजियालों में। आगल के पार अन्तर्हीन प्राणियों की परम्परा : असंख्यात समुद्रों से आवेष्टित, जाने कितने लोकों में, पृथिव्यों में, स्वगतों के पटलों में, नरकों की अतल पृथिव्यों के अन्धकारों में...मैं...मैं...मैं...जाने कितने मैं। अनगिनती जन्मान्तरों के चित्रपट खुल रहे हैं। स्मन्दित, उच्छ्रवसित, जीवित, संवेदित, बोसते चित्र। कितना दबाव है, तनाव है, मन पर, इस धातु-अहिंष, रक्त-मांस-मज्जाहीन, कोमल तन पर मेरे। भव-भवान्तरों में भोग मुख-युक्तों का एकाग्र सम्बेदन मेरी कुष्ठलिनी में अजल बारा से प्रवाहित है।

॥७॥ काल-बोध ? बाईस सालर बोल गये हैं इसी अच्युत स्वर्गों में। गणना से परे, पत्त्यों से परे, हजारों या करोड़ों वर्षे : कथा अन्तर पड़ता है। चिशेष कर इस संख्या के तट पर, आयु के दलन-बिन्दु पर, जहाँ मानो असंख्य जन्मों और देश-कालों को एक साथ अपने आसपास चक्रायित अनुभव कर रहा है। जो रहा हूँ। कोड़ा-कोड़ी सागरों के पार, गणनातीत काल में चला गया हूँ—अपने से पार। और देख रहा हूँ अपने को जाने कहीं-कहीं।

‘‘ बम्भुदीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में, सीता नदी के उत्तरी किनारे पर, गुज्जला-
कर्ती देख : वही मधु नाम कोई नन । ‘‘ भीलों का राजा पुरुरवा, अपनी
काली नामा अङ्गी शिनी के साथ तमसाच्छब्द अरण्य में भृगया खेतता हुआ । ‘‘
दूर कहीं चमकती ओरें देख भील ने तीर लाना : कन्धे पर झूमकर काली चीख
उठी : ‘आह’ । ‘उतार दो तीर’ । ‘वह मृग नहीं है । ‘कौन है ?’ ‘ये बन-देवता
है, पुरु ! बनर्थ हो जाता ! उन्हें भारकर हम कहीं जियेंगे ?’ पुरुरवा मानों शरीर
था : काली थी उसका प्राण : उसकी आत्मा । वह स्पन्दित हो उठी । अचूक और
निश्चूय या वह संवेदन । भील-युगल उस सुदूर नेत्राभा से बिचता चला गया ।
अबोध, नगन बालक-से सामने आ रहे थे योगीराट् सागरसेन । काली उनके चरणों
में लोट कर बिलख पड़ी । भील स्तम्भित, अभिभूत देखता रह गया, योगी की
बीतराम मुद्दा । वह पाषाण हो रहा : उसके भीतर से निकल कर कोई, दूर बनान्तर
में ओरल होते योगी का अनुसरण कर गया ।

‘‘ देख रहा हूँ : वह भी तो मैं ही था । ‘‘ पुरुरवा : और काली कहीं चली
गई ? अनुभव कर रहा हूँ इस क्षण : वह मार्दवी कोई अन्य भी ही नहीं । मेरी ही
अपनी मौलिक मृदुता थी वह । प्रकट होनार मुझे अपनी पहचान कराने आई थी ।
अपने को पहली बार जाना, अपनी आत्मा को : और वह मेरे हाथ में अन्तर्भूमि
हो गयी । मैं अपने प्रति पहली बार जाना था उस दिन । । । ।

‘‘ फिर सौधर्म स्वर्ग में जन्म लेकर, वही की पश्चगन्धा मृदुताओं में जाने
किसने पल्यों तक सुख भोगकर, सो गया एक दिन पुरुरवा । । । एक और मैं !

‘‘ तीर्थकर कृष्णभद्र की राजनगरी अयोध्या । वही के सर्वतोभद्र प्रासाद
में, उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत चक्रवर्ती का किरण-सा कालिभान पुत्र मरीचि । राज-
योगीश्वर भरत भोग-समाधि में लीन थे । और कोमल किशोर मरीचि महाश्रमण
ऋषभेश्वर का अनुगामी हो गया । मुकुमार वय में ही, दिग्म्बर आरण्यक ।
अवधूत वृक्षभनाथ की मृत्युजयी तपोसाधना उसे सहृ न हो सकी । काषाय
और त्रिदण्ड धारण कर, स्वच्छन्द विचरता रहा मरीचि । पर भगवान के प्रभा-
मण्डल के परिसर में ही । अग्नी दुर्बलता और अपनी सीमा जानकर आत्मनिष्ठ,
मौन, प्रकट में योग-धृष्ट, पर अन्तर में निरन्तर योगी, मरीचि समर्पित था,
अपनी आत्म-प्रभा को । किन्तु अन्यों की दृष्टि में पश्चाष्ट, कुमार्गामी, मिथ्या-
दृष्टि । साध्य तत्त्व के उपदेष्टा कपिल का गुरु । । । दूसरे की आत्म-स्थिति के
निर्णायिक हम कौन होते हैं ? हम जो स्वयं अज्ञानी हैं ।

‘‘‘देख रहा हूँ, तीर्थंकर कुरुत्यनाम का वर्णन द्वानोदय-विवर से गणना का समवशरण ! गण्डाकुटी के शीर्ष पर कमलासन पर अधर में आसीन प्रभु के चरणों में नदीभूत भरतेश्वर ने जिजांसा की : ‘भगवन्, आपकी अभिताम ज्योति से सोकालोक प्रकाशित है ! क्या फिर भी कभी पृथ्वी पर ऐसा भुगत्वर ज्ञान-सूर्य उदय होगा ? क्या ऐसा कोई भव्य इस समय लोक में उपस्थित है ?’

देवानुश्रिय भरत, तुम्हारा पुत्र मरीचि, यहाँ उपस्थित है ! अब से सत्ताइसवें वर्ष में वह भरत धोत्र में तीर्थंकर के रूप में अवतारित होगा । अवसर्पिणी काल में हमारी कैवल्य-परम्परा का अन्तिम ज्योतिधंड । जिसका ज्ञानसूर्य अनश्वकार की आगामी अनेक ज्ञानियों को प्रचलित रूप से प्रकाशित और जीवन्त बनाये रखेगा । उसे पहचानो भरत ! योगी वेश से नहीं, विभा से पहचाना जाता है !

‘‘‘और मुनो भरत, लम्बी अनुभव-यात्रा के चक्रपथों को पार करती हुई, हर आत्मा एक कुंवार। जंगन धीर कर, अपने विकास का पथ प्रशस्त करती है । भूमित का मार्ग कोई राज-ग्रन्थ नहीं : वह सब का अपना-अपना होता है । मरीचि को अभी कहि अंधियारे भवारण्य पार करने हैं . . . ।’‘‘मरीचि की अगली भव-यात्रा सुनना चाहता हूँ, भगवन् ! . . . । और तीर्थंकर की दिव्य-ध्वनि में तब वह चक्रवर्तन धोयित हुआ ।

भरत पुत्र का योगेश्वर्यं सुनकर प्रसन्न हुए । फिर मरीचिकुमार के समीप आकर नसिल हुए : ‘धन्य हो मरीचि । कलिकाल के भावी तीर्थंकर को प्रणाम करता हूँ । सुनो देवानुश्रिय, भगवान की दिव्यध्वनि में धोयित हुआ है : आगामी भवों में मरीचि पहले निष्ठ नामा प्रथम बासुदेव होगा, फिर प्रियमित्र नामा दूसरा चक्रवर्ती, फिर अवसर्पिणी काल का अन्तिम तीर्थंकर ! . . . । सो कलिकाल के भावी तीर्थंकर की बदना करने आया हूँ ! . . . ।

तन से कुमार, भन से बालक, अंतरंग से योगी मरीचि, सुनकर आलहादित और गविन हो उठा । . . . पितामह आदि तीर्थंकर, पिता आदि चक्रवर्ती, और मैं प्रथम बासुदेव, द्वितीय चक्रवर्ती—और फिर अन्तिम तीर्थंकर ! मैंसे महाप्रतापी सूर्यवंश का वंशधर मैं स्वयम्, केवल आज का हुंसेल मरीचि नहीं, वह सब हूँ, एक साथ : दस एक देह के रूपकोशों में, मैं एक बारगी ही कई शानाका-पुरुष हूँ । . . . प्राण-जन्मित प्रमत्त और अदम्य हो उठी । अपने भविष्य में आश्वस्त मरीचि ने, अपने को काल के उद्दाम प्रवाह में फेंक दिया । पर भीनर कोई था, जो अपने में अचल था, और केवल अपने को देख रहा था । . . . भरत-धोत्र के चूड़ान्त पर लड़े दिगम्बर आकाश-पुरुष को ।

‘‘‘ अन्तिम जण तक जागरिक ऐशवर्य में चिदुचिलास करते हुए राजद्वि
भरतेश्वर, अन्तर्भूते भाव में, बिना तपःक्लेश के ही केवली हो जये : अरिहंत ।
चीकन्मुक्त । किन्तु मरीचि का यात्रा-पथ बहुत कुटिल या । औतर निरन्तर परम-
हंस रह कर, उसे स्वर्गों, नरकों, पापाव तिर्यकों तक के भीतर से आत्मानुभव की
यात्रा करनी थी । नारकी और पशु की यातना और अन्धता तक से वह गुजरा ।
क्योंकि उसे पापाव-शक्ति प्रश्नान कलिकान का तीर्यकर होना था । पशुपतिनाम
होकर, मानवत्व को पशुत्व से उबार कर, देवत्व तक पहुँचाना था । ॥

‘‘‘ उस पार अशोकवन के कीड़ा-पर्वत पर, उसे सहस्रों देवांगनाओं के
बीच नगन विचरते देख रहा है । ‘‘‘ कैसा निष्ठत्व अनुभव कर रहा है । मेरे
अपनत्व की प्रतिमा । फिर भी कितनी असम्भव है मुझे ! आहे तो अपने ही क्षण
मर्ही ही गम्भीर है, जानी इत्तमाणियों की दीर्घ : अही है । ‘‘‘ पर अशक्य, बीच
में देश और काल के दुर्लभ समुद्र पके हुए हैं । क्योंकि अभी इस जण में मरीचि
भी है, केवल अच्युत स्वर्ग का इन्ह ही नहीं ।

‘‘‘ फिर ब्रह्म स्वर्ग, ईशान स्वर्ग, सौधर्य स्वर्ग के मकरन्द-सरोवरों में स्नान-
केनियाँ : तन्द्रालस कल्प-जलाओं की ऊंचों में आत्म-विस्मय ऐन्डिक सुखों की
मूर्छा । फिर जाने कब कोई गहरा आघात : जागृति : स्वधर्यबोध : माहेन्द्र स्वर्ग से
च्युत होकर, पृथ्वी पर जगत्-प्रसिद्ध भारद्वाज : विदण्ड से भुजोभित तेजोमय
भृष्णि । किन्तु अपुर्ण ज्ञान के अभिमान से फिर भटकन । ‘‘‘ एकेन्द्रिय स्थावर से
उस निकाय के जीव-जन्मों की असंख्यात योनियों तक में भ्रमण । ॥

‘‘‘ देख रहा है, जान रहा है यह सब : नानाविधि सुख-दुखों की अन्तहीन
संबंदन-परम्परा । ‘‘‘ मूर्छा और जागृति की इस शृंखला की कढ़ियों को जोड़
नहीं पाता है । मंडलाकार चक्रामित चल-चिन्तों की इस जीवन-सीला का एक
ही नायक, नाना देश-काल, नाना रूप, भाव, वेश में । प्राण का एक निर्देश
प्रवाह !

‘‘‘ मगध देश की राजगृही नगरी के राजा विश्वभूति का पुत्र विश्वनन्दी ।
पिता अचानक प्रदद्या ऐ निष्क्रमण कर जये । भाविक, भोसा, सौन्दर्यनुरागी
भृष्णव विश्वनन्दी, राज्य की ओर से उदासीन । ‘‘‘ अपने स्वप्न को पुण्य-
कर्त्त्वक उद्यान में रच कर, उसी में अपनी युदरानियों के साथ कीदृग्मीन रहता ।
जहाँ विश्वाखभूति राज्यासीन थे : उनके मूर्खे पुत्र विश्वनन्दी को विश्वनन्दी

के सुरम्य उद्घाटन से बेहद ईर्ष्या हुई। पिता ने लाकिले बेटे की अच्छा पूरी करने का वहपंक्त रखा। कुमार विश्वनन्दी को किसी युद्ध पर भेज दिया। युद्ध जीतकर लौटे विश्व ने पाया कि विश्वामी उसके उद्घाटन का स्वामी हो गया है। एक तीव्र आवात से उसका उद्घाटन-स्वप्न उड़ गया। नहीं... नहीं है उसके स्वप्न का उद्घाटन यही बाहर कहीं! वह उद्घाटन, जिसकी प्रभुता अखण्ड रह सके।... विरक्त होकर वह वाम-ममन कर दया। अपने आल्तर उद्घाटन की ओज में, वह मूर्ख-प्याग, तन, मन, बसन की सुध भूल दिगम्बर विचरने लगा। अति कृषकाम वह ताप्त एक द्वार मधुरा के राजमार्ग पर एक गाय की लपेट में आकर गिर गया।... मंथोगवशात् इस समय मधुरा में आया, प्रमत्त दुराचारी विश्वामीनन्दी, एक देव्या की छत से यह दृश्य देख अदृहास कर उठा: 'वाहरे तपस्वी, वाह तेरा आत्मबल, एक बेचारी गाय की टक्कर से शूलिसात् हो गया!' तपस्वी की संचित योगाग्नि भस्त्रक उठी। मन ही मन उसने संकल्प किया: 'अच्छा, किसी दिन मेरा तपोबल, तेरे इस दुर्दान्त अभिमान को चूर-चूर कर देगा। छिप-छिप कर फेंक देगा तुझे, धूलभरी हवाओं पर !'

अमोघ होता है योगी का संकल्प। वह अखण्ड पर लिख जाता है। जन्म और मृत्यु के कई अंतरों-उजालों को पार करते इस संकल्पी की उम्र कषाय ने, उसे लोक की श्रीस-मर्यादा तोड़कर जन्म दिया।... पीतनपुर के हुदाण्ड प्रतापी राजा प्रजापति ने अपनी ही पुत्री मुगावती पर आसक्त होकर उसे पट्ट-महिषी बना दिया। उसकी विषम कोङ्क से विश्वनन्दी त्रिपृष्ठ नामा प्रथम बासुदेव होकर जन्मा। तमालपत्र-सा श्वाम वर्ण, पीठ पर तीन अस्थि-बन्ध धारण किये, वह अपने बाहुबल से त्रिखण्ड पृथ्वी का अधीश्वर अर्ध-चक्री हुआ। समुद्र-पर्यन्त पृथ्वी पर उसका निसर्जन चक्र आसन करता था। विजयार्थी की दक्षिण श्रेणी के विद्याप्त राजा ज्वलनजटि की देवांगना-सी रूपसी कन्या स्वयंप्रभा, स्वयम्भरिता होकर उसकी राजेश्वरी हुई।

अपने कमी के अनेक दुष्करों को पार करता, विश्वामीनन्दी विजयार्थी की उत्तर श्रेणी में विद्याधरराज अश्वदीव होकर जन्मा। स्वयंप्रभा पर वह चिरदिन से आसक्त था। किन्तु त्रिपृष्ठ बासुदेव ने उसे जीत लिया है: मुनकर, प्रतिवासुदेव अश्वदीव कोध से अन्हिमान हो उठा। चतुरंग सीन्य लेकर अश्वी की तरह, वह रथावर्ती पक्षत पार कर, मगध पर चढ़ गया। त्रिखण्ड पृथ्वी में दुर्जय त्रिपृष्ठ कुमार, अकेला, केवल अपना चक्र लेकर सन्मुख आ उठा। अश्वदीव के सीन्य उस मृतिमान प्रभंजन को देख स्तंभित हो रहे। ललकार कर त्रिपृष्ठ ने अश्व-

शीष को द्वंद्युद के लिए आवाहन दिया। निश्चल खड़े रहकर कहा : 'आत्मण करो मुझ पर, अवधीव !' : जिःशस्त्र भुजा उठाकर उसने चुनौती दी। अवधीव ने हूँकार कर चक चलाया, चक त्रिपृष्ठ की प्रदक्षिणा देकर उसकी भुजा पर आ चैढ़ा। छेल-खेल में, त्रिपृष्ठ से उसे हवा में उछाल दिया; चक सशात् हुआ अवधीव की गर्दन के पार हो गया। त्रिपृष्ठ गूँबं बैर के प्रतिशोष से तुष्ट होकर, गूँबं-गूँबंक अदृहास कर लहा : "मात्र मैंने चक में तुझे शूलिमात् कर दिया, तेरा चिरदिन का उद्धत अभिमान मिट्टी में मिल गया!"

बैरी का अभिमान चूर-चूर हो गया; पर विजेता का अभिमान हरसंभव नियति को चुनौती देने लगा। तीन छण्ड पृथ्वी कम पढ़ गयी; त्रिलोक और त्रिकाल को अपनी चरण-धूलि बनाने को वह प्रमत्त हो उठा। ग्राण का यह उद्दण्ड आवेग, सारी संयम-मर्यादाएँ तोड़कर, पृथ्वी के हर पदार्थ को अपनी विषयानि में आहुत करता चला गया। लोक और काल के छोरों पर पछाड़े खाकर भी उसे चैन न मिला। हर लक्ष्य से टकराकर वह गुणानुगृणित होता गया। जब कहीं भी उसे भी चाहा प्रतिरोध न मिला, तो अपने चरम वेग से उन्मत्त होकर, वह लोक के अतलान्त में, सातवें पृथ्वी पर आ पहा। महात्मा-प्रभा पृथ्वी : सातवीं नरक।

अनोदषि-वातवलय पर आश्रित इस पृथ्वी पर, अनधीर प्रलय-जमङ्ग सा घोष करता हुआ अपरम्पार तमिशा का समन्दर तटहीन अन्तरिक्ष में घृणाता रहता है। इसकी हर अन्ध सहर में कोटि-कोटि नरक हैं। हर नरक में जावा की उबलती नदियों पर, असिधार पत्तों वाले वृक्षों की बेशुभार विशिष्य है। इस नीरन्ध अच्यकार राज्य की भी अपनी एक प्रभा है। कृष्ण-प्रभा। क्या तमस की यह प्रगाढ़ता, चरम संशास की यह चुटन, अपनी ही अनिर्करिता के प्रवेश से, अपने पटलों को न भेद जायेगी? अन्धता ऐसी कि, उसे प्रभा होने के सिवाय चारा नहीं है। कासुदेव की प्राणोर्जा इस महात्मसु-राज्य को भेदे दिन कैसे चैन ले सकती है? पाप इससे आगे नहीं जा सकता; तो वह अपनी पराकाढ़ा पर प्रसर होकर रहेगा। यातना इससे आगे नहीं जा सकती; तो अपने परान्त पर वह थति होकर रहेगी। और प्राप्त अन्तः तितिष्य के सिवा और क्या हो सकता है? और तितिष्य तुरीया के नीलान्त को भेदेगी ही। सातवें नरक जो आया है, वह एक दिन ऊर्ध्वान्त में सिद्धारु होगा ही। . . .

... पाप का समर्थन नहीं है, यह : मात्र उसकी प्रस्तुता है। उसका बोध आज जितना स्पष्ट और अविकल्प पहले कभी नहीं हुआ। वैतरणी की तिमिर-

गर्भ अनियंत्रित पर, तीसरी सारांश पर्वत (करोड़ों वर्ष) छटपटाते चिप्पूच्छ बांसुदेव के नाड़ी-नेत्र में से बोल रहा है। वही होकर भी, अन्य है—अभी और यहाँ में : इसी से बोध सम्भव हो सका है। दुख की यह समग्र अनुभूति, कहने में नहीं आती। कहते-कहते, एक विचित्र मस्ति कान्सा अनुभव करती है। . . . पाप के इस चूड़ान्त पर, जाने किस अआत दूरी में, यह कैसी जाभारी छिटक जाती है ! कृष्ण-प्रभा . . . । महातमःप्रभा, अन्तिम पृच्छा । इससे नीचे अवरोहण सम्भव नहीं। आरोहण . . . अनिर्वार आरोहण . . . ऊपर . . . ऊपर . . . और ऊपर, पतन नहीं, उत्थान । पतन की सीमा है, पर उत्थान तो अनन्त में ही होता है। वही मेरा स्वभाव है : पतन नहीं, यह नरक नहीं—दुख नहीं। दुख की अवधि है। पर यथायं सुख निरवधि है। . . . शिलोच्च श्रौत विकाल के राजवाज्रायर के एस्पर्श से यह अतल का नरक-राज्य अस्पर्शित करने रह सकता था। इसमें दूषकर ही इसे तीरने का परम लक्षणोपाय यायद जगत को सिखाया है, नगदीश्वरों ने। . . . बांसुदेव कृष्ण के रक्तदान से कभी इस महातमस् में नीली प्रभा जलमला उठी होगी ! . . .

. . . जाने कब इस तपस में से महसा एक खिड़की खुली। . . . जन्मद्वीप, भरत ज्ञेत्र ! मंगा तट के समीकर्त्ती कान्तार में भिहगिरि पर्वत । उसका साम्राट केसरी सिंह . . . मैं। मेरी दहाड़ से दिग्नल कौपते हैं . . . । नरकों की शुद्ध तात्त्विक हिसा से मेरी डाढ़े अभी भी चक्कर रही हैं। बड़ी सोर एक कृष्णसार मृग को फंजे ते विदार कर, कलेक्ट कर रहा है। मेरी डाढ़ों से झरते निर्दोष रक्त में कैसी मुद्द और मधुर गंध है। . . . मैं सिहर कर उस मृत मृग की जड़ीभूत अस्थियों को देखता रह गया। भयभीत, निरोह, बवाश, समपित। कातर होकर, मैंने दिशाओं में लाका। पास ही के उस कूट पर आकाश में से दो तरन, सज्जबल कुमार उतर आये। प्रबोधन का हाथ उठाकर बोले : 'वनराज, अपने बाधित बीड़ों का भक्षण तुम्हारे बोग्य नहीं। रक्षक होकर भक्षक हो गये ? अपने को पहचानो। सत्य है इस क्षण का तुम्हारा यह अनुकरण ! . . . जाग रहे हो, हम तुम्हें तुम्हारी महिमा का स्मरण कराने आये हैं। . . . हजारों बार ऐसे कितने ही प्राणों की बेबसी को भोजन बनाया तुमने ? क्या तृप्त हो सके ? और यदि तुम्हें ही यह मृग, यह वृक्ष, यह पर्वत कभी इसी तरह अपना भोजन बनाये तो . . . ?' . . . मेरे तलातल कौप उठे, आय उठे। . . . मैंने देखा अपने ही भीतर, मैं स्वयं अपने को खा रहा हूँ : अपनी डाढ़ों से अपना ही हृदय विदार रखा हूँ। यह बेबना अन्तिम थी। . . . अपने को

दीर्घती, अपने ही में से निष्कान्त होने को छदपदा रही थी । ॥१॥ कुट पर से वे युगल मुनि कुमार फिर बोल उठे : 'बनगाज, शिलोक के भावी मजाट हो तुम । जानो, और देखो । सकल चराचर, सुम्हारे उन्मुक्त, अकारण प्रेम की प्रतीक्षा में है । ॥२॥ तीर्थंकर वद्धमान' ॥३॥'

॥४॥ मैं चित्र-शिखित सा रह गया । यारा कान्तर मेरे भीतर संचरित हो गया । शांत और निष्पन्द, सब को समावेसा चिचरदा हैं । इस नन्मूमि में ऐसा कभी नहीं हुआ पहले । ॥५॥ मृग और शाशक भरी छानों में सुख को नींद संति है । पंखी भरी अयान में नीड़ बनाकर रहते हैं । मयूर मेरे माथे पर कलशी बनकर नाचता है । चिरकाल की भृत्य शरण ही गई है । ॥६॥ इन सब को देखता हूँ, कण-कण मेरी धौड़ों में बुलता चला जाता है । कौमी विचित्र मनुष्मि है यह ॥७॥ बिन खाये ही सारा बन मेरा आहार बना हुआ है ॥८॥

॥९॥ देख रहा हूँ, अब आगे की ओर उज्जियाली है । सुगन्धित भी । वसन्त के मंजरी छावे पर पर जैसे यात्रा हो रही है । ॥१०॥ पुष्कलावती देश, पुण्डरीकिणी नगरी । राजा सुमित्र और रानी मनोरमा का पुत्र मैं, श्रियमित्र । आपोआप ही जन्मे मेरे कोपाशार में बौद्ध रत्न, सारी संभव कृद्धि-मिद्दि, सुख-सुषमा के खोत । सप्तमग्रा गृद्धी के षट्क्षण भेरे चरणों पर नमित हैं : छिपानवे हजार शनियों का रमण मैं-एकाम्ब, अकला पुरुष । श्रियमित्र चक्रवर्ती । खण्ड-प्रपाता गुफा के बच्च कपाट छोलकर, मेरा पराक्रम-रत्न उसका भेदन करता चला जा रहा है । उस पार अखण्ड-प्रपाता गुहा के द्वार पर, गंगा के समुज्ज्वल तट देश में सिद्धियाँ, और निधियाँ भरी प्रतीक्षा में खड़ी थीं । चौदह महा रत्नों का स्वामी, नव निधियों का ईश्वर मैं । श्रियमित्र चक्रवर्ती ! तम-मन की हर कामना पूरित । इतनी कि एक जड़त्व से चिर गया । एक उपरामत्ता । एकरस, धृष्ट भोग । कोई नाचित्य नहीं, गति नहीं, विकास नहीं, प्रवाश नहीं । मणिदीर्घों की छहरी हुई प्रभा । एक दुहराव के अतिरिक्त और कुछ नहीं ॥११॥

॥१२॥ तभी सम्बुद्ध अहेतु क्षेमकर के समष्टारण में सुना : 'तत्व कट्टस्य नहीं, परिणामी है । उसे यथार्थ जानना, नित-नवीन में जीता है । नित नये फ्लोधानों में रसपान । पुणाना, जड़ वह है जो पर्याय से चिपडा है । पुरुष और पर्याय दोनों अतिक्षण नये हैं । उन्हें जानो, और सदा यीवन, सदा वसन्त भोगो, जियो !'

॥१३॥ एक नयी अखं छूल गई । महल से निष्कान्त होकर, मन्दरचारी हो गया । हृषाओं में महकते मलयवन : उस गन्ध में सूक्ष्म और स्थूल की अनुभूति समरस थी । बिना किसी बन्धन के सभी कुछ तो भोग रहा था ।

‘‘शरीर बहुत वाय हो गया। ईहा और कथाय मूझे कस तहीं पासे दे।’’
वो मेरी वह देह विसजित होकर, सहजार स्वर्ग के अपरूप कमनीय देव के रूप
में जन्मी। ‘‘दिव्यांग कल्प-बृक्षों तले आलोट्से, हर इच्छा सहज तृप्त होती।
इस स्विग्रहता में एक विचित्र भूत्युभी अनुभव होती। सहस्रों कल्पों की आयु
असह सरी।

‘‘उत्तीर्ण या भीतर। नियत मूरुते में जन्मान्तर से गुजरा। जम्बूदीप
की जम्बू-श्याम कमैली छारती ने फिर खींचा। छाता नगरी का नंदन राजा, मैं।
राजीवद्यं सहज ही भोगते बनता है। शोगू, ऐसी कोई संवासना मन में नहीं है।
अपना या बिशाना, जैसा कुछ लगता नहीं। जो है ठीक है, अपनी जगह पर है। मैं
अपनी जगह पर हूँ। अपने आप से ही तुष्ट हूँ। कण-कण अपना ही लगता है।
सकल चराचर को सहज देखता है, जानता हूँ, यथार्थ स्वरूप मैं पहचानता हूँ।
सब का अवबोधन अव्यावाय है, शुद्ध है। जैसे अपने और सर्व के विशुद्ध दर्शन
में जीता चल रहा है। निराकेग, सरल, अजुगति से बहती कोई नदी हूँ। कहीं
जाना है, ५६। करना है, इसकी कोई सहजता नहीं, सकल मैं नहीं। सो विकल्प
भी नहीं। नहीं जो तटवर्ती कण-कण की चलभा है, माँ है। सर्वोदय और
सर्वकल्याण के अखिलित और कोई काम्य अब शेष नहीं।’’

‘‘एक दिन बन-विहार में देखा, प्रकृति के केन्द्र में एक प्रकृत पुरुष निश्चल
खड़ा है। जातरूप नम। उस पुरुष के आभावलय में सारी प्रकृति अनावरित होती-
मी लग रही है। कण-कण पारदर्शी हो उठा है।’’ रहस्य खुलते ही अले जा रहे
हैं। जानने और देखने का अन्त नहीं। ‘‘उस पुरुष को देखकर मेरे शरीर
के अस्त्राभरण पीछे उत्तर गये, आपोआप, जैसे अतुकाम पाकर सर्प की कंचुकी
अनजाने ही उत्तर गई है।’’ और मैं भीतर की राह अनन्त में अतियाप्रित हो
चला। ‘‘उस भीतरी यात्रा में कहीं एक पथ का इह आया। उषा का सरोकर
या वह जैसे। अनुराग के इस मूर्ख गुलाबी जल में अपने को ढूबता, तैरता पाया।’’
और जाने कब आत्म-विस्मृत हो गया।’’

‘‘देख रहा हूँ : एक सुनील जलकान्त स्फटिक कक्ष में, एक अपूर्व सुरभित
शीया में से अंगड़ाई भर कर जाग उठा हूँ। विचित्र है नीलाभ नीहार का यह महीन
कथ, जो जारों और से अन्दर है। उठते ही संचेतना-सी हुई, यह स्वर्ग का उपपाद
कथ है। इसकी महार्घ शीया में से मैं देव के रूप में जन्मा हूँ।’’ अच्छूत स्वर्ण
का इन्द्र-मैं-अच्छुमेन्द्र। और मेरे गले में ठीक मेरे शरीरों के ही इन्द्र और वर्ण

की एक दिव्य सुन्दर माला भूल रही है। सहजात माला। उसकी सुवाच्छ, मानो अपनी ही अन्तर्मंड सुगम्य है। . . . लगा, यही मेरा प्राण है।

. . . एक गहन रागन-धोष के साथ कठ में एक छार खुला, जो पहले कभी नहीं खुला था। रूप-लावण्य की तरणों-से हजारों देव-देवांगनाओं ने 'जय नन्द, जय नन्द!' पुकारते हुए आकर मुझे घेर लिया। . . . फिर मुझे ले जाकर, अच्युता नाम की इन्द्र-सभा में, पीताम्बर रत्न के एक गङ्गाकार निहासन पर मेरा अधिष्ठेक किया गया।

. . . तब से आज बाईस साल बीत गये हैं, इस अच्युत स्वर्ग के ऐश्वर्य में विसास करते हुए। अवकाश, विस्तार, काल यहाँ मानो मणना से परे स्वायत्त हो गये हैं। असंख्य योजनों में फैला है मेरा यह पुष्पोलर विमान। हजारों देव-देवांगनाएँ प्रतिपल मेरी सेवा में उपस्थित हैं। नीलराग, पद्मराग, पीतराग इनों के अकृत्रिम द्रहों में, वे जीवन्त रत्न ही विचित्र सुरभित जल बन गये हैं। उनमें अपनी भहिष्यियों और बहसभाओं के साथ नित्य स्नान-केलि। ये इतनी सारी प्रियाएँ, जो मेरी इहा से ही उत्पन्न काम-कन्याएँ हैं। लक्षात्तिथि व्यों से इनके भीतर रमण किया है, पर ये सदा कुँवारी हैं। अविकृत है इनका रूप, लावण्य, सौन्दर्य। मानो जय ही नहीं होता, चुकता क्षी नहीं। . . .

पदार्थ और उसका भोग यहाँ सूखमतम हो गया है। औतिक पुद्गल इव्य का इससे शूक्रम रूप संसब नहीं। धातु-मुक्त है मेरा यह दिव्य शरीर। इसमें रक्त, मांस, मज्जा, अस्थि, स्नायुजाल, कुछ भी नहीं है। विशुद्ध, तरल, सुनम्य पुद्गल इव्य से यह निर्मित है। फैसा अव्याकाश लोक है, लभीलापन है, मेरी इस सत्त्वंगी कायां में। स्वास्थीन विकिया शक्ति से यह संपन्न है। इस एक शरीर की अनश्विनत बना सकता है। मूल शरीर यही रहता है; और जब चाहूँ, मनचाहा इच्छा-शरीर ब्राह्मण कर चाहे जहाँ जा सकता है, चाहे जो हो सकता है। यही रहते हुए भी, स्वयम्भु-रमण समुद्र के तटबर्ती लवंगलसा-घन में, अपनी इहा मात्र से अपनी मनचाही भहिष्यी और बलभाका के मात्र कीड़ा-केलि कर सकता है। कभी मानु-षोसर पर्वत के शिखर पर, कभी हिमवान के निश्चर-सटीं पर, तभी विजयार्थी की रसन-बुफाओं में, कभी तीर्थकर के समवशारण में, कभी नरकों की धातनाकान्त पृथिव्यों में।

इतनी शक्ति है मुझमें कि जन्मूढ़ीप को, अपनी हथेलियों में मनचाहा उलट-पलट सकता है: वहाँ के जीव मात्र का पौषण या विनाश कर सकता है। . . . एवास

तक की बाधा यहीं अति अस्पृश्य हो गई है। बाईस पक्का में एक बार प्रवास लेता है। तन भी शुक्रल है, मन भी शुक्रल है। कुधा की व्याधि नाभमात्र रह गई है। बाईस हजार वर्ष में एक बार, इच्छा होते ही, मन में अमृत झरने लगता है। सहज तुप्त हो जाता है।

जाने कितनी महिषियों हैं भेरी। उन सुदूर तट-वेदियों के हेम प्रासादों में वे स्वच्छन्द आगाद-प्रमोद करती हैं। उनके प्रासादों से भी ऊँचे हैं, भेरी बल्लभाओं के प्रापाद-गिरि। एक अनोखा विद्युत सुख है, स्वाद है उनके अनुराग और सौन्दर्य का : जो महिषियों से आगे का है। एक स्वच्छन्द आत्म-सम्बेदन। और फिर दुर्दीपि विशासिनी कितनी ही गणिकाएँ, अप्सराएँ। एक विलक्षण उन्मादक आनन्द है, उनकी रसि में। ये सब मेरे सहज अधीन हैं। इनके पास मुझे जाना नहीं होता। चिन में काम की तरंग उठते ही, इनमें से किसी के भी साथ, आत्म-रमण का-सा सुख पा लेता है। एक स्वाधीन रमस, स्पर्श का तरंगिम सुख। किसी सघन द्रव्य-भौसर्ग के बिना ही, विशुद्ध और सूक्ष्मतम्, यह परम-सुख है। एक तात्त्विक स्पर्श।

आत्मा का भाव, दर्शन और ज्ञान इतना उज्ज्वल और शुद्ध है कि, अन्तर में
अधिक वरंग उठते ही, ज्योतिर्संय अहंत और ज्ञानाकार मिथ के दर्शन हो जाते हैं । । । ।
देह, प्राण, मन, इन्द्रियों का सूक्ष्मतम अनुबन्ध है मेरा यह श्रिय अस्तित्व । इन्द्रियों
मात्र विषुद्ध पञ्च तन्मात्राएँ हैं । प्रकृत और तात्त्विक है मेरी रूप, रस, गंध, वर्ण,
ध्वनि की चेतना । हनकी अनुभूतियाँ मेरी अन्तश्चेतना की धारा में कहीं वापक
नहीं । निर्बाध सुख की इस नियमनता में बाईस साल जाने कब बीत गये,
पता ही न चला । काल और अवकाश भी जैसे इस सुखलीभता में अन्तर्मुख होकर
रहे हैं ।

जाने क्यों, कैसे मुख-भोग की यह समाधि, आज एकाएक भेंग हो गई है ! निमग्नता दृष्टी है : उन्मग्न हो उठा है। एक उन्मनी चेतना के तट पर आ बैठा हैं। भोग्य से उद्भिष्ठ होकर, भोक्ता भोग की इस पराकाण्ठा को, उसके सीमान्तरों पर विलय पाते देख रहा है। मेरी यह गङ्गुजात माना, अनायास बाहृत और कम्पिक हो उठी है। मानो कुछ व्यतीत हो गया है, अतीत हो गया है। मध्यम की रस्तरंगिम मायापूरी लक्ष्मी-भी लग रही है।

मृदुलता, सौरभ, संगीत का यह स्लिंग्ड्र व्रवाह, एकाएक किसी अदृश्य चट्टान से टकरा कर चर-चर हो गया है। विनाश के तट पर आ ज़हा हुआ है, मर्यादी

अभेद अन्तर्कार गुहा सामने खुल रही है। देख रहा हूँ, सहजों देव-देवांगना पंकिल-
दद्ध चारों ओर घिर आये हैं। एक नानारंगी रत्न-स्तूप की तरह यहाँ का समस्त
वैभव सामने भा खड़ा हुआ है। वह कातर है, प्रार्थी है, विरहाकुल है। ... मैं
महिधियर्थी, बल्लभार्थी, अस्सरियर्थी। एकाग्र सब मुझे देख रही है। नीलोलला, हेमा-
गिनी, हिरण्यानी ... उदास क्षयों होती हो ! अपनी ओर देखो। जो यही है, वही
वही है। भोग की विवोग-राति। शीत छुकी। सोमा घिरह की होती है : मिलन
की नहीं ! ...

साक्षात्कार हुआ है कि, मृत्यु अभी विजित नहीं हुई है। भोग की इस सुखमा,
स्त्रिय, भूम्बादी धारा के भीतर भी वह अन्तर-व्याप्ति है। मृत्यु की डरा चुतौती के
सम्मुच्च जरा भी मन उद्धिग्न नहीं है। अचंचल मित्त से इसे देख रहा है। इसकी
सीधा को जानता हैं। मैं इसमें से गुजरें, या यह मुझमें से गुजरे, कोई अन्तर नहीं
पढ़ेगा।

कोई उदासी नहीं, विपाद नहीं। भय नहीं, किरह-वैद्यना भी नहीं। बस उच्च-
दित है, उच्छ्वास है, गमनोध्यत है। अपार ऐश्वर्यों से भरा यह स्वर्ग मुझमें अन्तर्धान
हो रहा है। मैं हूँ, हर भाषा से परे, एकमेव मैं हूँ। मैं सदा रहौगा। यह
निश्चित है।

पर केवल होने के अतिरिक्त, क्या मेरी और कोई सार्थकता नहीं है? कपूर
की तरह बेमालूम उड़ रही इस कामा के चहों ओर यह कैयी विराट् महिमा की
ज्योति लुकिल हो रही है।

एकाएक प्रकाण्ड तटित-घोष से जैसे सोलहों स्वर्ग थर्चा उठे। समस्त
ऐश्वर्यों की दीपिति धायल हो उठी। धर्म-विधात्। ... स्वर्ग के पिण्डों में यह
मर्त्य रक्त की धारा कैसी? आश्चर्य। कही परम सत्य को मर्यादा भंग हुई है। ...

मेरे गुरुङासन में विजलियर्थी लड़तड़ा रही हैं। सर्वनाश का यह कैसा हिलोसन
है : मेरे चारों ओर। अगोचर में कही दूरतिकूर असंख्य चीत्कारे युन रहा है।
मृत्यु स्वीकार्य है, पर यह फन्दन असह्य है। हजारों अर्थ बाद, मेरा प्राण एक गहन
मानवीय अनुकम्पा से आते हो जठा है। ... पुरुरवा भीत का आदिम प्राण ...

अन्तरिक्ष के अन्तर्गत भू लपलपाती। एक उद्धाम ऋग्वि की ज्वालाएँ। समवेत,
मंत्रोच्चारों के साथ उसांग आहूत होते अथव, वृपम, मी, मनुष्य ...। सकल
चराचर के भयभीत, त्रस्त प्राणों की बहारण्डव्यापी चीत्कारे। जो मुझे पुकार
रही हैं, केवल मूझे। मैं कौन हूँ? ... मैं बौन हूँ?

मैं ही अपनी अग्नि हूँ ... मैं ही अपनी आद्यति। मैं आ रहा हूँ ...। मैं आ
रहा हूँ ... मैं आ रहा हूँ ...।



यज्ञ-पुरुष का अवरोहण

मैं कहाँ चली गयी थी ? बाहु मुहर्से में उठ कर इस शिलातल पर आ चौंठी थी । तभी से जाने कहाँ खो गयी थी । और अब पूर्व में रामा फूट रही है । ऐसा लग रहा है, इस एक प्रहर में जनसान्तर की एक दीर्घ रात्रि में भटक कर सौंठी है । नये सिरे से अपते इस पिण्ड और परिवेश को पहचान रही हैं । . . . हाँ, मैं ही तो हूँ, जालन्धर गोत्रीया देवानन्दा ब्राह्मणी । और मेरे पति हैं, कीडाम गोत्रीय ब्राह्मण ऋषभदत । . . . यह वसतिका है, ब्राह्मण-कुण्डपुर । लोक में यह ब्रह्मपुरी के नाम से ही अधिक विख्यात है । मेरे पति ऋषभ इसके स्वामी हैं । और मैं हूँ इसकी स्वामिनी ।

. . . सामने दूर पर वह रही है हिरण्यवती नदी । उस पार दूर तक फैला है बहुसालं वैत्य का विशाल उद्यान । उसके पूर्वी छोर पर है, ऋषिय कुण्डपुर । उसके पश्चन-पिछरों की पताकाएँ आज किसका आवाहन कर रही हैं ?

यह विदेहों की वैशाली है । विदेशी यात्री दन्त-कणार्भों की तरह, देश-देशान्तरों में इसके वैभव का गान करते हैं । यहीं विदेहराज अनक ने देह में रह कर ही, राज सोगों को भोगते हुए, देहातीत के मुक्त ऐश्वर्य को पृथ्वी पर प्रकट किया था । यहीं याजकलक्ष्य ने वेद-पुरुष को साक्षात् किया था । इस हिरण्यवती के जल सौता, मैत्रेयी और गार्गी के स्नान-जल से प्रभावित है । याजकलक्ष्य और मैत्रेयी : उक्षा और पूषन् का दिव्य युगल ! सविता और गायत्री ने यहीं भधुच्छन्दा की नयी स्वरमाला रखी है ।

. . . हाँ, यह लिङ्गविद्यों की वैशाली है । पूर्वीय ज्ञायवित्त के इस जनपद में, ब्राह्म-पत्व नये सिरे से परिभाषित हुआ है । जो ब्रह्म को जाने, वही ब्राह्मण । 'ईशावास्य-मिदं सर्वम्' : सर्व के भीतर वही एक धरमह्य इश व्याप्त है । इसी से यहीं अहिंसा का महामन्त्र उच्चरित हुआ : 'मा हिस्य ।' इस पूर्वीचल में वेद-पुरुष की नूतन परम्परा प्रकाशमान हुई है । विश्वामित्र, देवायि, जनमेजय, आखपति कंकेय, प्रवहण जैवलि,

ब्राह्म-शत्रु कारोप, जनक विदेह और महाश्रमण पार्वतीय के रूप में यही प्रजापति ने नया अवधार लिया है। इनकी क्षेत्रस्थला मन्त्र-वाणी में ब्राह्मण-संस्कृति यही अमर्य-संस्कृति में उत्कौटा हुई है। सत्, चक्र और तपस् ने यही अपने मर्म को प्रकाशित किया है। सकल चराचर के कण-कण में जो परब्रह्म व्याप्त है, वही सत् है। सर्व के परति आप्तवाचाव, अणु-अणु में अपने को देखना, वही चक्र है। यही परम नियम है। उसके अनुसार सर्वत्र अप्रमत भाव से विचरना, सत्ता भाव के प्रति अहिंसक चाचरण : 'आत्मनः प्रतिकूलानी परेणां न समाचरेत्' : यही तपस् है।

‘‘स्मद्य गतीति हो रही है, मोक्ष द्वारा परमत्वोक्त के दीक्षिक सुख-भोगों की प्राप्ति के लिए यज्ञ नहीं है। वह अद्वित्व है। निरन्तर श्वर के तपस् द्वारा, देह को आन्त कर, परमतम में विचान्त हो जाना है। वही एकमात्र अविनाशी सुख है। श्वर के संघर्ष से ही सोम प्रकट होकर, प्राण को अमृत से आप्लाशित कर देते हैं।’’ इसी से कहती है, ब्रात्माहृति का यज्ञ करो : उसी से अविनश्वर श्री और सविता प्राप्त होते हैं। ‘‘नामा आनन्दस्य श्रीरस्ति। पापो नुषदवरो जनः। इन्द्र इच्छरतः सखा। चरेवेति चरेवेति।’’ निरन्तर चलते रहो, चलते रहो : जो चलता रहता है, उसके पाप क्षीण होकर श्वर जाते हैं, उसे श्री प्राप्त होती है, और सर्व ऐश्वर्यों के प्रब्रह्मतर् अधिष्ठाता इन्द्र से मिशता प्राप्त होती है। ‘‘सूर्यस्य परम्य वेमाणं, यो न तन्द्रयते चरण्’ : अरे सूर्य की अम-लक्ष्मी को देखो, तन्द्राहीन भाव से वह निरन्तर चलता रहता है। ‘‘इस तरह ऐहिक और पारलौकिक सुखों की लिप्सा से जड़ीभूत हो गये ब्राह्मणत्व को, इस पूर्वोत्तर में, श्वर के तपस् द्वारा, निरन्तर गति-अगति का नया उद्घोषन प्राप्त हुआ है। देवाधिदेव अग्नि ने साकाश् अवतारित होकर, यही मिशावरण का भाव प्रकट किया है, और यावत् प्राणि-मात्र को अमर्य का आप्तवासन दिया है। महाश्रमण पार्वत ने कहा था : ‘‘मित्री मे सञ्च मृतेषु’’ : ‘‘मैं सर्व भूतों का मित्र हूँ।’’

‘‘पर कल संध्या में मामा अवदत्त कुरु-पांचाल से लौटे हैं। उनसे जो बूढ़ा लुना है, उससे सारी रुत सो नहीं सकी है। कुरु-पांचाल में सर्वमेष्ट यज्ञ चल रहा है। एकवारणी ही सौ-सौ वर्षों, गौओं, वृशभों, भेद-बकरियों की आहुति दी जाती है और फिर एक बाराणी ही कई सर्वांग सुन्दर मानवों को होमा जाता है। चौत्तरते पशुओं और मानवों के आक्रमण से अन्तरिक्ष विदीण ही रहे हैं, भूगर्भ कौप रहे हैं। जिस जण से सुना है, मेरे गर्भ में विजलियों कसमस्ता रही है। शरीर में रहना कठिन हो गया है। हजारों प्राणियों की वे ‘‘ब्राह्ममाम्’ पुकारे, मेरे भीतर नाड़ियों बन कर व्याप गयों हैं।’’ उनसे मिश अपने प्राणों को सुरक्षित रखने की कोई जगह, अव-काश में नहीं पा रही है।

‘‘हमारे जिन आर्य पूर्वजों ने उन्होंका गान किया था, वे मंत्रदध्या थे। उग्रनस् थे, कवि थे। अन्तस् की समग्र संवेदना से उन्होंने सत्ता का मालबोध पाया था। प्रकृति की नाना रूपात्मक सौता में, उन्होंने उसी एक दिव्य हिरण्यगर्भ पुरुष का दर्शन किया था। इसी से कण-कण, तृण-तृण के स्पन्दन और कम्पन के साथ वे एक-प्राण हुए थे। सर्व के भीतर वे प्रनिपल जिये थे। फलतः ‘रूपं रूपं प्रतिस्थपो नभूव’ और ‘एकम् वा इदं विवभूत सर्वम्’ का मंत्रोच्चार उन्होंने किया था। इन्द्र थे इस सृष्टि के प्रशाता, प्रचेतस्, और अग्नि थे इसके केन्द्रीय चिदपुरुष। असत्ता की अनधिकार राक्षि में से प्रकट होकर अज्ञान के थस्य और पण्, रह-रह कर सूर्य-सवितुर् की सृष्टि को आकाश करते रहते थे। इस कारण, उस एकमेव में भूम्खलित सृष्टि का मुख्य संवाद थंग हो जाता था। सब अहतम्भरा प्रजा से आलीकित ऋग्वेद के ऋषि, अपनी अन्तस्थ चिदग्नि को प्रज्ज्वलित कर, प्रचेता इन्द्र का आवाहन करते हुए, सर्वमेघ यज्ञ किया करते थे। ‘मेष्ठ’ का अर्थ है ‘संगमन’—एकत्रित करना। तमस्-युत दम्युओं द्वारा छिन्न-भिन्न सृष्टि को पुनः एकत्रित करने को ही इन यज्ञों का कार्योजन होता था। उनमें वे अपने ही भीतर घुस बैठे अज्ञान के पशुओं की आहुति देते थे। पौच यज्ञीय पशुओं के रूप में असंख्य पशु-सृष्टि का श्रहण होता था। गुरुष, अश्व, गो, अवि और अज के इन पौच पशु-रूपों ने उग्रता एवं वृक्ष का वारंवा समाधा कर। आविं आयों के रावर्मेष्य में इन पौच प्राणियों की नहीं, इनके पौच तमसाकार आकाशक पशु-तत्वों की आहुति दी जाती थी। उत्तर आर्य अपनी ऐदिक वायनाओं के वशीभृत होकर, इन पशुजयी यज्ञों के बहाने पशु-वृक्ष नदा कर, स्वयम् ही पशुत्व के ग्रास होते चले गये। लेकिन यथार्थ में परा-पूर्वकाल में, सर्व को एकत्र करने के लिए ही, सर्वमेघ यज्ञ में, सर्व पशुत्व का आहुति दी जाता था।

‘‘पर, हाय रे हाय, धर्मसन और प्रजापति के शूक्र-धर्म का यह कैसा अनर्थक ग्लानि हुई है। उन्होंका अपलाप हुआ है। कृष्ण का तीमरान्ध सैन्य इकर लंक पर छा गया है। क्या प्रजाता इन्द्र प्रशात्रित हो गय है? सप्त-सिन्धु का मातृगर्भा शादियाँ और आँचल प्राणि-शिशुओं के वध और दहन से आकर्ष कर रहे हैं। पराव्याक् को वाक्मान करने वालों सरस्वतों के पथोद्धर पहनी अपने ही वालकों के रक्त में पंकिल हो गये हैं!

‘‘ओ मौ अदिति, तुम कहो हो! तुम्हारे देवोशी पुत्रों पर फिर दिति के अमुराणी युद्धों ने अधिकार कर लिया है। मैं ब्राह्मणी हूँ: तुम्हारे ब्रह्मतेज की बेटी हूँ। नारी होकर, धरित्री और जनेशी हूँ, सो अपनी ही संतानों का यह निरन्तर वध मृझे असह्य हो गया है। मेरे गर्भ में जैसे ब्रह्माण्ड छटपटा रहा है।

‘‘देख रही हैं, हिरण्यवती के जलों में उषा आज नहाने को नहीं उतरी है। एक कासी बदली से किंचित् झौक कर, वह लौटी चली जा रही है। दिवो दुहिता ने आज नहीं छोड़ी है अपनी नयी किरणों की गौरी, इस तटाञ्चल में। वह अपने आगे-आगे अपनी धनुओं के यूथ को लौटा लिये जा रही है। हिरण्या के कछार में आज स्वर्ण शस्य लुप्तप्राय हैं। उसके उज्ज्वल जलों में काले रक्त की लहरें उफन रही हैं।’‘आह, बिगलों में गायबी नहीं गूँज रही। वहाँ प्राणियों की चीरकारें हैं; घटखटी अस्थियों और चड्ढनडाती चरबी से वायुमण्डल उड़िन और भलिन हो गया है। लोक-चापी मास-भन्ध से प्राण घुट रहे हैं; भबों से पट गयी है धरणी। सरस्वती तीर के लपोबनों में कदली-पत्रों की पावन पत्तलों पर पवित्र मधुपक्ष नहीं, चटचटाती चरबी, अस्थियों और नसों के स्तूप सजे हैं। कालमण्ड से अचरूद्ध इस जड़त्व में मंत्र-वाणियों का दम घुट रहा है। ऋग्वेद की ऋतमभरा धारा भंग हो गयी है।

‘‘कितना समय बीत गया, सामने की यज्ञशाला अवसर पड़ी है। आलेपनहीन बेदी सूनी पड़ी है। हवन-कुण्ड नदीं-गा भुहनाे ऐ डाढ़ा है। शून्य-उद्धरण में कथ अन्धकार ने आधय पा लिया है। अरणि धूल से आच्छादित है। हव्य-चषक म्लान और उदास पड़े हैं। प्यासे द्रोण सोम-सुधा को तरस रहे हैं। चमु कटे हुए हाय-पैरों की तरह छितरे पड़े हैं। छिन्न-मस्तक छड़ की तरह विकलाम पञ्च-देवता की साथा सारी यज्ञशाला में मेंडला रही है। इस समूची बहानुरी में तांतों यज्ञ-संध्याएँ, मन्त्रोच्चारहीन सूनी हो बीत जाती हैं।’‘व्राह्मणस्व क्लान्त और निस्तेज हो गया है। अरे, यज्ञ क्या हमारे किये हो सकता है? यज्ञ-गुरुष स्वयम् ही मानो झठ कर कहीं चले गये हैं!’‘देख रही हैं, वे हिरण्या-स्ट के उस सप्तपर्ण-बन में, पीठ फेरे हूर-हूर चले जा रहे हैं। क्या उपाय है उन्हें भनाने का? हमारे हृदयों में वे स्वयम् ही जब तक जागृत न हों, उन्हें कौन लौटाकर ला सकता है?

‘‘लो, आर्य ऋतमभद्रत नदी-स्नान करके लौट रहे हैं। कभी इस पीताम्बर में, ये स्नान कर लौटते हुए, पूषन् की तरह प्रतापी और कान्तिमान लगते थे। आज मानो इनके पैरों में गति ही नहीं है।

‘‘देवि, देख रहा हूँ, गयी सारी रात तुम जागती रही हो। और वहाँ मुहूर्त से ही इस शिलास्तल पर मूर्तिकर बैठी हो। यह कैसा विषाद छा गया है तुम पर?’

‘भूदेव स्वयम् ही कहा प्रसन्न है? अर्द्धाङ्ग का अर्द्धाङ्गनी से क्या छुपा है?’

‘तुम्हारे रहस्य को कब थाह सका हूँ, नन्दा?’‘‘दिनों हो गये, बात तक नहीं होती। इस गंभीर मौत का कारण जान सकता हूँ?’

'आपे में नहीं हैं, तो कारण क्या बताऊँ, आयें !'

'महान्‌रों हो गये, हवन-कुण्ड में अग्नि नहीं प्रकटाये तुमने ? सो सारी बहापुरी निरग्न, निष्ठाण हो चढ़ी है। अग्निदेव मानो सदा को सो गये हैं !'

'सोना अग्नि का स्वभाव नहीं, आयें छष्टम ! अग्नि तो सदा-जागृत दैवत है। अन्य देवता उषा भी ही जागते हैं। पर अग्नि तो जड़त्व की घनधोर अन्धकार रात्रि में भी जागृत ही रहते हैं। वे नित्य चैतन्य चिदपुरुष हैं। निखिल चराघर के भीतर वे निष्ठामृदृष्टि सूप से सदा जागृत हैं। वे सो जायेंगे, उस दिन तो सृष्टि का ही लोप हो जायेगा।'

'तुम्हारे भावाशय को समझ रहा हूँ, जालचारी। पर इष्ट-यज्ञ के सहारे ही तो भाव-यज्ञ चल सकता है। इष्ट-यज्ञ में उन वैश्वानर को प्रकट करो, तो बहुत दिनों के अवसर अन्तराग्नि आणोश्राप ही चैतन्य हो उठेंगे।'

'हीम-कुण्डों में उन्हें प्रकट करते, और हृष्टों की आहुतियाँ देते, हमारी पीड़ियाँ गुज़र गयीं। उनके द्वारा अब हम प्रजापति, अपेमन और अग्निरस आदि पितृ-जनों को प्रसन्न नहीं कर पाते। यज्ञों द्वारा अब हम ब्राह्मण के बल अपनी ऐहिक लिप्साओं को तुकड़ा करते हैं।'

'सब कह रही ही, आयें ! अग्निरा के स्मरण मात्र से ही रोमांचित ही उठा हूँ। उन्होंने ही सबसे पहले अग्नि का उद्धाटन किया था। उन्होंने ही सबसे पहले प्रकाश के दर्शन किये। यज्ञ के आदि पुरोषा वे ही थे।'

'मुत्ते भूदेव ! उन अग्निरा द्वारा प्रकाशित, सर्वपावनकारी अग्नि को हमने अपनी ऐन्टिक नालसाओं से अपावृत कर दिया है। वे आदि अग्नि वैश्वानर हैं। बहापुर के कण-कण के बे जीवन हैं। उन्हीं से सब कुछ चिन्मय है। वे सम्यक् दर्शन हैं, सम्यक् ज्ञान हैं, वे ही हमारे भीतर सम्यक् चारित्य प्रकट करते हैं। 'अग्निमाले पुरोहितम्'। वहीं हवन-कुण्ड में सत्य की ऊला के रूप में प्रकट होते हैं। वही अपनी आहुति है। वही अपने पुरोहित है। अपने भीतर की चैतन्य अग्नि में, अपने अहम् और तज्जन्य वागनाओं की आहुति देना, यही सञ्चा यज्ञ है। उसके आयों ने विषय-प्रसन्न होकर, यज्ञ के उस स्वरूप को भुना दिया है। आज वे केवल लौकिक और स्वार्गिक युज्ञों की प्राप्ति के लिए यज्ञ करते हैं। इसी से यज्ञोऽवर रुठ गये हैं। केवल ब्राह्म होमाग्नि प्रकट कर, उनका दर्शन और पुजन सम्भव नहीं। कामात्मा और स्वार्थान्वित यज्ञों से उन्हें प्रसन्न नहीं किया जा सकता। वे सर्वे चराघर के कल्याण के लिए हमारी आत्माहुति चाहते हैं'

'तो देवा, बहुत दिनों से मूनी पदी यजकाला में, अपने हाथों उन्हें प्रकटाओं। तुम्हारे हाथों वे सत्य रूप में प्रकट होंगे।'

'नहीं, जब वे बहिर्यंज से प्रीत नहीं होंगे। अन्तर्यंज में ही वे प्रकट हो सकेंगे। गयी रात मैंने देखा : वे मेरे अन्तर में शत-शत जिह्वाओं से विह्वामान हैं। मेरे रोम-रोम में आज अंगिरा अंगारों से धंधक रहे हैं। भूदेव, जाकर कह दो अपनी इस बहुपुरी के समस्त जाह्यणों से, कि अंगिरा तुम्हारे सर्वस्व की आहुति माँग रहे हैं। तुम्हारी लिप्साओं और वासनाओं का सक्षण करने के लिए वे सहज जिह्वा होकर लखलभा रहे हैं।' 'अपनी जाह्यणी को पहचान सको तो पहचानो, अहुदेव।'

'देख रहा हूँ, तुम साक्षात् गायत्री हो, जामन्धरी ! अंगिरसों, अक्रियों और मार्गवों की देवाशिनी बेटी हो। तुम्हीं यज्ञ की अग्नि बन कर प्रकट होओ ! अपने हृताशन के एवेत अश्वों पर आळड़ होकर, अन्तरिक्ष में धावमान होओ ! दावा की व्याप्ति, दृथिकि ५८ वहने का निरामुखदृष्टि द्वय की प्रतीक्षा में है। हमारी यज्ञशाला का द्रोण-कलंज, उसकी सौम-सुरा का प्यासा है। उस सौम का अमृत सिचित कर मृतप्राय जाह्यणत्व में नवजीवन का संचार करो, देवा !'

'अहुदेव की अभीष्टा पूरी हो ! तब अंतिम रूप से जान लो, हृतन-कुण्डों की स्थूल अग्नियों से अब परम अग्नि जागृत नहीं होंगे। अब हमें अमण-वर्या अंगीकार करनी होगी। अप्रमत्त भाव से दिन-रात तपस् के शम हारा, संघर्ष द्वारा, अन्तर्श्वेतन्य के वैश्वानर को प्रकट करना होगा। निरन्तर अम की आहुति से उन्हें तृप्त करना होगा। जब वे आप्यायित होंगे, तब आपोआप ही उनमें से नवजीवन की उषा प्रकट होगी। उसके बझोज कुम्भ से सौम की अमृत-सुरा प्रवाहित होगी।'

'मधुच्छुन्दा का कोई नया छन्द मुन रहा है, देवा !'

'ठीक मुन रहे हैं, आप्य ऋषभ ! तप के प्रचण्ड धर्मण और आत्मा से ही सौम-सुरा प्रकट होती है। तपस् ही अमृत का स्रोत है। आत्म-संयम से कण-कण को अभय करना होगा। भगवती अहिंसा ही सर्व को नवजीवन देने वाली उषा है। स्वयम् निरापद जियो, सर्व को निरापद जीने दो। स्वयम् विवात्य बनो, सर्व को अवात्य रहने दो। स्वयम् मृत्यु को जीतो, सर्व को मृत्यु से अमृत में ने बलो। एहने आत्म-मेष्ठ यज्ञ बनना होगा, तब सर्वमेष्ठ उमर्में से स्वयम् ही प्रतिकलित होगा।'

'लेकिन हमारे अधिष्ठ पूर्वजों ने जो मन्त्र-दर्शन किया था, वह तो...''

'हमारे अधिष्ठ पूर्वजों ने सत्यतः इसी सत् का मन्त्र-दर्शन किया था। कण-कण में स्वतः व्याप्त अबाध आनन्द का बोध उन्होंने पाया था। अपनी विषय-वासनाओं से हमने भूमा के उस आनन्द को अल्प और मर्त्य कर दिया। हमने श्रीत यज्ञों के स्वार्थी, कर्मकाण्डी शास्त्र रच कर, परमात्मा को आनी ही ईहा-तृतीय का साधन बना लिया। हमने वेद-गुण का बोत किया है। अजि ब्राह्मणत्व वेदच्युत हो गया है। वेद वेदाभास होकर रह गया है। विदो-दुहिता गायत्री के स्तुतों से भर्ग का दूष नहीं, आमिष रक्त की धारा वह रही है। मेरा रोम-रोम धारन है आज। ... मेरी वेदना को समझो, कोडाल-गुण !'

'समझ रहा हूँ, भारती। लेकिन श्रीत यज्ञों की जो परम्परा चली आयी है, वह क्या वेद-विहित नहीं ?'

'मूर्ने आये, वेद के अधिष्ठ मूलतः कवि थे। उन्होंने सृष्टि में व्याप्त अनन्त सौन्दर्य और आनन्द का भाव-बोध पाया था। ऐन्द्रिक-मानविक चेतना के स्तर पर, वे यज्ञों द्वारा उसी को अभिव्यक्त देने लगे। पर वह आनन्द जब ऐन्द्रिक सौभाग्य में अवरुद्ध होता, मांस-माटी के मर्त्य अन्धकार में लूप्त होने लगा, तब श्रमणों ने प्रकट होकर, उसे मांस की कारा से मुक्त किया, और फिर से भूमा के चित्राकाश में विस्तीर्ण कर दिया। ...'

'तो इस परम्परा के आदि पुरुष कौन थे ?'

'भगवान् ऋषभदेव। हमारे काल में उनका विदेश, याज्वल्य और महाश्रमण पाश्व में वही वेद-भगवान् नवीन रूप में उपनिषत् हुए हैं। ब्राह्मण के बल भोक्ता होनन्द नहीं, श्रमण होनार ही ब्राह्मणत्व को चरितार्थ कर गकेगा। मन्मेद-पिघर के चूडान्त पर, जातरूप दिगम्बर पाश्व में, महातपस् के भीतर से परम अग्नि प्रकट हुआ थे। उनके याज्वल्यमान अंग-अंग से अहिंसा और अमय का अमृत सोम प्रवाहित हुआ है। उन मृत्युजय को अब भी हमने नहीं पहचाना ! हमारा दुर्भाग्य।'

'लेकिन देवा, कुरु-पांचाल के ब्राह्मण कहते हैं कि यह ब्राह्मणों के विरुद्ध क्षत्रियों का पड़भन्द है। उनका कहना है कि हम गूर्वाचल के ब्राह्मण, पाश्वायत्थ श्रमणों के अनुयायी होकर वेद-विद्वाही हो उठे हैं, कि हम वेद की सिद्ध्या व्याख्याएँ कर रहे हैं।'

‘यह स्वार्थियों का ज्ञानभास है, अथवा। ब्राह्मण और अमण में कोई मौलिक भेद नहीं। एक ही परम चैतन्य की ये दो परस्पर पूरक छाराएँ हैं, जो आदिकाल से चली आयी हैं। कलह-श्रिय अज्ञानी और स्वार्थी ही भेद की दृष्टि उत्पन्न करते हैं। ब्राह्मण द्रष्टा है, अमण स्वष्टा है। ब्राह्मण ब्रह्म का दर्शन करता है, अमण उसका आचरण करता है। दर्शन और आचरण के बीच की खाई जब बहुत बड़ी हो जाती है, तभी हमारे भीतर के चिदपुरुष महाश्रमण के रूप में प्रकट होते हैं।’

‘समझ रहा हूँ, देवी। इस शुद्धता को कुछ और स्पष्ट करो।’

‘जब विश्व-पुरुष प्रजापति के परमानन्द को ब्राह्मण अज्ञानवश मात्र ऐहिक ऐन्त्रिक मान कर, उस आनन्दाभास की तृप्ति में ही प्रमत हो गये, तब बातरेशना कृषभदेव ने प्रकट होकर अमणवर्या द्वारा, स्वाधीन चैतन्य के अनीन्द्रिय आनन्द का मार्ग प्रकाशित किया। बार-बार जब ब्रह्मानन्द का मार्ग भ्रष्ट हुआ, तब यथा-समय अजित, घोर अंगिरह और इत्येति, यद्यपित्य और पात्र्ये पर रूप ग परमहुँ ने प्रकट होकर तपश्चम द्वारा चिदपिन को पुनः प्रजन्वलित किया। आनन्द के उद्गाता स्वयम् वैदिक कृषियोंने हो करा इन अहंतों का जथगान नहीं किया है।’

‘और आज के इन क्षत्रिय राजशियों के विषय में क्या कहना चाहती हो, देवा ? कहीं यह क्षत्रियों का ब्राह्मण-द्रोह तो नहीं ?’

‘यह द्रोह नहीं, आर्य अहगम। मिथ्यागाद का प्रतिगाद कर, फिर से मौलिक और नितन्य सम्वाद को प्रस्थापित करने की प्रक्रिया है। आज जब फिर से आत्म-धर्म का विच्छेद हुआ है, तो अंगिरा और अश्रियों का प्रब्रह्म ब्रह्मतेज, आत्मतेज बन करै पथ-भ्रष्ट ब्राह्मणत्व के विषद् उठा है। परम शान्त प्रजापति, तप और ज्ञान की बहिर्मान तलबार लेकर, हिमाद्रि के शिखर पर विष्णु के रूप में प्रकट हुए हैं। अज्ञानान्धकार का छवंस करने के लिए उनके दिगम्बर रोम-रोम में अग्नि द्वारा बन कर फुकार रहे हैं। विसुप्त वेद और भ्रष्ट ब्राह्मणत्व का परित्राण करने के लिए ही, स्वयम् आनन्द-स्वरूप प्रजापति ने आत्मतेज धारण किया है। एक ही वेद-पुरुष की दो भूजाएँ हैं—ब्राह्मण और अमण। उनमें भेद कैसा ?’

‘फिर भी सुन तो रही हो नन्दा, कुरु-पांचाल में अकुण्ठ भाव से हिंसक सर्वमेष्य हो रहे हैं ! कहीं है जनमेजय, देवापि, जनक विदेह, याज्ञवल्क्य ? कहीं है महाश्रमण पार्व ?’

'यही तो सारी रात अपने से प्रुछती रही है ! मेरा अणु-अणु इसी प्रश्न से उत्तीकृष्ट है । ' 'ओ बेदन्मुख, प्रकट होकर भी फिर तुम लुप्त हो गये ? ' ' निखिल चराचर का प्राण हत्यारों के छप्पन यज्ञ में आहूति हो रहा है । ' ' 'मा हिस्या' कह कर तुम फिर कहाँ जले गये ? ' '

'आन्त होओ देवांगिनी, ऋषभ तुम्हारे साथ है । यो चाहाँगी वही होगा । ' ' पाकशाला में चलो । दोपहर टल रही है । ' ' भोजन नहीं दोगी आज ? '

'भोजन ? ' ' कुरु पाचाल में सहस्रों प्राणियों की मिर्ज्जतर आहूति हो रही है । ' ' कैसे भोजन करें हम ? जन प्राणी को अध्यय दे सकूँ, यही तो एकमात्र भोजन यात्रा तुम्हें दे सकती है, आये । ' ' जीवन मर इस तन की भूख को अन्ध का भोजन दिया । तथा वह तुम्ह हो सकी ? ' ' लगता है आज मेरी भूख में स्वयम् प्रार्थन प्रकट हुए हैं । वे भोजन से शान्त नहीं होंगे । इस तन के पिण्ड की आहूति पाकर ही वे संतुष्ट होंगे । आज हमें स्वयम् ही, अपना भोजन बन जाना होगा, ऋषभ ! अपने ही से आपको तुष्ट करता होगा । महीं तपस् है, यही यज्ञ है । इसी से सोम प्रकट होंगे । कुरु-पाचाल में अतोराज जल रही हिसा की ज्वाला को इसी सोम से शान्त करना होगा । '

'तथास्तु देवि ! ' ' तो फिर क्या हमें आज की दिनकर्या ? '

'देख यहों तो देखो, देवता, नदी-नद के गोचर में कुण्डपुर की सहस्रों गाएँ उन्मन भटक रही हैं । आज वे चारा नहीं चर रहीं, केवल उदास विचर रही हैं । लोक में विश्व-आण की सामाप्तिक हत्या हो रही है । उसकी समवेदमा से ये तिर्यक्यं पशु तक घायल हो गये हैं । पशुत्व तक भोजन से विमुख हो गया है । ' ' ही रक्षा तो जाकर, आज सारा दिन उन्हों के प्राणों में अपने प्राण की घुरा को एकाकार करो । और क्या कहूँ ? '

'बले गये ऋषभ ? आओ, अपने नाम के अनुरूप ही ऋक् और धर्म का आचरण करो । हतप्राण गौरें दृष्ट दृष्ट की खोज में हैं । ' '

संजीधनी उषा पीठ फेर कर जली गयी । ' ' परम सत्य के स्वामी सूर्य भी आज उन्हों की जामुनी कंचुकी में छुप गये हैं । रह-रह कर बादल छा जाते हैं, उनकी कोरों पर से सकिता की मुड़णिम आभा किंचित् लाँक कर फिर स्तिमित ही जाती है । नदी के इन बहुते जलों में, वनस्पतियों में, हवा और बादलों में, जीवन-यात्रा में उन्हों की कम्मा जन्मनिहित है । ' ' अपने पूर्ण और प्रचण्ड प्रताप से प्रकट होओ, सकिता ! हे चर्ण, मरयन्नी आज मात्र मन्त्रोच्चार होकर तुष्ट

नहीं। मेरी देह का रोम-रोम आज 'ओम् भूर्भुवः स्वः तत् सवितुर्वरेण्या' ही उठा है। ' ' हे महातपस्, दर्शन दो : इस मध्याक्ष में अपने समस्त तेज से मेरे अणु-अणु को प्रतप्त और बहिरभान कर दो ' ' ।

' ' मैं कृताप्त हूईः मेरी प्रार्थना प्रतिफलित हुई । सब शिरों से असाधारण है आज तुम्हारा उत्तीर्ण । ' ' मुझे दहो, मुझे दहो । मुझे गहो : मुझे गहो ' ' ! बाहर से रुद्ध हो रहे हैं, मेरे तन, मन, इन्द्रियों के ढार । मैं रह गयी हूँ, मात्र हृष्ण-कुण्ड । चेतो ' ' चेतो परमामिति, अस्म कर दो मेरे मांस-पिण्ड को : प्रसवित होओ मेरे भीतर अखिल के सजीवन सौम बन कर । ' ' मैं सुनी जा रही हूँ, मैं निरन्तरत्व हो रही हूँ । ' '

* * *

'प्रचोदयात्' सविता दिन भर समरस तेज से जाज्वल्यमान रहे । सौम हीते-हीते अनधीर बादल घिर आये हैं । उनके गर्जन से बन-भूमियों में रोमहर्षण हो रहा है । धेनुओं को लेकर ऋषभ लौट आये हैं ।

आकर देखा, देवानन्दा उसी शिलातल पर, मुद्रित नवन, ऊर्ध्वमुख, जानुसिकोड़े बैठी है । उसके ओढ़ों पर अस्फुट-सी मुस्कान खिली है ।

ऋषभ की उपस्थिति का बोछ पाकर, देवी ने सहसा आँखें खोली । ' '

'सारे दिन प्रजण्ड सूर्य के तेज में आत्माप्ना किसी है तुमने, देवा । तपे हुए शुभणी-सी तुम्हारी यह मुख्यती अपूर्व है, देवी ! चल कर अब विश्वाम करो ।'

'आओ देवता, तुम आ गये ? अब पर्जन्य होकर प्रकट हुए हैं सविता । इनकी भीतल आई के सिवाय और कहीं विश्वाम है ?'

'देवा, पर्जन्यों की इस जामुनी छाया में तुम्हारा मुख कैसे अनृद्धे मादेव से भर आया है । ' ' इतनी कोमल तो तुम्हें कभी नहीं देखा ! जैसे पूड़ीकिनी खिल आने को आत्मुर है ।'

'जो है, उसे देखो आयं !'

'इन मन्त्र गभीर गरजते पर्जन्यों तले, इस तड़कती विद्युत् से, मेरे प्राण भयाकुल है । ' ' और तुम्हारे इस सीन्दर्ये का पार नहीं ! आज जितना अकेला तो मैं कभी नहीं हुआ । ' ' भीतर चलो देखा । '

'नहीं ! ' ' आज अकेले ही रहना है, तुम्हें, मुझे । यही गुद्ध स्वभाव है । चरम विरह के तट पर ही, परम मिलन होगा, ऋषभ । इस विरह को सहो, इस

परमाणु में तपो । विश्व-प्राण में ही अब मिलन संभव है, तुम और मैं के खण्डित प्राण में नहीं । ॥ जाओ देवता, अपने ही भीतर लौट जाओ । ॥ वहीं मैं मिलूँगी । ॥

पर्जन्यों की घनथोर आकान्ति के साथ, रात गहराती चली गयी । अन्धकार का राज्य अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच रहा है । सब कुछ अचिह्न, असूझ, अभेद ही गया है । क्या अन्धकार अपनी ही निदानय आनुलता से फूटपटाता हूँआ, अपने ही भीतर फूट पड़ेगा ? तमस के सारे कोषावरण भिट्ठने जा रहे हैं । फूट कर, इसके सीमान्त पर क्या होगा ?

“मौ अदिति, कही हो तुम ? अमहा है यह अन्धकार की कारा । विवश, असहाय, विशेष हो रही है मेरे तन, मन, प्राण की पर्ति, इम तमस की गहराइयों में । मेरी विरह-वेदना का अन्त नहीं है । निखिल प्राण की धारा से बिछुड़ी जा रही है । ॥ दूरियों में देख रही है—हवारों पशुओं और मानवों की करण-कातर, मृक आकलनभरी अँखें, सौन्मी सर्वभक्षिणी ज्वालाओं की विवश ताक रही है । ॥ वे मेरे भारे शिशु, मुझसे किसने भीन लिये है ? आसं तयनों से वे विगल्तों में मज़े ही तो टोह रहे हैं । उनके अवरुद्ध रुदन से मेरी कोख फटी जा रही है । मेरी नसें छिप्प-भिप्प हो रही हैं । ॥”

“मेरे नाड़ी-केन्द्र में फूटो माँ, उठो मौ अदिति । तुम्हारे जाये को धारे बिना मेरी देह की धरियों अब अस्तित्व में नहीं रह सकेगी । अस्ति के इस छोर पर, मेरी वेदना और भय का अन्त नहीं । इसके आगे नास्ति का अन्धकार है ॥ असता की बीहड़ अथाह खाइयाँ हैं । ॥”

“मेरे भीतर प्रकटो माँ, मुझे शामो माँ । मैं गिरी ॥ मैं गिरी ॥ मैं गिरी जा रही हूँ । ये कैसी मृच्छा के दुर्दाम हिलोरे हैं । ॥ मैं गयी ॥ मैं इड़ी ॥ मैं इड़ी ॥ मैं नहीं रह गयी ॥”

“फिर यह कौन है जो देख रहा है, अनुभव कर रहा है, कि अन्धकार का सीमान्त टूटने जा रहा है । ॥ लो, यह टूटा, यह विस्फोटित हो गया । मेरे मूलाधार में से मेरी कोख ऊपर उठी जा रही है । अपेक्ष ऊपर उठती ही चली आ रही है । देख रही हूँ, एक शुद्ध रक्ताभ कोकनद, ध्वान्तों के बातबलयों को चीर कर, ऊँड़ों में उत्तरात्तर ऊपर-ऊपर ॥ और ऊपर उछता जा रहा है । मेरी नाड़ी-मण्डल को तोड़कर उद्भिन्न है मेरा यह अस्तित्व । मेरी सत्ता, मात्र कोख बन कर दिगल्तों तक व्याप गयी है । ॥ औ तू, तुझे धारण करूँ, या फिर विदीं होकर, गूँथ में बिलीन हो जाऊँ । ॥”

‘‘देख रही हैं, ऊर्ध्वांति में से यह कौन सुवर्ण-पुरुष सिंह पर आगोहण करता चला आ रहा है। एवं अमिताभ तारुण्य, जो मेरी अभीष्टा की अनी पर आकाश से रहा है।

‘‘लो, मह मेरी उद्भिदि कोव के जाज्बल्य कमल में उत्तरा चला आ रहा है। ‘‘आह, असह्य है इसका लेज, इसका प्रतीप, इसका अजग योवन और सौदर्य। ओ अनन्त, कैसे समा सक़गी तुम्हें अपने में ! कोइ दो मेरे इस मांसल गर्भ की मर्म-श्रधि को ! मुझे विस्तीर्ण करो मनचाही, और समा जाओ मेरे भीतर। ‘‘मेरी बेदना और अ्याकृजता का अन्त नहीं।

‘‘उत्तर आये तुम ! ‘‘मैं फैल चली अपने से परे। ओ विष्णुद्द, तम वैष्णवानर, तुम जो मेरे अगाधों को भेदते चले आ रहे हो ! ‘‘तुम कौन हो ?

और देवानन्दा शान्त, निरतरंग, निःस्तब्ध, निःपन्द, एक अथाह समाधि-मुख में जाने कब तक निरापिज्जत हो रही।

एकाएक वह प्रचेतस् हुई।

‘‘समाधीत हुई मैं, कृतकाम हुई मैं, परिपूरित हुई मैं। यज्ञ-पुरुष, परिश्रान्त, तुम आ गये !

परम समाधान की मुद्रा में, पूर्ण आगृत, उद्योग होकर देवानन्दा ने चहुँ और निहारा। दिखायी पड़ा : वह मिह गर आळड़ सुवर्ण-पुरुष, हिरण्यवती की पार कर, क्षितिज को चीरता हुआ, क्षत्रिय-कुण्डपुर की ओर धावमान है।



प्रतीक्षा करो, प्रियकारिणी

आज सबैरे आगी, तो देखा कि फूलों के समृद्ध में से उठी हैं। अंग-अंग फूलों से लड़ी डारी हो गया है। राज-रेत द्वं से रह-रहने में शूल फूट रहे हैं। परिमल से भीनी हवा में, जाने कैसी नीलिमा छा गई है। सारा दिन एक विचित्र झूझन की तन्द्रा में बीता है।

अब मौज होते-होते, जाने कब इस शात-खण्डे भहल की उत्तुंग छत पर चली आई हैं। चारों ओर देख रही हैं, तो पाली हैं कि दिशाओं की नीलिमा जैसे चिन्मय हो उठी है। तमाम दूरियों के पार, वहाँ अन्तिम पानियों के किनारे हैं। एक लहर वहाँ से आती है, तो यह सारी सूचित उसके बहाव में तरल हो जाती है। सब-कुछ के भीतर की द्रष्टव्यता अपने आरन्धार प्रवाहित-सी नगती है।

और अपने पूरे अस्तित्व को, अपने समूचे आसपास को, एक नये ही संदर्भ में पढ़ रही हैं। अपने को एक नयी रोशनी में पहचान रही है। मैं त्रिशला, विश्व-दिल्ल्यात वैशाली के गणाधिपति महाराज चेटक की सब से बड़ी बेटी हूँ। वाणिष्ठ शत्रियों का यह कुल, इक्षाकुञ्बों की गौरकणाजी परम्परा है। अभी कल ही की तो बात है कि हमारे पूर्वज बनक ने विदेह होकर, सदेह जगत के तमाम ऐश्वर्यों को यहीं अचूक भोगा था। उससे ऐसी महिमा प्रकट हुई थी कि आयवित्त के इस प्रदेश का नाम ही विदेह हो गया। जानकी सौता बैदेही कहलाई; और मेरी शिराओं में गूंज उठा है: 'तू भी तो बैदेही है, त्रिशला !' चाहने को और क्या रह जाता है।

और व्याह कर मैं जात्-वंशीय महाराज सिद्धार्थ की महारानी बन कर, क्षत्रिय कुण्डपुर के इस राजमहल में आई हूँ। इस समूचे कौल्लाग संनिवेश की अधीक्षकरी हैं। अपने स्वायत्त राज्य के सीमान्तों को देख रही हैं। पूर्व में वह अरण्यों का प्रदेश है। सुनती हैं, उसके कई बनवाय अभेद्य हैं। वहाँ बाज तक

मनुष्य का पद-संचार नहीं हुआ। पश्चिम में कोसल, कुशिनारा और पाषाण के प्रबल मल्लों के भास्तव्य हैं। दक्षिण में उत्तराखण्ड व उत्तराखण्ड गंगा; उत्तर पश्चिम मेरे आंचल में उफन आई है। पश्चिम में हिमालय की तलहटी के बे उत्तरं देवदार वन जैसे मेरी ओहे बन कर फैले हैं।

लिङ्गविधियों की इसी वैशाली में, गणतंत्र राज्य की नीवें पढ़ी हैं। यही के संसार प्रसिद्ध संघागार में, हर नाशिक अपने अधिकारों का स्वायत्त निर्णयिक है। अभी और यही, मनुष्य की प्रासंगिक स्वतंत्रता यहीं समीचीन रूप से परिभाषित हुई है। विदेहों की वैशाली में परम मूर्क्ष का ही नहीं, प्रासंगिक स्वतंत्र्य का सूर्य भी अपनी परिसूर्ण प्रभा से जगमगाया है। इस हृद तक कि हर लिङ्गविधि, अपने को राजा कहता है। हर मनुष्य यहीं अपना गजा है।

वैशाली के भहलों में हो कि कुण्डपुर के इस 'नन्द्यावर्तं प्राप्ताद' में हो, संसार का कोई सुख मुझे अनजाना नहीं रहा। किसी भी चीज की तो कमी नहीं रही। केवल एक ही कमी आज हृदय को साल रही है; कि कोई काट, कोई कमी तो होती, कि जिसके आरोग्य से संसार की सीमा का बोध हो सकता। सुख के बिना, मह सुख चित्र-लिंगित-सा लगता है। इतना सपाट कि इसमें कोई गहराई, ऊँचाई, चतुर्मुखता, विविधता हाथ ही नहीं आती। इस आयामहीन गुख में अब मन रमता नहीं। आज तग रहा है, जैसे इससे निकलकर कहीं चले जाना है। कहीं, यो नहीं यादूम्।

ऐसा भी कथा पुण्य कि आगे जीवनकाल में, पीहर और समुराल में कहीं भी मृत्यु नहीं देखी। शुरू से ही बहुत स्वतंत्र स्वभाव की हैं। और फिर स्वतंत्र्य सूर्य के अप्रतिम देश वैशाली की बेटी और बहू हैं। इसी कारण, अपने स्वभाव के अनुरूप ही, लड़क्यान में जब चाहूँ कहीं भी विवरने की छुट्टी मुझे रही है। गहस के रत्न-दीपों की जड़ रोशनी से भाग कर, कई बार अपने राज्य के नगर-प्रासादों और वन-कान्तारों में भटकी है। वैशाली की राजबाला ने रथ की मर्यादा तोड़कर, धूल-कंकड़, कौटी, चट्टानों का अनुभव भी फिया है। इस जनपद में अश्व-धूत, आवास का अभाव बेशक नहीं है। पर धनी और निर्धन के अन्तर को अपनी आँखों देखा है। कथ, रोग, बुद्धापि और मृत्यु के दृश्य देखे हैं। दूरी में ओङ्काल होती शब-शात्रा और धाढ़ मार कर रोते विधोगियों का शोक-संताप देखकर, मेरी तहे कौपी हैं।

याद आ रहा है, एक बार अर्थों पर लेटे, सुन्दर मृत युवा के बेहरे को देख, घर लौटने से मन ने इन्कार कर दिया था। ऐसा लगा था, जैसे रथ पर चढ़कर,

महल नहीं लौटी थी, अर्द्ध पर चढ़कर उस युवा को जीवन में सौटा लाने की जिद लेकर समशान के पार कहीं भटक गयी थी। पर क्या लौटाकर ला सकी? ... अपनी फूलों छायी रत्न-शीया पर कितनी अकेली, विशेषिती पाया था अगले को। क्या इस क्षण तक क्या कोई भी सुख, मेरे वियोग के उस दूर को भर सका है? ... अद्यत-द्वार में भीगी शोफाबी-सी, जह नचंडी लालूकी का सोडाग-मिन्दूर, और भाल-तिलक अंतिम रूप से पुँछते देखा था; उसके धूम-चाटते कंकण और सूनी कलाइयाँ देखी थीं। उससे अपने को अलग नहीं रख सकी थी। इसी से तो मेरी चेतना, राजरथ को ढेल कर, समशानों के पार भटकने लगी गई थी। ... लीटकर, अपनी चिछुड़ी काया को, क्या रत्न-शीया में जीवित पा सकी थी? आज अपने फूलों छाये अंग-अंग में उस मृत्यु को गुंथा देख रही हैं। उस विशेषिती बाला का, वह आसु घुला आकर्दित चेहरा, इस क्षण मेरी अंखों की पुतलियाँ बन गया है।

... जो, पणिमी धितिज पर गहरे-गहरे बादम घिर आये हैं। आषाढ़ के बादल। याद आया, आज आषाढ़ की शुक्ला छठ है। चन्द्रमा उत्तराषाढ़ नक्षत्र में आये हैं। मुदुर द्युतिपलाश-चैत्य के उपबन पर, कच्चार के फूलों-में हलके जामूनी बादल धने हो रहे हैं। एक गलाबी-सी बिजली उनमें रह-रहकर कीध उठती है।

सल्लकीवन की गन्ध लिये हलकी-सी पुँहार बरसने लगी है। और देखते-देखते पारान्तर में हिमालय की हिमावृत चोटियाँ पिघल चली हैं। धितिज में भरे दृश्यों की हरिधाली श्रेणियाँ वह निकली हैं। शीर्ष में दहकते केशरिया पलाश, और कृष्णचूड़ा के कुंकुमी फूलबन बादलों में घुल रहे हैं।

औकक ही यह क्या देख रही है कि फूँहारों को बेसासुम-सी नीहार में, जाने कितने रंगों की रुन-राशियाँ जगभग उठी हैं। और अगले ही क्षण धारासार तरल रत्नों की वर्षी होने लगी है। हिमालय की चूड़ाएं हीरक तुहिन होकर बरस रही हैं। दूर-दूर की बनालियाँ, मर्कन की धाराएँ हो गई हैं। द्युतिपलाश उपबन के पश्च-सरोवर, पञ्चराश मणियाँ बनकर चारों ओर छा गये हैं। विशाओं की चिन्मय नीलिमा, नीलम की द्रवित शिलाओं सी उमड़ कर नन्दावते महस की इस छत पर आकर जड़ गयी है। ... इब जलधाराओं में जाने कितने रंगों के रत्नों की आभाएँ, एक-दूसरे में मिलजुल कर, एक विराट् इन्द्रधनुष की तरह समूचे सोकाकाश में छा गयी हैं। और जैसे एक तैरते शुंग पर अकेली चड़ी हूँ में, त्रिशला। और रत्नों का यह आप्नावन मेरे पैर पखार रहा है। ...

आज लगभग छह महीने हो गये हैं। चाहे जब इसी तरह रलों की वर्षा होने लगती है। तरल जलधारों में बरस कर, ये रंगीन द्रव, पृथ्वी सूत ही कई-कई पहलुओं वाली जग-मगाती शिलाएँ, रल-खण्ड, भास्वर कणिकाएँ, चमकीली धूल हो जाते हैं। पुरुषों और सारे जीवों में इन्हें रखने की अब जगह नहीं रह गई है। नागरिक अब इनकी परवाह तक नहीं करते, और जाने कब ये फिर माटी हो जाते हैं। वैशाली की हर कल्पा, इन दिनों रत्न के दर्पण में ही अपना शृंगार-प्रसाधन करती है।

और हमारे इस नियावति महन में तो हर क्षण एक चमत्कार हो गया है। महीनों की इस रत्न-वर्षा से, महल का एक-एक कक्ष दिन-रात तरल-रलाभा में तैरता रहता है। और जाने कितनी विचित्र सुगम्य, सर्व और छविनियाँ, इन द्रव्य-तरणों में महसूस होती रहती हैं। दीवारों पर आणोआप ही रलिम रंगों के दिव्य चित्र अंकित हो गये हैं। इन चित्रों की आकृतियाँ और भाव इतने सूक्ष्म, जटिल और बहुआयामी हैं, कि कुछ भी समझ में नहीं आता, बस एक धनीभूत, अविरत सौन्दर्यानुभूति होती रहती है।

आपें दिन राज सभा में द्विपाल्तरों और देशान्तरों के बणिक, मनिहार और मल्लाह महीराज को अकारण ही अजूबा बस्तुओं भेट कर जाते हैं। जिनका भूल्य अँकिना मानवीय बुद्धि से परे हो गया है। अभी उस दिन पूर्व के अगम्य अरण्य की एक शीतली आई थी। वह एक विचित्र रत्न-करण्डक दे गयी : कहती थी, इसे खोलें नहीं, बस कक्ष के कोने में रखें रहें, इसमें बसें हैं नागेन्द्र। हर इच्छा के उत्तर में सामने एक भणि लैरा देने हैं। इसी सामने के कक्ष में वह करण्डक रखा है : इस कीड़ा-कौतूहल से खेलने अब भन में कोई इच्छा ही नहीं बची। नागेन्द्र जाने क्या सोचते होये ? ऐसे ही जाने कितनी घरती में गढ़ी निधिधर्याँ, वैभव-विलास की सामग्रियों से भरी आग्यिव मंजूराएँ, अगम्य समुद्रों के मल्लाहीं द्वारा लाये गये अर्द्ध विशाल मुक्ताओं की झारियाँ और चषक। विचित्र रंगीन धातुओं के भाण्ड, प्रकृति प्रभास्वर शिलाओं के भद्रासन, मिहासन, वर्षक और पालकियाँ। हमारे बन-उपबन और इस राजोदयान के लंबिजगोदरों में कमलों की गाँवरुद्धियाँ, सुगम्य और पानग तक जैसे रलिम रसायनों की हो उठी हैं। भारी पृथ्वी और स्वर्ग का ऐसवर्य इस महल में एकत्रित हो गया है। इतना कि बस्तु और उसके गुण की यह संकुलता अब असत्त्व हो गई है।

‘‘‘ कोई इन व्याख्या घटनाओं का कठरण नहीं बुझ पाता है ; कई ज्ञानी-विज्ञानी प्रयत्न करके यह गढ़े । एक अमण्ड आज सबेरे ही शुल्कलाप्त-चैत्य में आये थे । मेरे जिज्ञासा करने पर बोले : ‘महाराजी, इस रहस्य को खोलना उचित नहीं । इन्होंने के अनन्त गुण और पर्याय हैं । कुछ भी संभव है । असंभव कुछ नहीं । ज्ञानी के लिए कुछ भी चमत्कार नहीं । सब हस्तामतकबृत् है । ज्ञानी के लिए, सच ही यह रहस्य है, चमत्कार है, जादू है ।’ और बात में भेरी और दृष्टि स्थिर कर दोने थे ।

‘प्रतीक्षा करो, प्रियकारिणी त्रिशला, कुछ अपूर्व होने वाला है !’

‘मगवन्, जिज्ञासा तृप्त करें । क्या होगा वह अपूर्व ?’

‘कथन में आ जाये तो अपूर्व कौसा । घटित होने पर जानोगी ही । प्रतीक्षा करो, प्रियवर्गिणी !’

‘मैं पूछती रह गई । योगी चुपचाप चल दिये ।

ग्रन्थिभेद की रात

'प्रतीक्षा करो, प्रियकारिणी' : ये शब्द उसी शब्द से मेरे आरपार गूंज रहे हैं। मेरा अस्तित्व स्वयम् ही जैसे कोल उठा है। याद आ रहा है, जिस दिन से होश में आयी, अपने को निरन्तर जानि किस अआत की प्रतीक्षा करते पाया है। यही मेरे प्राण का एकमेव सम्बद्ध और आनन्द रहा है। इसी पुकार से विद्यश होकर तो, जाने कहाँ-कहाँ फटकी हैं। जाने क्या-क्या खोजती फिरी हैं।

... और इसी खोज की राह में एकाएक पाया, कि सब मुझे प्रियकारिणी कहने लगे हैं। राजपुत्री की तरह, दुलभ मैं कभी नहीं रह सकी। सभ्य जनगण की बेटी होकर ही मानो जन्मी थी। इसी से बनपन से ही, वैशाली के जनगण के बीच बवाद्य विचरने लगी थी। धनी-निधन सभी के घर-आँगन समान रूप से मेरी दुरन्त बाल-सीला के प्रांगण हो रहे। राजमहल से लगा कर, बन के पहाड़, पेड़, पंछी, नदी, घास-गात, फूल-पत्ती, कोट-पतंग सभी के प्रति मेरे जी में एक-सा प्यार उमड़ता रहता था। कई बार हिमालय की नीरद छोटी से ढाक सुनायी पड़ी है : 'प्रियकारिणी !'

और यही समुराल में आकर पाया, कोई मुझे चिनला कह कर नहीं पुकारता। सभी के ओठों से एक ही नाम निकलता है : 'प्रियकारिणी !' ऐसा क्या है मुझमें, कि अकारण ही सब की यों प्रिय होकर रह गयी हैं।

* * *

... रत्नों की वर्षा अब विरल हो गयी है। बहुत महीन, कई हजार-हजार के रत्नों की नीहार दूरान्तों तक आपत्त है। और मैं इन नानारंगी लाभाओं के प्राप्ताओं में अकेली विचर रही हूँ। निरी नन्द और अन्तहीन प्रतीक्षा। ... मैं नहीं।

एकाएक पश्चिम में एक प्रचण्ड विस्फोट के साथ बिजली कहकी । बिदुत की तरफ उर्ध्वदी शक्ति गेहै देखिए हैं यहाँ आपी । उन्ह रहीर घन-घज्जत में पिरती चली जा रही है । यह क्या देख रही है । ॥१॥ बहुसाल-बन के शिशरों के पार, हिरण्यकती की लहरों पर सुवर्ण की रज बरस रही है । देखते-देखते वह अपसारित हो चली । और हिरण्य के एक विशाल प्रभामण्डल में आङ्गत हो गई । एक हूसरा ही सूर्य हो जैसे, जो अस्त होना नहीं जानता । सान्ध्य नदी की शान्त लहरों पर गतिमान वह प्रभामण्डल, मेरी और चला आ रहा है ।

॥२॥ कब आँखें भिज गयीं, नहीं मालूम । कब इस गडन-अटारी के शयन-कक्ष में आकर लेट गई, सो भी नहीं मालूम । कुंद, कच्चनार, बेला और पारिजात के विपुल फूलों और सालाओं से आकृत इस पश्चराम मणि के गुलाबी पर्यंक पर बकेली लेटी हैं । गवाक्ष की जानी में, पानी भरी एक गमित बदली के भीतर, अन्तिम धिरण नाग-चम्पा के एक फूल-सी छहरी है ॥३॥ देखते-देखते वह भी गर गई । वहीं जामती अंधेरा उभर रहा है ।

इस विशाल कक्ष का रत्न-परिच्छद कितना कोपल और तरल हो आया है । बहुरंगी मणियों की भीनाकारी और चिक्रसारी से उचित छत और दीकारें कितनी उच्चजीवित हो मुझे ताक रही हैं । उनमें जड़े विशाल हीरक दर्पणों में यह एक ही कक्ष सहस्रों कक्षों में खुलता जा रहा है । दोनों ओर अन्तहीन पर्यंकों पर, अनन्त विशालांगे स्तंषी हैं । मैं कौन हूँ इनमें, पहचानना कठिन हो गया है । हंसगर्भ शिला में से तराणा हुआ वह सिंहासन, लोहिताक्ष मणि के बैंध भद्रासन, माणिक और पश्चों की नौविंयां, उन पर पुष्पराज और ज्योतिरस की आरियां, बैंधवं के चपड़ों में प्रियंगू और सहकार फूलों की सज्जा : इन सब में जैसे कई-कई आँखें खुल कर मेरी ओर एकटक देख रही हैं । उस कौने में पड़ा है, कुण्डीकृत नाग-सा वह रहस्यमय करण्डक, जो वह भीलनी लायी थी । मेरे न चाहते भी, तरह-तरह की इच्छा-मणियाँ उसमें से तैर आती हैं । और किर विफल होकर स्पर्शक रत्न की इस लहराविल फर्श में लौंग हो जाती है ।

जब वही पारस्य देश की पारसमणि में से तराशी हुई गन्धकुटी में अहंत की जलकान्त प्रतिमा आसन से उत्थान करती दीख रही है । उराकी पाद-कर्णिका में अवस्थित निष्ठकम्भ दीपशिखा, अनायास संचारित है । एक ली, दोनों ओर के दर्पणों में हजारों पंक्तियों में भंडलाकार मेरे नहुं जोर धूमती-सी जैसे मेरी आरसी उतार रही है । कालागूर और दधांग धूप की पक्किय सुआस में कोई निराकारता, कहीं आकार घारण कर रही है ।

अलशेंद्रा के फुलेलों की मंजूषाएँ, आपोआप खुल कर सामने प्रस्तुत हैं। कलशाकार शीशियों में भरे द्वच स्वयमेव ही हवा में तरंगित हैं। द्वार-कथा में पड़ा है वह प्रकाष्ठ बिल्लौरी भाँड। उसमें सात समुद्रों के जल, अलग-अलग सात तहों में झलक रहे हैं। उनकी अलग-अलग रंग-श्रमाएँ साफ दीख रही हैं। दीबाल में टंगी स्फटिक मंजूषा में नीलनदी की जलधारा स्वाभाविक-सी प्रवाहित है।

पायताने कोने में निरदलम्ब खड़ी-भी वीणा मानो आज अपने आप ही, अनेक राग-रागिनियों में बज रही है। उस संगीत की सहरी और ऊँची मूँछाँओं के साथ, मेरी धौथा में ये कैसे आरोह और अवरोह स्पन्दित हैं। जैसे हिण्डोलते पानियों के शहरावों में लेटी हैं। क़छ भी स्थिर नहीं रह गया है। एक निरन्तर ऊमिलता के लोक में जाने कहों उत्तोर्ण ही गई है।

सिरहाने की हंसतूली ब्रह्मकाश में यह कैसी बातीक चित्रकारी-सी कर रही है। वस्तुमात्र उसका रंग-चयक बन गई है। ' ' असक्ष्य शून्य में से रेक्षायें उभर रही हैं। बर्तुल बनते-बनते, चौकोर हो जाते हैं, चौकोर घट्कोण हो जाते हैं। घट्कोण सहस्र कोण हो जाने हैं। एक बृहदाकार हीरे के सहस्र पहलुओं में हार के पार द्वार, वातायन पर वातायन, आंगन के पार आंगन छुलते ही जा रहे हैं। और फिर एक अन्तहीन स्फटिक का दालान : हजारों खम्बों की सरणियाँ। छोर पर एक अथाह जलिमा : नीलिमा का शून्य। वीणा की रागिनी के छोर पर छुलवासा। मेरी ग्रहीका का सोमान्त ! ' '

कौन आने वाला है ? ' ' कौन ' ' कौन ' ' कौन ? आओ न ' ' आओ ! चिरकाल से तुम्हारी राह बन कर बिछी हूँ। ' ' अणु-अणु में तुम्हारी नीरव पदचाप सुनी है। तुम्हारे आने और न आने का अन्त नहीं। मेरे ही भीतर की शुद्ध ऊमिलता के सिवा और क्या हो तुम ? आज उसे नगम, अपने भीतर उभरती देख रही हूँ। ओ शुद्ध परिणमन, आकार धारण करो मेरी बाहों में ' ' आओ ' ' आओ तुम !

* * *

'प्रियकारिणी' ' !'

दूर के पानियों पर से आती आवाज सुनकर मैं जागी। सामने के इन्द्रनील पर्यंक की कचनार धौथा में महाराज अघ लेटे हैं। यह सम्बोधन बाज कितना गहरा और एकान्तिक है।

'हवामी' ' ! आ गये !'

'केवल देख रहा था तुम्हें' 'जाने कब से !'

'और पुकारा, हत्ती देर बाद ?'

'नहीं तो ! मैंने तो नहीं पुकारा !'

'मैंने जो वह अचूक संबोधन सुना है अभी, और मैं जग पड़ी !'

'त्रिशा, बस देख रहा हूँ तुम्हें अन्तहीन ! केवल आँखें रह गया हूँ ! एकाग्र आँखें ! वहीं पुकार उठी हों, तो बात दूसरी है !'

'नाय !'

'आज पहली बार वैशाली की बैदेही की देखा !'

'नहीं, इस शून्य में मुझे यों ज़केली न छोड़ो ! यह विदेहता असत्य ही गयी है ! मुझे देह के तट पर छोड़ो !' 'स्वामी !'

'देह में ही तो देखा है आज बैदेही का सौन्दर्य ! तुम्हारे सर्वांग रूप में देखी है, वह अस्मक आभा ! इतनी स्पष्टित मेरी देह से सहज, कि पुकारना, छूना, कुछ भी आवश्यक न रहा !'

'देह, लगता है, आज पहली बार आये हो भरे पास : इससे पहले जो तुम आये, नहीं जानसी कौन थे ?'

'मैं सिद्धार्थ नहीं था ?'

'नाम-रूप से मुझे मत परखो ! तुम, जो केवल तुम हो, आज ही तो आये हो !'

'मतलब ?'

'... देश काल के जाने कितने असंख्य कुंचित धारामयों में तुम्हें पुकारती भटक रही थी, जाने कैब में ! उस भटकन में आज तुमने पहली बार पुकारा, और मैं लौट आई...'। निरी वापरी हो गई हूँ ! मुझे देह-तट में छीच लो समूचो !'

महाराज अपने तन-मन के समूचे आलोड़न को आँखों में एकाग्र कर, श्रिजला को आँखों की उस अगाध डूबन में जैसे तैर गये ।

'... स्वामी, पा गयी तुम्हारी तैरती बाहूओं के किनारे !'

'श्रियकारिणी, कैसी सुहानी रात है यह ! बाहर आषाढ़ की पहली बदली बरस रही है । सब कुछ एकाकार हो गया है । जल ... जल ... और केवल जल !'

'और प्रियतम, हवा में यह कैसे अज्ञात फूलों की विचित्र गंध महक रही है। जलफूलों की गन्ध, बादल-फूलों की परिमल ! ये पार्श्विक फूल नहीं। आजे किस शुद्ध पानी के लोक से आ रही है यह गन्ध !'

'जावण्ड का वह अंतिम समुद्र, यहीं तो लेटा है, इस सामने की हैवा में। अपने बाहुतट की जलजूही को पहचानो, प्रियकारिणी !'

'ओह ! ' 'सचमुच ! तुम्हारी जाखों से ही तो अपने को देख सकती हूँ, मेरे बत्सभ ! आज सबेरे ही, जैसे फूलों के समुद्र में सै उठी थी। कैसा विचित्र अनुभव यह ! मैंतो हर लम्हूलि में धूल नहीं है तुम, केवल तुम्हों !'

'काश्यप सिद्धार्थ हुआ तुम्हें पाकर, त्रिशा !'

'लेकिन मेरे प्रभु, बाहुतट के ये फूल भर रहे हैं, एक-एक कर। एक दिन ये सब झर जायेंगे। तब ?'

'तुम्हारी बाहुरे सदा-वसन्त हैं, रानी ! वे नित-नूतन पुष्पित होती चली जायेंगी !'

'पर, मैंने देखा है, इन फूलों की नसों में व्याप्त मृत्यु को ! ' 'नहीं, मैं अब किसी भ्रम में नहीं हूँ ! कभी नहीं थी !'

'क्या कह रही हो, त्रिशा ?'

'वैशाली के आगन में, मैंने एक गोकाली को अंतिम रूप से छारते देखा था। उस बाला की वह निष्प्रभ मुखश्ची भूलती नहीं है। पहली रात ही, तुम्हें वह कहानी कही थी, और तब मैं बहुत अनमनी हो गई थी। और तुम भूमि किसी भी तरह मता नहीं सके थे। ' 'हमारी सोहागरात अछूती ही दीत गई थी !'

राजा सुनकर सहम उठे। उनके भीतर अधियारे अत्स खुल पड़े। भयातं, वे चुप हो रहे। एक गभीर सश्नाटे में, तमस् का एकाकी दीप तैर रहा था।

'प्रियकारिणी !'

'पहली ही रात, तुम्हारी अश्रिय हो रही। प्रियकारिणी कौसी है ?'

'वह सर्व की प्रियकारिणी का विचाद था। और भी अधिक प्रिय लगी थी तुम, अपनी उस चरम विरह-वेदना में। ' 'और अब आज तो, बरसों की आहुति के बाद, तुम्हारी अनिन सोम बनकर भर रही है तुम्हारे सर्वांग में। सोम तो मुझा है, रानी। मुशा-सरोवर के तट पर कल्य-न्तराएं बन आयी हैं, आज तुम्हारी बाहुरे। इन फूलों में मृत्यु कौसी है ?'

'इत्तर नहीं मिला, देवता, भाषा में समझा नहीं सकूँगी ।'

'तो मेरी स्थार्ण तुम तक नहीं पहुँच सका, प्राण !'

और महाराज अंजुलि-से नम्रीभूत हो रानी को निहारते रह गये ।

सोपसुधा से छलकती गहरी आँखों से विश्वासा, महाराज की उन आँखों में बैबस ढलक पड़ी ।

'... औंधरी जो हो मई हूँ, मृत्यु । तुम्हारा दोष नहीं, अपने इस विचित्र भन से हार मई हूँ ।'

'बहीं मेरा प्रवेश नहीं ?'

"क्यों कातर हो गये ! मेरे अणु-अणु में तुम्हारा प्रवेश निर्बाध है । पर मेरी चेतना की यह धर्मिय, किसी तरह खुल नहीं पा रही । और तुम्हें अपने भीतर लेकर भी, बार-बार मैं तुमसे बिछुड़ी ही रह गई हूँ ।"

'तो मुझो, उस ग्रंथि को भेदे बिना मुझे भी चैन नहीं । ...'

'तो और आगे आओ, मेरी बेदना के ज्वालादेश को पार करते चले जाओ ! ... विश्वास रखो, तुम्हें जलने नहीं दूँगी । ...'

'तुम मुझे खीचती चली जाना : तुम्हारी कलाई की तनिमा, तुम्हारी मुट्ठी का मार्दव मुझे अव्यावश्यक कर देगा । तब तुम्हारा पूर्णकाम पुरुष, तुम जहीं तक चाहोगी, चला आयेगा तुम्हारे भीतर ।'

'उस अथाह अन्धकार का अन्त नहीं, देवता ! मेरे छोर पर पहुँच कर, मृत्यु की खंडक में कूद जाना होगा ।'

'कूद जाऊँगा, क्योंकि तुम्हें पाकर प्रसीति हो गई है, कि मृत्यु ही जीवन का अन्त नहीं है । उस अन्धकार में भी तुम्हीं हो, मृत्यु में भी तुम्हीं हो, और पर पार के तट पर भी तुम्हीं खड़ी हो, एक नये सूर्योदय में ।'

'आह, अपूर्व है आज की यह रात । ग्रंथिभ्रेत की रात ! मेरे चिर दिन के मूद्रित कमज़ोश में, आज तुमने यह कैसी सिरहन जगा दी है । पांखुरी-मासुरी में एक लोहित ज्वाला खेल गयी है । ... फूट आने को व्याकुल हो उठा है कमल । पर उसके हार्द की ग्रंथि ... मेरे पुरुष के तेज का अन्तिम आघात चाहती है । ... अपूर्व है यह रात, मेरे सूर्य, जिसमें तुम डगा चाहते हो ।'

'... जो, तुम्हारी औंधियारी खंडक के तट पर प्रस्तुत है । अपगी आँखों से एक शार कह दो : और इस मृत्यु में कूद पड़ूँगा । ...'

'तो कद पड़ो, आत्मन् ! मैं ही वह खंडक हूँ । ओ दिगम्बर पुरुष मुझे भेदी, मुझे पार करो । ... और जानो कि मैं कौन हूँ । ... ? इस पार मिलन संभव नहीं ।'



श्री जाई लालनालय

बघाना—नीमच (म, प.)

मर्यादा तोड़ बहता महासागर

... स्वदक की गुफा अपने ही को पार कर नहीं। इस तट पर अधिरा भी नहीं है, उजासा भी नहीं है। केवल अपनी ही आमा है। अपने सिवाय यहीं और कोई नहीं। अपनी ही प्रभा के विस्तार में अकेली लेटी हैं।

यह कैसी समरता है...। भीतर के जाने किस उद्गम से यह उभड़ी चली आ रही है। केवल स्पर्शबोध शेष रह गया है। अपनी ही छुबन से आप ऊंचिल हैं। सत्यी इन्द्रियों इस ऊंचिलता में तिरोलीन हो रही हैं।

समूचे अवकाश में यह कैसा अव्यावाध मार्दव व्याप गया है। जाने कैसी एक सुनस्पता का सोष अंग-अंग में भर आया है। स्वयम् ही अपने से चुकित : स्वयम् ही अपने से आलिंगित हैं। भीतर से उमड़ कर, जाने कैसा यह इब सुन्दे आप्साक्षित किये दे रहा है। देह की घनता और अवयवों के आकार इसमें रह-रहकर सिरा जाते हैं, और फिर उमर जाते हैं। किसी विशुद्ध एकमेष्व इव्य के अविरिक्त और कुछ नहीं। निरी नग्न सत्ता रह गई हैं : अपने ही बहावों और सचावों में, मनवाहे आकार धारण करती हुईं।

... यह कैसी सुरभित-सी गहन तंद्रा आवरित किये ले रही है। अपने को, अपने ही से ओसल होते देख रही हैं। नममता, मार्दव, सुगन्ध, संगीत के एकाकार समृद्धि में इबी जा रही हैं। ...

... यह क्या देख रही है ? ... मेरी दोनों जुड़ी जंथावों के गहराव में एक कवलीवन कसमसा रहा है। कवली-संस्थों की कई-कई सरणियाँ मेरे दोनों उख्तों में से उग आई हैं—जाने कितनी जाँचें : नम्बे-नम्बे पैरों की एक परम्परा, उनकी उंचलियों में फूटती हजारों उंचलियाँ। उनमें यह कैमी ज्ञातिलता है ! इसमें से कोई घनत्व आकार धारण किया चाहता है। सारा उद्देश पिंडल कर नये मिरे से एक पिण्ड में घनीभूत हो रहा है।

“यह ज्या देख रही हैं, किसी अचीन्ही गुफा में से, ऊपर को उठी आ रही एक शुण्ड़ : उसमें से शार्णायित हो उठी हैं सात सूँड़ें। फिर एक रण्डमुण्ड विषाल पशु-कम्या।” औह, अपनी चिंधाह से दिग्नतों को हिलाता छन्द का ऐरावत हाथी : मेरे जगनदेश पर बढ़ा है : अपनी कई-कई सूँडों से आकाश को छाता हुआ।

“देखते-नेकते वह हवा ने तीरते बोले न लिए धूम।” पूरा बादल उजलता-सा ऊपर आने लगा है। चन्द्रमा की एक द्रवित-सी शिला। उसमें तरणायित होती-सी एक प्रचण्ड आकृति। “अरे यह तो बूझ है, बड़ा सारा सफेद बैल। इसके बौहे कन्धों में जैसे नगाहे बज रहे हैं। और पूरे आसमान की यह नीली धास की तरह चर रहा है।”

“इसकी कूकड़ में से खुल पड़ि है एक भयावही गुफा। उसके बट्टानी गर्भ में घुमड़ रहा है, प्रचलन मंड गर्जन। सहसा गुफा-द्वार में कट पड़ी एक दहाड़ : एक दिरादृ श्वेत लिह लाल धारियों वाला : उसकी विपुल सौनहसी अयास में सूरज अन्तरित है।” लो, वह पर्वत से पर्वत तक छलांगें झरता हुआ, अितिज के मण्डल को फांद गया।

“उसके बहुआड़ीय पदावात से और अंतिम दहाड़ से मेरी चिलिकी की रेखाएँ सौकलों-सी टूट पड़ी। मेरी नाभि में से प्रस्फुटित हो उठा एक दिग्नतव्यापी लोस कमल : कमल पर कमल, उस पर फिर कमल।” कमलों की आकाशगामी गम्भकुटी : शीर्ष पर आसीन है यह कौन दिव्यांगी मुन्दरी। “लक्ष्मी ! और उस पर कोलों और से फुण्डों हाटा कलश ढाकते दो गजराज।” अरे वह तो और कोई नहीं है, मेरी ही थी-जोभा वहाँ आकार से उठी है। “और अपनी भरी-भरी बाहुएँ उठा कर, मैं स्वयंभू ही तो अपना अभिषेक कर रही हूँ।”—केदस मैं।

“गोष रह गया अभिषेक-जल का हूर जाता शात प्रकाह। उस पर बंतरिक्ष में से कूल आयी हैं, दो मंदार फूलों की मालाएँ। शाती हुई मालाएँ।” बहुत हूर जाती हुई। “बहुत पास आती हुई।” उनमें से चू पड़ा एक फूल।

“और यह ज्या : वह कूल मेरे कुन्तलों के घने नीले पारावार में उग आया है, एक बड़ा सारा विपुलाकार चन्द्रमा होकर। पूर्ण चन्द्रमण्डल, ताराओं से घिरा हुआ। अरे यह तो मेरा ही चेहरा है। ऐसा कि उसे प्यार करने को जी चाहता है। पर अपने ही चेहरे कोई कैसे चूमे ?”

“मैंने अपने से ही लज्जा कर, मूँह अपनी छाती में छुपा लिया।” नहीं, यह मेरी छाती का कोमल शहराब नहीं : यह उदयाचल का उत्तुग, काढोर उधार है। और उस पर उदीयमान है, एक प्रकाण्ड प्रतापी सूर्य।”

“ उसके असहु उत्ताप से व्याकुल होकर मैंने अपनी दोनों हथेलियों से बद्धने वाममण्डल को कस कर आच्छादित कर लिया । ” तो क्या देखती हूँ कि वे मेरे उरोज नहीं, दो सुवर्ण के कुम्भ अधर में उत्तोलित हैं, लाल कमलों से ढके हुए । ”

“ लो, दोनों कुम्भ संयुक्त हो गये । उस संयुति में से खुभ पड़ा एक नीलमी सरोवर । उसमें कीड़ा करती तैर रही है, दो मछलियाँ । नहीं, ये तो मेरी ही जाम्बी-अम्बी कान-चूमती आईं हैं । ”

“ सजल हो आयी मेरी आईं, अपने ही सौन्दर्य के इस साक्षात्कार से । देखते-देखते, मेरा चेहरा प्रफुल्ल तैरते कमलों की केसर से पीला एक सरोवर हो गया । द्रवित सोने के जल से वह छलक रहा है । ” लो, वे पानी फैलते ही जा रहे हैं, निगाहों के पार । और देख रही हैं, एक तरঙ्गों से हिलोलित, विभूष्य महासागर । ” और देखते-देखते यह समुद्र, अपने लट की मर्यादों तोड़कर वह निकला है । अनर्थ । समुद्र ने प्रकृति के नियम को अंग कर दिया । एक प्रलय की बहिया से घिर गई हूँ । ”

“ हूँने ही को थी, कि मेरे लिलार का तिलक मेरु पर्वत बनकर उभीत हो उठा । उसके शिखर पर आसीन है एक अखण्ड हीटे का सिंहासन : वह जाने किसकी प्रतीक्षा में है । उसके पादतल में फैली हजारों सृष्टिर्थ प्रतीक्षामान हैं ।

“ और यह तो सिंहासन नहीं, रत्नों की रैंगियों, वातावरनों, जालियों वाला कोई स्वर्गिक विमान है, अन्तरिक्ष में तैरता हुआ । ” और भीतर वह कौन लेटी है, प्रसूति की श्रैया पर ।

“ उस आसम प्रसविनी माँ के उस प्रदेश को भेद कर उठ आया किसी नागेन्द्र का भवन । पृथ्वी-गर्भ के अनादि नागेन्द्र, अपने कणामण्डल से समूचे लोक को छा कर, स्वर्गी के बैश्व द्वारा ललकार रहे हैं । धरती ने द्यावा को हतप्रभ कर दिया है । ”

“ नागेन्द्र का वह उभीत कणामण्डल, देखते-देखते रत्नों की एक स्तूपाकार हैरी हो गया । उसकी चूड़ा सिद्धिला को चूम रही है : उसके पादमूल में नरकों की सात पृथिव्यी आनन्द में रोमांचित हैं । ”

“ और जाने कब, वह रत्नों का स्तूप विगलित होकर, दिक्काल व्यापी ज्वालाओं से जाज्वल्यमान हो उठा । देख रही हैं, एक कोणाकार विशाट् अग्निशिखा । गूगर्भ के हृष्ण कुण्ड में से उठकर, व्योम में लपलपाती हुई एक निर्झम

ज्ञाना ! औह, अंगिरा ! ... ये दुर्दन्त अग्नि, अन्तरिक्ष के पटलों को भेदते हुए, कण-कण को प्रज्वलित किये दे रहे हैं। और साक्षात् देवतानार ... विश्व पुरुष ! मेरी ही उठ-गृहा में से उठकर ये घघक रहे हैं। मैं कौप-कौप आई : ये कौनसी आहृति चाहते हैं ? मेरी देह के अस्थिनंध, स्नायुबंध टूट रहे हैं। ... हौं, मूँह ही बाहृति हो जाना है। ... शान्तम् ... शान्तम् ... देवता ! लौ, मैं आई ! ...

... और विपल मात्र में पाया कि, वह विराट् वल्लभदल मेरे ही भीतर अन्तरधान हो गया। ...

... यह कैसी गहन शांति अनुभव यह नहीं है। सारी देह, जीते और जीत सरोबर ही गई है। और मेरे उस अन्तर-गृहर में से उठ आया एक विशाल घघक दैत्य। मेरे वक्ष-नट पर वह खड़ा है। और उसकी टीणों के बीच सोक-सोकान्तर झाँक रहे हैं। कितना प्रीतिकर और सुखद है, इसका स्थग्न ! ... और मेरी पुलकित रोमालियों में संचरित होता हुआ, वह पीत-धबल कृषभ मेरे मुख में प्रवेश कर गया।

... यह कौन आ रहा है, मेरी छाती में नात मारता हुआ ? उस अपूर्व सुखद पदाधात से मैं जाग उठी। ...

मचेत होकर पाया कि अपने कक्ष में ही हैं। अपनी शिया में बहुत जात समाधीत लेटी हैं। एक भारहीन फूल की तरह। ... भीतर-बाहर सब कुछ विश्व हो गया है। प्रसन्न जिज्ञासा के साथ सोच रही हैं : कहाँ-नहाँ थूम आयी हैं। सप्तों के जाने किस घेताघ देश में यात्रित थीं। एक ही स्वप्न कक्ष में, जाने कितने सप्तनौकी एक चित्रमाला छुलती चली गई। ... और मेरी समूची बेतना अनोखे उत्त्वास से उभेजित है।

इस सुख को अपने ही में समाकार न रख सकी। उठ कर 'उनके' पायताने आ दैठी। 'उनकी' पगतलियों पर भाया ढालकर, संकुचित-सी लेट गयी। मन ही मन पुकारा : 'देवता, इतने प्रिय तो तुम पहले कभी नहीं लगे। मैं कृतकाम हो गई। ...'

'ओ ... प्रियकारिणी !'

उठकर वे मेरे उनके केशों को चूपचाप सहस्राते रहे।

'ठो ... क्या बात है, विदेहा ?'

... उठकर, उनकी गोद में सिमट गई ... और फिर अरे-अरे गमे से, अपनी स्वप्न-यात्रा की कथा उन्हें सुनाती चली चर्दी। ...

'क्यों चुप हो गये ? कहो न, क्या रहस्य है, सपनों की इस माया भरी अलौकिक यात्रा का ?'

फिर भी वे मुस्कुराते हुए, चुपचाप बड़ी देर तक एकटक मेरा मुख देखते रह गये। मैं लाज से ढलकी पलकें मात्र ही रही। फिर धीरे से मेरी बाहों को सह-साते हुए वे बोले : 'आत्मन्, आज की रात, हम दो नहीं रहे। संयुति का यह सुन्दर अवस्था है। ... सुम्हारे कर्त्ता धर्म हो भई। केवल एक देश और काल का नहीं, विलोक और विकाल का चक्रवर्ती सुम्हारे गर्भ में आया है।'

'नाथ, समझ नहीं पा रही, कुछ भी !'

'वही है पर्वत से पर्वत तक छलांग भरता सिंह ! वही है मर्यादा तोड़कर बहुता महासागर ! वही है सुमेह शृंग पर प्रतीक्षमान हीरक सिंहासन का, आगमी अद्विक्षर ! वही है निर्धूम बन्हुभान अग्नि-पुरुष ! लोक के समस्त दुःखों का छ्वासक : धर्मचक्रेश्वर ! ...'

'मेरे देवता ! ...'

'कीर्तिकर की भावी जनेता को, सिद्धार्थ प्रणाम करता है।'

अपने पद्मनाभ पर झुक आये उनके भाल को, मैंने बाहों में याम, अपनी भर-भर आयी छाती से सटा लिया।

... दूरियों में ये कैसी अयकारे सुनायी पढ़ रही हैं।

ओ मेरी देह के सारांश

आकाश की बहुती नीनिमा में से, जैसे किसी शिल्पी ने तराश दिया हो, ऐसा पारदर्शी लगता है यह कक्ष। और मानो लहरों से निभित गँया पर लेटी है।

दूरियों में आती हुई कई विचित्र बादों की समन्वित सुराखलियाँ। शंख-ध्वनियाँ और णहनाड़ियाँ। पानीली गहराइयों में, शंख में गरजता एक पूरा समुद्र। महराती हुई एक भंड गभीर संगीत की शामिनी। सारे बालाकरण में व्याप रही, नृत्य की तानाढ़ुङ्कारें। यह राजियों के प्रदय-वर्चिलद में छु रही। सारा दिन लघकारी और चित्रसारी करता रहता है।

‘उस गत स्वप्न देखकर जागी तब से मानो सपनों के देश में ही जीना चल रहा है। मेरे आसपास के सरिया कौशेय पहने, जाने कितनी सारी बालाएँ सदा चिरी रहती हैं। एक ही रूप के सचिं में छली हैं, ये सब सुन्दरियाँ। इनके शरीरों में से विचित्र फूलों की-सी महक आती है। मौ आजकल बेशाली से आपी हुई है। इन लड़कियों के थारे में उनसे जिजासा की थी। मेरे विरमय का समाधान करते हुए वे बीतीं।’

‘गे दिग्नों से आयी हुई छण्ड दिक्कुमारियाँ हैं, लाली! देवलोक ने इन्हें तेरी सेवा में नियुक्त किया है।’

‘देवलोकों की बात कहानियों में ज़रूर सुनी है। पर खरती पर, और वह भी मेरी सेवा में देवियाँ आ गयी हैं! विचित्र लगता है न। और तो कहीं ऐसा देखा-मुना नहीं, माँ! ’

‘देख लाली, हमने देखा-मुना ही कितना है। जितना देख पाने हैं, क्या कही सब कुछ है? अमण प्रीतिकर ने एक बार बताया था: जाने कितने ही जगत् हैं, लोक-लोकान्तर हैं। जाने कितने ही वैभव, विभूतियाँ, सौन्दर्य और आश्चर्य लोक में जहाँ-तहाँ विद्यमान हैं। हमारा ज्ञान सीमित है। इन्द्रियों से जितना हम

देख-जान, सुन पाते हैं, उससे परे भी बहुत कुछ है। ज्ञानों के अकाश सुख है, वैभव है : नरकों की अकथ यातनाएँ हैं। संयोगवश सामने आने पर ही हम उन्हें अनुभव करते हैं। नहीं तो पार नहीं है पदार्थ का।'

'हमारा ज्ञान तो, माना, सीमित है, माँ। पर कोई ऐसा ज्ञानी है भी कही, जो हर समय सब कुछ जानता है, देखता है ?'

'वहीं तो तेरे गर्भ में आया है, लाली। पूर्णज्ञानी, केवलज्ञानी। इसी से तो, हमारे ज्ञान से परे, अनन्त ज्ञान-क्षेत्रों की कस्तुरी यहाँ प्रकट हुई है।'

यों ही पूछ लिया था माँ से। पर एक अचल प्रतीति मन में सदा बनी रहती है। भीतर जमने कितने रहस्यों की मंजूषाएँ खुलती रहती हैं। सब-कुछ भीकासी ही बनता है।

ये दिक्कुमारियाँ नाना प्रकार की अजूबा चमत्राएँ लायी हैं मेरे लिए। एक लड़की ने मुझे मर्कतमणि की कंधी दी है। उससे बाल क्षेत्राती हैं, तो केशों में आपोआण ही, विचित्र लकड़पत्रियों की छार रख जाती है। एक लड़का ने झोई रेशी पारदर्शी शिला दी है, जिसमें एक लील सुदा नहराती रहती है। किसी ने बड़ी सारी सीप के करण्डक में एक ऐसा मूर्खाफल दिया है, जिसमें पूर्ण चन्द्रोदय के तले आलोड़ित जीवन्त समुद्र की अनुभूति होती है। मेरे हाथों में हन्दोनि ऐसे बलय पहना दिये हैं, और वेरों में ऐसे नपुर, कि औचक ही लहि जब हतमे से संगीत और नृत्य की शूक्ष्म छवनियाँ सुनाई पहुँचे लगती हैं।

‘‘दिन, सप्ताह, मास वैमालम् में बीतते जा रहे हैं। मूजे तो मानो कुछ करता ही नहीं पड़ता। करने की डचला भी नहीं होती। जो आवश्यक है, वह अपने आप होता रहता है। सौन्दर्य की तरणों-सी ये लड़कियाँ, मदा मेरी नाना सेवायें करती दिखायी पड़ती हैं। विषुव व्यंजनों से भरे स्वर्ण चाल सामने धर देती हैं। एकाध घीर का चम्पन, किसी फल की एक कींक, एकाध द्वाध। बस, तृप्त हो जाती हैं। ताम्बूल लिये सामने लड़की लड़की, डाल की नोक पर बैठे लोती-सी लगती हैं। पान के स्वाद में बन-सरसी पर छायी लताओं की शीतलता अनुभूत होती है। ये गब मिलकर स्नान, उबरन, प्रसाधन करती हैं। तब जैसे किसी गंध-सरोबर में मुगुल हो जाती हैं। केज-विन्यास करती हुई, जाने कितनी पहेलियाँ पूछ, ये भेरा भनोविनोद करती हैं। इन पहेलियों में कई पश्नों के उत्तर अपने आप भेरे मन में सुरित हो जाते हैं। जैसे ज्ञान की राशियाँ खुल रही हीं। ये कहानियाँ सुनाती हैं, की कितने ही जन्मान्तरों के सम्बोदनों में एक साथ जीती

चली जाती हैं। इनके समवेत संगीत-नृत्यों में, कितनी ही रागिनियों, लयों, लालों के मूर्त स्वरूप अँखों के सामने चित्रित हो जाते हैं।

ऐसा लगता है जैसे भृष्टि के केन्द्र में, किसी विशाल अवश्यक की छाया में लटी है। एक श्वेत तन्त्रिलता में वही जा रही है। और आसपास कितने ही देश-कानून, बीणा की संगीत सुरावलियों में आरोहित-अवरोहित होते रहते हैं।

‘‘कभी-कभी एकाएक, सामने के दीवाल-दर्पण में अपने प्रतिबिम्ब पर निशाह चली जाती है। लगता है, मेरा चेहरा नहीं है, हिरण्यबसी के सुहूर दिग्न्त पर फूटनी उषा की स्वाणभिंत है। अभी-अभी सूर्य की रक्षितम कोर सौकेने को है। मेरे हृदय में जैसे वह कहीं कसक रही है। कैसी विद्यम यसुर कसक है। सारा शरीर ऐसा लगता है, जैसे पीले मकरन्द के सरोवर में नहा कर, निर्वासन उठी है। प्रत्येक अवश्य में एक द्वाभा-सी छिटकी है।

मोजन, बसन, सुगन्धि, शुगार, किसी भी भोग की कोई इहा भन में नहीं जागती। कोई चाव नहीं, चुनाव नहीं। एक सहज तृप्ति भीतर से ही उभड़ती रहती है। ‘‘दातायन पर कभी-कभी जा बैठती है। दूरियों में फैले भू, चु, जल, वनस्पति के प्रान्तर ऐसे लगते हैं, जैसे सर्वत्र मेरा ही अंचिल फैला हो। पौधों में हैं जैसे मेरे उरोओं में आबढ़ हैं। और उनके बीच के गहराव में, सारी नदियाँ एक आप समुद्र में मिल रही हैं। मेरी जंशाओं की घाटियों में, विशाल पशु-सृष्टियाँ जमायी हैं। उह-गुहा में रह-रह कर कोई केसरी गरज उठता है। कुछ भी बपना या पराया नहीं लगता। सभी कुछ अपना है; सभी कुछ पराया है। कोई समता-माया अलग से नहीं: कण-कण के साथ, धर पर है।’‘ किर भी एकदम ब्रकेसी, अलग, किसी अंशत तट पर निष्पल खड़ी है। और केवल देख रही है।’‘

* * *

‘‘पर कल आधी रात से अथानक यह कैसी उल्कट संवासना, मेरे प्राण में सुलग उठी है। यह कोपल यसुण सुख-नीया, यह परिचर्या, यह दिव्य ऐश्वर्य, वे रसों की दीकारें, वे माहसों के परकोट भूमि कारागार-से नाश रहे हैं। मेरे रस की दूद-नूद में यह कैसा दुःखें आलोड़न है, उत्सोधन है। अंम-बंग में यह कैसी कसमेवाहट है। ऐसी उदाम है यह उल्कंठा, कि मेरी नस-नस इसके असह्य उद्देश्य से कापि रही है। कई यहीनों से सारी इच्छाएं सो गयी हैं। पर मेरे अंतिम प्राण की यह महाबासना, हर जारीरिक, ऐनिक इच्छा से परे की है। एक दुर्दीन अभीप्सा, जिसमें सारी इच्छाएं एकीभूत और समाहित हैं। एकमेव, एकाह, बनिवारि नहा इच्छा।

‘...ऐसी एक निर्बन्ध संवादना, जो कि शुद्ध किया है। भाव, विचार, विकल्प से परे, वह जो मात्र होना है। सोच नहीं, अनुभव नहीं, मात्र जिसे पूरी होना चाहिये। अभी, यही, इसी क्षण। इसकी कल्पना मेरे भानुषिक मन में संभव नहीं। मुझसे परे की यह कोई दुष्टित्व महाशक्ति है, स्वायत्त इच्छा है, स्वयम्भू किया है। ऊर्जा के इस महाप्रवाह में, मैं कोई नहीं, मेरा निर्णय कोई अर्थ नहीं रखता।’

‘...नहीं, अब और रुक नहीं सकती। जाना होगा, तत्काल, इसी क्षण। वहीं...? नहीं माशूप।

‘दिक्कुमारियो, सब चली जाओ यहाँ से। मैं तुम्हारे दिग्नीतों की मर्यादा में नहीं हूँ, और अब...!’

‘जो आज्ञा महादेवी! कुछ और आदेश?’

‘श्री, ही, धूति, कोति, लक्ष्मी, बुद्धि, विभूति, तुम सब जाओ। मेरे पास रहे अकेली वह तत्त्वंगी कल्पा करी...!’

निमिष मात्र में सब कुमारियाँ वहीं से चली गईं।

‘कर्तीकारी कामरूपिण्य...! देवी, आओ मेरे पास।’

‘बोलो, माँ...’

‘धन-विहार को चलो मेरे साथ। तुम्हें मेरे रथ का सारभ्य करना होगा।’

‘और कौन चलेगा? संरक्षक अष्टवारोही?’

‘कोई नहीं: केवल मैं और तुम।’

‘महाराज की अनुमति?’

‘सारी आज्ञाओं से ऊपर है यह आज्ञा, अनिष्टर।’

‘माँ...!’

‘कर्तीकारी, अन्तःपुर के उत्तरी गुप्त द्वार पर रथ प्रस्तुत है।’

‘कहाँ से कैसे, कैसे?’

‘मैं देख रही हूँ। वह वही है। चलो।’

मैं नहीं, कोई तीसरी ही किया-शक्ति भुजमें से बोल रही है। कक्ष से द्वार तक अदीठ, निर्बाध मैं चली आयी। मेरा ‘अम्बर-तिलक’ नामा रथ वहीं प्रतीक्षा में था।

अविलम्ब में रथ पर जा दैटी। और कलोना ने चलाकों को गुड़ अटका दिया, और रथ हवा पर आगोहण करने लगा। एक अजल्ल चेष्ट में, जाने कब कैसे, जाने कितने ही बन-उपचर, नदियाँ, अराण्य, पर्वत पार होने ले गये। चिरकाल से अगम्य कहा जाता, उद्धार-कर्तार भी हम पार कर गये। उत्तुग, दुर्दृष्ट हिमवान की उपत्यका पे जाकर, रथ आपोआग ही स्तम्भित हो गया।

'कलीकारी, यहीं रहो तुम, ... मैं अभी आती हूँ ... !'

'मौ ... अकेली ?'

'नहीं, मैं अकेली नहीं हूँ।'

जाने कितनी दुर्मिंग बीहड़ पहाड़ियों, चट्ठानों, झाड़-झाड़ों की मैं पार करती ही चली गई। अभिला नहीं : सूखेवंश की आदा धनाणी। शूर्य।

एक प्रचण्ड प्रणात के ब्रह्मांडीय घोव से आकृष्ट, एक महागुफा के हिमावृत द्वार पर मैंने अपने को खड़ा पाया। अफाट धबलिमा के बीच छाँकते उस महान्धकार की नीतिमा में, कैसा दुर्निवार सम्पोहन है। मैं अब खड़ी नहीं रह सकती ... ।

एक उद्धीर्व विशाल हिमानी चट्ठान पर जाकर मैं लैट गयी। जाने कब मेरी आँखें मिच गई। देखा, अपने उस रुद्धण का। निरावरण प्रकृत मैं, उस हिमानी के भीतर से ही उभर आयी-सी बहाँ प्रलम्बायभान हैं। उन्मुक्त फैली हैं, निर्गम्य, मेरी बाहुए, मेरी जंघाएँ। भानव के पद-भवार में परे हैं यह प्रदेश। मेरे ऊपर काया है, निःसीम उज्ज्वल नरन आकाश।

एक निगृह भमं-भीड़ा मेरे उद्भित्र होने जा रहे हैं मेरे वक्षोज। ऊपर और ऊपर, ... और ऊपर। सहस्र ही एक निधान से अन्तरिक्ष धर्या उठे। मेरी आनन्द-बेदना अगार हो रही है। ... पन मात्र में ही चेतना छूट गई। किसी अनांतम बोध के स्तर पर मैंने देखा :

एक प्रचण्ड मुवण सिंह मेरे अंग-अंग को महसाता हुआ, अवश समर्पित होकर, मेरे एक उरोज को पीने लगा। इस दंश की कठोरता, कूरता, सारे मार्दों में अधिक मधुर है, आलहादक है। उसकी आदिम हिमता, मेरे निःशेष उत्सर्वित उरोज में चुक गई है। ... मैं जैसे दूध का समुद्र बन कर उमड़ पड़ी। और उस आण्लाबन में ऊभूभ होते मेरे द्वसर स्तन को पी रहा है, एवं चन्द्रमा-सा उजला दृष्टम। ... और उन दोनों को हापती मेरी बाहुओं के बलय में जाने कितनी गर्ज और हरिणों की दुकुर-दुकुर निहारती अस्त्रि। और उन आँखों में, जाने-

अनजाने राशि-राशि जोब-जन्मओं की सृष्टि, अमय, अवाध, आनन्दित, मेरे बंग-बंग में लताओं-मीं निषट गई । ॥१॥ मानो अधिन चराचर मेरे भीतर सुरक्षित, अपाल्य हो गया है । और उसके भीतर मैं जैसे अमर्य हो गई हूँ । अपनी शिगओं में संचरित होते अमृत के स्रोतों को मैंने देखा । मैं उनमें घुलती ही चली गई । और फिर नहीं रह गई ॥२॥

॥३॥ नौटकार आई तो इतनी दुरल्प और चंचल हो गई थी, कि कलीन को गोद में भर जाने किनने चुम्बनों से उसे ढाका दिया । जुडवाँ-मी सट कर हम डोतों ही, सारथी के आसन पर बैठ गई । और बार हाथों में संचरित चार बलगाओं से रथ हौकली हुई, हम साथान्त्र से दार पर आ लगी ।

न जालि, न लौटने, किसी ने हमें देखा । इस निर्वाधता के साम्राज्य की अधीशवरी पा रही हूँ अपने को । पर नमज से परे लगता है, इसका रहस्य । इसे याहने को जो नहीं चाहता । केवल इसमें क्यों जाना चाहती है ।

◆ ◆ ◆

रात के पहर, मुझ पर से पानी की पत्तों-मे सरकते जा रहे हैं । नींद हिरन हो गई है । जी की इस उमड़न और बेचैनी में अकेली हो जाना चाहती है । उसीर के विजन अलती कुमारियों से कह दिया है, जाकर विक्राम करें ।

कोमल से कोमलतर उपश्रान्तों को छाती में सटा कर लेटती हैं । पर सब व्यर्य । किसी बाहरी साधन की निराधता और मृदुता में जी की इस कलक को महारा नहीं । मंदार के गजरे, अनेक नारीक कूलों के आभरण, फैन सा हल्का अंशुक, सब फैश पर फैक दिये । झैया के गहराव में गूढ़ी-मूँझी होती चली जा रही हूँ । शरीर के कोश भी जैसे एक-एक कर उतरते जा रहे हैं ।

॥४॥ जो मेरे शरीर के शरीर, मेरी देह के सारांश, नुम्हें देखना चाहती हैं ! मेरे अन्तिम और चरम शरीर के भीतर जाने कहाँ लूपे हो तुम, ओ अतिथि, ओ अन्नात । ओ मेरे अन्तिम परिषद्य ॥५॥ चिर परिचित, फिर भी अपरिचित । भेरी ममता की मूरत ॥६॥

अपने हेर-हेर आलूलायित कुन्तलों के शीतल, सुरान्धित अन्धकार में समूची सिमट गई । यक्षित ग्रंथाभूत अंगों के भीतर, मेरा केशाविल मूँछ, छाती में विसर्जित हो गया । भीतर से भीतर के भीतर में रांशान्त होती चली गई । एक-एक कर जाने कितनी पंचुरियाँ खुलती थीं । इस अमूल पद्म के इह में देख रही

हैः एक पारदर्शी रोषनी की जिल्लिम जाली का हृदयाकार करण्डक तैर रहा है। निर्भल, अस्पृष्ट। रक्ष-मांस के भीतर होकर भी, उससे उत्तीर्ण, उसका सार-तत्त्व। और उस जाली के भीतर यह कौन स्पन्दित है? एक आरपार जिल्लिमलती, बन्द सीप में कम्पित मौती। और मौती के भीतर समृद्ध। एक उन्मुक्त ज्योति-मुज। मानवीय अवयवों का एक समुटित सौन्दर्य-मुकुल। . . . आबो न मेरी बाहों में, मेरी गोद में, मेरे ओंठ जन्म-जन्म से तुम्हें चूमने को तरस रहे हैं। . . .

. . . चूमने को मेरे ओंठ उमग आये। सचेत होकर अनुभव किया, एक चुम्बन हृदा में तैर रहा है। . . . मेरे ओंठ उमके आसपास मंडरा रहे हैं। पर वह पकड़ाई से बाहर है। मेरा रोम-रोम जाने कैसी ऊमिलता से, निराभिष पेशलता से स्पशित है, बिचुम्बित है। मेरे एक मात्र अपने . . .!

. . . और जाने कब, मैं गाढ़ी नींद में हूँ गई।



वैलोक्येश्वर का अवतरण

“इतना सम्बन्ध और वहाँ व्याप तो आज तक मुझे नहीं हुआ। देख, प्राण, मन, इदियो सहसा ही एकत्रित हो गये हैं। चित्त ही एकाम्र होकर चित्त ही गया है। अन्तर्मुख होते ही, देख रहा हूँ कि बन्द आईं कहीं और ही बुझ कर अपलक देखती रह गई हैं।

“आज भर पहले तक मैं पाइवित्य अभ्यन्त केसीकुमार यह। अब खुली आईं, अभी-अभी देखा है, अभ्यन्त केसी मुझमें से निकल कर, शीढ़ फेरे चले आ रहे हैं। देखते-देखते वे कहीं बनान्त में ओझल ही गये। और अब अनुभव कर रहा हूँ कि मैं कोई नहीं : वस केवल एक नाम-हृष्ट से परे लुढ़ मैं हूँ। यानो केवल दृष्टि हैं, अनुभूति हैं। मैं भी हूँ : वह भी हूँ। दर्शक भी मैं ही हूँ : दृश्य भी मैं ही हूँ।

बन्द आईं भीतर खुलते ही देख रहा हूँ, सभी कुछ बदल गया है। एक विराद् नीरवता सर्वत्र व्याप गयी है, और उसे सुन रहा हूँ। दिशाएँ इतनी स्वच्छ तो पहले कभी नहीं हुईं। जैसे दर्पणों के विश्व में संकान्त हो गया हूँ। तमाम चराचर इस विषय-भोलक में अपने को निहार रहा है। वातावरण में निर्वसन्ता भानो एक ऊजली नदी-सी प्रवाहित है। हौले-हौले बहुती हुवा में एक अद्भुत लयात्मकता की अनुभूति हो रही है। संगीत का ध्रुपद रह-रह कर कई चित्रों में उंभर रहा है। रागों और रसों में नवनूतन और विविक्ष सुगंधे वालित हो रही हैं।

आर की अनुभूति ही गायब हो गई है। किसी भहाप्रवाह में, एक फूल की तरह हलका होकर, अनायास तैर रहा है। भीतर की गोपनता में कहीं मुख का एक अनाहत सोता-सा उमड़ रहा है। और वह चारों ओर के चराचर में व्याप हो गया है। पहाड़, पेड़, पंछी, पर्वी, मैदान, तृण और कण-कण में सुख छलक उठा है। अकारण सुख ! लगता है जैसे नरकों की यातनाएँ इस काण जम गई हैं।

सहजावद्धि बालों से नाना संवास भोगते नारकी जीव, अपनी चिर पुराचीन यातना-
ईया से उठ कर प्रमत्न मुख्यरा उठे हैं। जीव मात्र की वह सुखानुभूति अपने स्नायुओं
में प्रवाहित-सी अनुभूत हो रही है। जैसे सभूचे देश-काल में दुःख इस क्षण अव-
सान पा गया है। प्राणि मात्र अभी और यहाँ में एकाग्र भाव से निर्बाध मुख भोग
रहे हैं।

कासनी रंग की एक विचित्र मुगच्छानुभूति के साथ, जैसे दिनभान ही बदल
गया है। छहों छहतुर्एं एक गाथ घटित हो गई हैं। उनके सम्मिलन से एक विलक्षण
सातवीं छहतु सब तरफ खिल उठी है। आसपास की इस दिग्नतच्छापी वनभूमि
में पेह-भौंके एक बारगी ही सब छहतुओं के फूलों और फलों से सद कर झुक आये
हैं। प्रहृति रस-संभार से विनत नववधु-सी जानू सिकोड़ कर लज्जानत बैठी है।
ऐसे सोहाग से दीपित तो उसे पहले कभी नहीं देखा। किस प्रियतम की अमवानी
में उसकी रूपमी ऐसी खिल उठी है ?

अरे . . . यह क्या ? मेरी आँखों से आँखु छार रहे हैं ! मैं तो कठोर बीतरागी,
श्रमण संन्यासी हूँ। अथवा तो सारे रस-राग से परे होता है। बीतरागी की आँखों में
आँखु कैसे ? नहीं, कोई व्यष्टि या विषाद नहीं है मुझमें। एक आनन्द का समूद्र भीतर
में उमड़ा चला आ रहा है ; और दिशाओं के आरपार वह रहा है। ऐसे आनन्द की
बनुभूति तो पहले कभी नहीं हुई। अकारण और अनाविल है यह आनन्द। उस
मिलन का मुख, जिसके लिए संसारी जीवन में सदा तरसता रहा, पर पा नहीं
सका।

कह सक्षम हो गई, पता ही न चला। और अब तो रात भी बीत चली है,
ऐसा लग रहा है। जैसे किसी अन्तहीन रात के सबेरे में एकाएक जाग उठा हूँ।
गाहु मुहूर्त में असंख्य अंख-ध्वनियों से आकाश का मुम्बद गुंजायमान हो उठा
है। आश्र-मंजरियों की श्रीनी-श्रीनी गण्ड में, कोयल कुहुक कर कर रही है :
यह उत्तरा-कालुनी नक्षत्र है : वैष्ण शुक्ला त्रयोदशी की पीली महीन चादिनी में
दूरागत मंजीरों की संकार मुनायी पढ़ रही है। वैषाली के प्रान्तरों में सौ-सौ
गहनाइयों की रागिनियाँ अन्तहीन हो उठी हैं। घटा-धड़ियान और मूदंगों के
बोय गहराते जा रहे हैं। . . .

एकाएक जितिज पर की अरण्यानी एक विशाल द्वार की तरह खुल पड़ी।
एक प्रटके के साथ जैसे मेरा आसन उत्थान हो गया। व्यानस्य पद्मासन में ही
ऊपर से ऊपर उठा जा रहा है। मेरे धन का कुछ भी नहीं है। मेरा कर्तृत्व मेर
नहीं रह गया है। केवल देख और अनुभव कर सकता हूँ।

‘‘बन्तरिका में कही एकाएक मेरा आसन स्थिर हो गया। सीढ़ियों की तरह कई भास्वर रंगों के चित्रपट से मेरी आँखों के सामने खुलने लगे। सोलहों स्वर्णों के अपार ऐश्वर्याली विस्तार मेरे सामने फैले हैं।’’ शानवृद्ध शमणों के मुख से सोकान्तरों और देवलोकों के बर्जन सुने थे। मान भर लिया था, पर विश्वास नहीं जमला था। आँखों के देखने से आगे भी कुछ है : उस पर मन में विकल्प कम नहीं था। पर आज तो खुली आँखों प्रस्तुत जाने कितने दिव्य लोकों के वैभव देख रहा है।’’

आँखों में तैरता एक नींय बिन्दु अन्नानक विस्फोटित हुआ। और उसकी प्रकाश-तुरंगों में से एकाएक सौधर्म स्वर्ण सांगोषणि छाकार हो उठा। रंगों से जगमगाते विशास समागार के गीर्व पर सौधर्म इन्द्र का सिंहासन कम्पायमान हो रहा है। प्रवण ग्रहापी शकेन्द्र का मुकुट मुक गया है। और उसी के साथ देव रहा है, पंक्तिवद रूप से, सोवहों स्वर्णों के तमाम इन्द्रों और देवों के मुकुट नमीभूत हो गये हैं। चौंक कर पुकारा सौधर्मेन्द्र ने :

‘‘आची, मर्त्य दृश्यी ने इस क्षण, अमरों के स्वर्ण को ललकारा है। मेरा गर्व अंदित हो गया : मेरा प्रसाप भूलूण्ठित हो गया।’’ किसने कहा ? ‘‘ओ स्वर्णों, तुम अमर नहीं हो। अमरत्व ने मर्त्यों की पृथ्वी पर जन्म लिया है।’’

शची कीपते सिंहासन पर डोलते इन्द्र के चरणों को पकड़ कर दैठ गई।

‘‘स्वामी, तुम्हारे बोलायमान सिंहासन से मेरा गर्व जाने कीसे आनन्द से रोमांचित हो रहा है। स्वर्णों की इस पराजय में अद्भुत मुख अनुष्टव हो रहा है।’’

‘‘शची ! सुनो ! सुनो : बिना बजाये ही सारे स्वर्णों भी वृद्धियाँ घोषायमान हो रही हैं। सारे दिव्य वाद्य और शंख, एक स्वर में सम्बादी होकर आपोआप बज रहे हैं।’’ आनन्द ! आनन्द !

‘‘किस बात का आनन्द, प्रभु ?’’

‘‘अस्त्र धोन के आर्यञ्जण की बैशाली नगरी में, वैलोक्येश्वर तीर्थकर का जन्म हुआ है। सर्व चराचर के शाता, परिश्राता और प्रियतम ने पृथ्वी पर बवतार लिया है। तीनों लोक और तीनों काल मर्त्य माटी में भूतिमान हुए हैं।’’

‘‘नाथ, मेरे आचल में शोर-समुद्र उमड़ रहा है।’’

‘‘समस्त स्वर्णों के सारभूत ऐश्वर्य और सौन्दर्य से शृंगार करो, शची ! हम पृथ्वी पर तीर्थकर प्रभु का जन्मोत्सव मनाने जा रहे हैं।’’

इन्ह उठकर सीधे अपने प्राणण के भानस्तम्भ के निकट गया। शीघ्र पर चतुर्मुख अहंत् प्रतिभा से प्रभास्वर, उत्तुग भणिजटित भानस्तम्भ के एक होरण में टैगा, विशाल रत्न-करण्डक उसने उतारा। अनादि-निधन है यह करण्डक। और अनन्त काल से इसमें बाल-तीर्थकर के अविनश्वर वस्त्राभूषण संजोकर रखे हुए हैं। उस करण्डक को दोनों भुजाओं में समेट कर सीधमोद्ध घबल पर्वत-कूट के समान अपने ऐरावत हाथी पर इंद्राणी सहित सवार हो गया।

‘‘एक निमिष को मेरा पलक टिमकार-सा हुआ। और अगले ही क्षण देख रहा हूँ : अन्तरिक्ष में अन्तहीन नीलम की सीढ़ियाँ सी छुलती जा रही हैं। और उन पर से ऊतर कर सोलहों स्वर्ण अपने समस्त वैभव के साथ पृथ्वी की ओर आकमान है। सहळों देव-देवांगनाओं और अप्सराओं की अर्ध-मंडलाकार पंक्तियाँ, दिव्य वाचों के तुमुल घोष और जयकारों के बीच, नृत्य करती हुई आकाश के पटलों में आरपार छा रही हैं। जैसे विराट् नीलिभा के पट पर अनन्त-रंगी रत्न-प्रभाओं का कोई ओवन्त चिन्ह किसी अदृश्य तूलिका से उत्तरता चला जा रहा है। सारा लोकाकाम देव-वृन्दुभियों के प्रबन्ध घोष से धर्म रहा है।

‘‘इसी बीच अर्दे पञ्च थे फिर जग्धरता पर लीट आया हूँ। रुद्राप्ति कम्पन की लहरें दौड़ रही हैं। पृथ्वी अपने पर्वतीय स्तरों को दोलायित करती हुई, ऊपर से उत्तरती देव-सूष्टि का स्वागत कर रही है।

क्षत्रिय-कुण्डपुर के ‘नन्दाकर्तं प्राप्ताद’ की छतें और गुम्बद, कल्पवृक्षों के बरसते फूलों से छा गये हैं। उसके कंगूरों, बाधातनों, और रेलिंगों पर अप्सराओं की पीतें नृत्य कर रही हैं। उसके गोपुर और होरण गन्धवी के समवेत संसीत-वाचों से गुजित हैं। हजारों देव-देवांगनाएँ केशरिया आमा बिखेरते हुए राज-प्राणण में अविराम ज्ञायकार कर रहे हैं।

महादेवी विश्वा के बातायन तले ऐरावत हाथी ने सुषङ उठा कर किलकारी करते हुए प्रणाम किया। इन्द्राणी ने बातायन हार से महारानी के कक्ष में प्रवेश किया। शर्षी ने लेटी हुई मानवी मी के वक्ष-पाश्व में तीर्थकर-शिशु को देखा ; हिल्लो-लिल चमुद्र की केनचूड़ा पर जलमलाता मुक्ताफल। सारे कक्ष में जैसे ज्योति के भैवर पह रहे हैं। पार्थिव मी के इस बत्सल सीन्द्यों को देखकर देवेश्वरी के मन स्वर्गी के सारे ऐश्वर्य और सुखभोग फीके पह गये।

शर्षी का अंग-अंग किसी अपूर्व स्पर्श की पुलकों से लाल हो आया। उसने हल्के-से एक महीन मोतियों का विजन छालकर मी को अवस्थापिनी निशा-

में सुला दिया। फिर एक मायामय शिशु चुपचाप उनके उरोज-तट पर लिटा दिया। और शिशु भगवान को उसने अपनी हीरक-कंकणों से इलमलाती बहिं में उठा लिया। उसकी दिव्य देह के सूक्ष्मतम्, कोभलतम् परमाणु, इस स्पर्श के मादेव में पिंडल गये। शकेन्द्र की परिमल भरी सुगोल बाहुओं का रमस-नुज, इस स्पर्श की विपुलता और शुचिता में पराजित हो गया। शिशु प्रभु को गोदी में भर इन्द्राणी चली, तो लगा कि उस छोटेसे ज्योतिमेय पिंड को अपने में समाने को उसकी छोटी बहुरक्षी चाही जा रही है।

इन्द्र ने नवमाय होकर, 'जय त्रैलोक्येश्वर !' उम्मारित करते हुए, शिशु को अपनी बहिं में झेला। उसकी दो बौखिं में प्रभु का सौन्दर्य समान सका। वंग-जंग में सहस्रों चक्र खोलकर शकेन्द्र बालक भगवान की रूपाभा को निहारता रह गया।

ठीक अपनी खुली बाँधों के सामने यह सारा दृश्य देख रहा हूँ। इन्धियी अपने से उत्सीण होकर इस दिव्य लीला के अवबोधन से सार्वक हो गई है।

देख रहा हूँ, अपनी विशाल देव-सृष्टि के साथ सौधर्मेन्द्र, तीर्थंकर शिशु को ऐरावत हाथी पर, अपनी केयूर-दीपित बाहों में उठाये, मुमेह पर्वत पर ले आ रहा है। ऐशान इन्द्र प्रभु पर श्वेत छव ताने है। सनत्कुमार और माहेन्द्र कीर-सागर की लहरों जैसे चैवर उन पर ढोल रहे हैं। स्वर्गों की बहुराणी सेनाओं और दिव्य वाखों की रागिणियों से आकाशसामने विहृत हो उठा है।

पृथ्वी के छोर, और स्वर्गों की तटबेदी के ठीक बोचेंबीच अवस्थित है मुमेह पर्वत। इसकी ऊँचाई और विस्तार का माप नहीं। यह सृष्टि का अनादि-कालीन पर्वत है। अनन्त कालों में कितने ही उदयों और प्रलयों का यह अविचल चाकी रहा है। इसके कूटों पर शोभित महावत उपननों और सरोवरों में नित्य देव-देवीयना कीड़ा करने को आते रहते हैं।

क्रमशः यह शोभायात्रा ज्योतिष पटल का उलंघन कर ऊपर जाने लगी। द्वाराबद्धित आकाश को रत्नम बनानियों को वे पार कर रहे हैं। मुमेह पर्वत की उपत्यका में पहुँच कर पहले जूलूस मद्राशाल महावन की सघन पत्निम छायाओं में से गुज़रा। फिर उसकी मेला में स्थित तन्दनबन वी घनी सुरभित मन्दार-कीर्णियों को पार किया। उसके उपरान्त सौमनस महावनी के चित्र-बैसियों से छाये काम-सरोवरों को पार कर यात्रा ने पाण्डुक बन में प्रवेश किया। और वहाँ से स्वर्णतट-चुम्बी पाण्डुक-शिला पर आरोहण किया। अनन्त कालों में इस

प्रकृत साहित्य की आवा अमन्द रही है। निरन्तर देवों के पूजाभिषेक से यह धन्यवाच और सुगन्धित रहती है। इस अर्ध-चन्द्राकार शिला पर स्वयम् काल मानो महानील मिहामन बन कर अवस्थित है। सौधमेन्द्र ने बड़ी ही मृदुता और साक्षात् से शिशु प्रभु की उम पर विराजमान किया। आसपास का तमाम जनतरिक्ष सहस्रों देव-देवांगनाओं, और नर्तित अप्सराओं से व्याप्त हो गया है।

लोकाभिक्षुर-प्रभु से देवाण्य एक गङ्गार आठ कलश पर लाये हैं। सौधमेन्द्र ने प्रथम विशाल रत्नाभ स्वर्ण-कलश उठा कर बाल तीर्थकर के मस्तक पर अभिषेक की। जलधारा बरसायी। किसलय से भी कोमल नन्हे-से प्रभु; और एक हजार आठ कलशों से उनका अभिषेक। इन्द्र शंका और भय से कौप-नीप आया। उसके हाथ का अभिषेक बारता कलश धरथराने लगा। जलधारा भंग होने वारी।

शिशु तीर्थकर इन्द्र की शंका का बोध कर मुस्करा दिये। अपने बाये पैर के अंगुठे से उन्होंने सहज लौला भाव से सुंसर पर्वत को किंचित् दबा दिया। सुंसर के मिथुन झुक गये। सारा पर्वत कम्पायमान होकर समुद्र की तरह हिल्सोलित होने लगा। कालोदधि समुद्र, तट की मर्यादा तोड़कर उछलने लगा। महाकालेश्वर ने अपनी शक्ति का परिचय दिया। निःशंक होकर, परम उल्लास से जय-उद्घाटनी करते हुए सैकड़ों देवों, इन्द्रों और माहेन्द्रों ने बनवरत जलधाराओं से भगवान का अभिषेक किया। उस अभिषेक जल में प्रवाहित कई नदियों ने स्वर्ण के पटलों की पृथ्वी की आँचल कोर से बोध दिया।

अति मृदु सुरभित अंशुओं से शिशु भगवान का अंग-सुंडन करके हन्त ने जलादि रत्न-करण्डकों में सुरक्षित वस्त्राभूषणों से उन्हें अलंकृत कर दिया।

लौट कर इन्द्राणी ने विश्व-जननी त्रिशता को भगवान के स्नान-गत्त्वादक की हल्की-सी बौछार द्वारा अवस्थापिनी निदा से जगा दिया। प्रभु को माँ की नाहों में यमा दिया। फिर यमदीश्वर को गोद में लिये बैठी जगदम्बा के चरणों में, स्वगतों की अधीश्वरी निषावर हो गई।

देख रहा है: उसी क्षण देवों, इन्द्रों तथा अपने परिजनों और पार्षदों के साथ महाराज सिद्धार्थ, प्रसुति-वाख के द्वार पर उपस्थित हुए। हर्ष-गद्गद कण्ठ से राजा बोले:

'अमर और मर्यादा साथी हैं, इस बालक के गर्भवितरण के साथ ही, हमारी बैशाली का वैभव, दिन-द्वना और रात-चौगुना वर्द्धमान होता गया है। राजमहल

और समस्त प्रजा श्री-समवदा से देंक गये हैं। इसी से हम घोषित करते हैं कि यह बालक वद्धमान के नाम से पुकारा जाये।

... बाल भागवत् वद्धमान की, समस्त लोकाकाश में अपापती जय-जयकारों के साथ मेरी भहन व्यान-समाधि उन्मम्न हो गई।

काल की धारा से बाहर की, किसी महा स्वप्नभूमि से सहसा इस स्थूल ऐन्ड्रिक शरीर में लौट आया है। पर लग रहा है, इस जागृति से वह स्वप्न अधिक सत्य था। अन्तज्ञन में, आपार मृष्टियाँ एकबारी ही झलकती रहती हैं। आज प्रतीति हुई कि हमारा ऐन्ड्रिक ज्ञान कितना सीमित है। औतर के अन्तर ऐम्बर्यो-सोकों से उसका किचित् भी परिचय नहीं। चिन्मय भूमा से, मृण्मय भूमि में लौट आया है।

... पर इसी मृण्मयी वैशाली के एक राजमहल में अन्तर-साक्षात्य का चक्रवर्ती प्रभु, रक्त-मौस की देह में जन्मा है। और अपने औतर देखा वह स्वप्न हस्ती पृथ्वी पर प्रत्यक्ष साकार हुआ है। इन्हीं युसी आँखों से उसका सौन्दर्य, प्रसाप और पराक्रम देखा है। लग रहा है, दगुण की गहावासन और चारम अभीप्ता का उत्तर मानवी नारी के गर्भ से संदेह अवशिष्ट हुआ है।

उस परिपूर्ति को अन्तर्तम में अनुभव कर रहा है। पर उसे क्या सिना है, नहीं जानता।

बाल भागवत के लीला-खेल

नन्दावतं प्राप्ताद् के चौथे अध्यात्र में, एक विशेष प्रकार के नर्थे अलिन्द का निर्माण कराया गया है। यह अष्ट-पहलू दालान आठों दिशाओं में खुला है। स्फटिक-सिंजा के शीशों से जड़े, विशद किवाड़ों से यह निर्मित है। चाहे जब में किवाड़ पूरे छोल दिये जाते हैं। हवा, आकाश और प्रकाश इस अलिन्द में आरंपार बहते हैं। इसकी छत और कर्ण भी किसी बहुत हल्के नील राम की टाढ़ों से बनाई गई है।

इस दालान के बीचोंबीच गढ़ के आकारवाला, एक उम्राराज का पालना करूँ रहा है। चरणों के अति कोमल रोमों तथा पक्षियों के मसृण परों के बिछौने पर बालक लेटा है। इसना अंचल और उद्धाम है उसके ऊंगों का संचालन, कि पालना मिना भुलाये ही भूलता रहता है। सुदक्ष वास्तुकार ने अलिन्द और पालने के घरातल को इस तरह समाप्तोजित किया है कि दूर पर बहती हिरण्यवती नदी के प्रवाह को मानो यह पालना तटदेश हो गया है। पालने का सिराहना, उद्याचल के शिखर के साथ मानो समकल है। अस्ताचल जैसे उसके पायताने लेटा है। सूर्य और चन्द्रमा बालक के अस्तक पर भास्तुकल की तरह उदय होते हैं, और उसके पायताने के टट में ही मानो अस्त होते हैं। वास्तुकला का एक अनुपम निर्दर्शन है यह अलिन्द।

आरम्भ में महारानी-माँ के शवन-कथा में पालना बौद्धा गया था। पर बालक अपने भर भी पालने में छहर नहीं पाता था। माँ और धार्य-भाताओं की सारी सावधानी और जतन के बावजूद, जाने कब गिरु, एक दुर्दम लहर की तरह चलकर फैंस पर आ गिरता था। और गिर कर रोने के बजाय, एक चौड़ी मुस्कान के साथ किलकारी कर उठता था। माँ चिन्ताकुल हुई : कैसे बच्चे को पालने में आला जाये। पालने पर बेबे सोने-बौद्धी के सारे जूनामुने, जूसरे और महीन

चंटियों के रव बालक को बहलाने में सफल न हो सके। तभी एक रात माँ को सफले में यह अलिन्द सांगोपांग दिखाई पड़ा था। एक अतिथि शिल्पी एक दिन एकाएक राजद्वार पर ग्रेकट हुआ। ठीक माँ के उस स्वप्न के अनुरूप ही, इस अलिन्द का निर्भय उसने कर दिया। 'दीवारें टूट गई' : खुली दिशाओं के बीच पालना मूलने करा। बालक-देवता ने प्रसन्न भाव से पालने में लेटे रहना स्वीकार लिया।

‘‘हिरण्यवती की लहरें सारा दिन जैसे बालक पर अपनी नीली छाया ढालती हुई बहती रहती हैं। दूरगामी बनों के मर्म-संगीत की लय और तान पर बच्चे के अंग धिगवते रहते हैं। उसकी नीनाभ कासी और्खों में समुद्र की अगाध गहराई है; पर साथ ही वे तरल स्फटिक जल की तरह पादरशी भी हैं। तमाम प्रकृति अपनी मुठमतम जीव-सूचि के साथ मानो उन और्खों में मदा झलकती रहती है। आकाश जैसे उन और्खों की कोरे बन गया है; और समुद्र उन पुतलियों की गति में बिछलता रहता है। चाहे जब बालक की ओरें अपलक और स्थिर ही जाती हैं; पुतलियों एकाग्र और निश्चल। शिशु के अंग एक विनिष्ठ ध्यान-मुड़ा वे हात-लांबे और प्रवर्णित ही रहते हैं। बड़ी देर तक यह नीना चलती है। माँ चिन्ता से उद्धिन हो जाती है। सारा अन्त गुर बालक को चलन करने की चेष्टा में हार जाता है। एक से एक अनोखे रागों में लीरियों गाई जाती है। बड़े-बड़े संगीतज्ञ अपनी तमाम विद्याओं वा जोर लगा कर, बादन-धारण करने हैं। दिव्य संख और घटा-घडियाल बजाये जाते हैं। पर बालक उस से मृश नहीं होता। फिर अपनी ही स्वतंत्र मौज से जाने कब वह इतने उड़ाम बेग और बांचलग में हाथ-नीर उछालता है कि पालने में मानो स्वयम्भू-रमण समुद्र खेलने आ गया हो।

प्रायः शिशु-हाथ के ऊंगूठे का धावन करते हैं। पर इस छीने की इतना सुलभ धावन प्रसन्न नहीं। पूरे दायें पैर को अपने ऊपर प्रत्यंचा की तरह तान कर, कह मस्ती से पैर का ऊंगूठा चूसता रहता है। माँ के स्तन दूध की उमड़न में असह्य ही उठते हैं; पर कड़ बार शिशु उन्हे धाने में मुकर जाना है। माँ अपनी वह पीड़ा किसे बताये। उसकी और्खों में अविरल आँख वहने लगते हैं। ‘‘और कभी यह होता है कि एकाएक माँ-माँ की अविराम देर नगा देता है। माँ पुचकार-चुम्लन से उसे शान्त करने की अनेक चेष्टायें करती हैं। तभी वह नझ्लद, दुरल्ल छीना अपनी नहीं उंगलियों से स्वयं ही माँ का औचल खराका कर, कंचुकिबन्द तीड़ देता है, और अविकल और्खों से ऐसा कसकर धावन करता है, कि माँ को लगता है, जैसे उसकी समूची देह द्रुष्ट बनकर उमड़ रही है। अरन्कर और्खों भरने लगती हैं, और

भारतीय भाषा की पलकों मुँदती चली जाती है। जाने कौसी आनन्द-वेदना की समाधि में वे मानो मृणित हो रहती हैं।

शिशु वर्द्धमान के असौकिक सौन्दर्य और अनोखी कीड़ाओं की बातों हवाओं में गूंजते लगते। वैशाली और उसके पढ़ीगी उत्तरों तक ही लहर हड्डी रही, उसी अपरिवर्त में नव वसन्त के भलयानिल की तरह आए गई। लोक में बात्सल्य की ऐसी लहर फैली, कि केवल वैशाली के ही नहीं, भरत-धेश के दूर-देशान्तरों और द्वीपों तक के आचाल-बृद्ध-विनिता वर्षा की नदियों की तरह नन्दावती-प्राप्ताद के छारों पर उमड़ने लगे। राजमहल की आभिजात्य मर्यादा आपोआप टूट गई। बालक को बुलाने और झूलाने झूलाने के लिए सारे दिन नर-नारियों और गालकों की एक घारा-सी बहृती रहती।

एक और भी अनुभूत घटना थी। जो भी मानव-जन उम अलिन्द के बाला-वरण में आते थे, उन्हें वही गहरे सुखद स्पन्दनों की अनुभूति होती। चारों ओर से ऊफिल होते एक अत्यन्त मृदु ज्वार में, उनके तन-मन स्तब्ध और शान्त हो जाते। उन्हें एक अजीब निविकारता और निविकारता का अनुभव होता। हृदय चंदन-सा शीतल हो जाता। स्नायुओं में ऐसे सुखद सर्प का संचार होता, कि सर्व के प्रति एक निर्लक्षण प्रेम से वे आनुल-व्याकुल हो उठते। यह अनुभूति धीरे-धीरे कुछ इस तरह लोक में व्याप चली, कि वन्य पशु-पक्षी तक एक अनिवारी आकर्षण से खिचे, निर्बिधि शिशु के पालने तक पहुँच जाते। कोई बर्जन संभव नहीं रह गया था : वे विभीत अपनी जीभों और आँखों के टीओं से बालक का रभस करने लग जाते। आमङ्ग प्रसवा मौरे इस सुख-संचार से ऐसी बेसुध हो जातीं, कि बिना प्रसव-शूल के ही अचानक वे अभेद का प्रजनन कर देतीं।

दूर-दूरान्त देशों के कवि और यात्री दुर्गम पर्वत और समुद्र लाघकर इस चिचिन्न बालक को देखते आते। उसके पालने के पास बैठ कर, उसके विवरण लिखते, काव्य रचने, लत्काल नवसंगीत गच कर गान करते।

रात के पिछले पहरों में जाने कौन आकर, बालक के सिराहाने कोई मणि-करणक धर जाता है। उसमें फेन-से हल्के अंशुक और आभरण होते हैं। दिव्य स्वाद वाले मधुपकं और सुगंधित अंगराम होते हैं। कहा जाना है, बालक के लिए ये भोग-सामग्रियों नाना देवलोकों से आती रहती हैं। इस शिशु को तो सारे मौसम गुकन्ते हैं। वसन धारण करते ही उतार कैकता है। मुक्ता-मालाओं और पहोँचियों से घोड़ी देर हर्ष की विसकारियों के साथ खेलता है। फिर चाहे जब उन्हें

लीला मात्र में तोड़ कर फर्श पर बिखरा देता है। आगंतुक लोकजन पलना छुलाते-छुलाते उन बिखरी मूक्ता-रणियों को बढ़ोत्तर लेने हैं। और औरों से छुका कर, दुर्लभ प्रमाद की तरह उन्हें अपने पास सहेज लेने हैं।

* * *

नाकुछ समय में ही शिणु ने पावना अस्त्रीकार दिया। घुटनों के बल चला न चला कि, सहसा ही वह पैरों चलता दिखाई पड़ा। तोल्ली घोली में था तो अद्विराम कलरव करता है। या किरएकदम ही मौत हो जाता है। उसकी तुतलाहट में भी जय होती है और मुख-मुड़ा में सचोट अभिव्यक्ति होती है। नगता है उसे कोई अबूल गहरी बात कहनी है। उसकी मधुर काकली में सहसा ही कविजनों को किसी बाङ्गमय का-मा बोध होता। उसके हृदयों में निनायी कविताएँ स्फुरित होतीं।

‘‘अब वह चलने लगा है, तो विश्वान महन के किल सुणह या कठ मे होगा, काहना कठिन है। पीले दीड़ती दासियों की रखवानी उसे कठिकर नहीं। और उचका कर, उन्हें ऐसी बर्जना का इंगित करता है कि लेचारी दूर खड़ी ताकती रह जाती हैं। और आप देखते-देखते जाने कहाँ चम्पत हो जाते हैं। दिन में चाहे जब बालक खो जाता है। उसकी खोज-तलाश में सारा परिकर हिन उठता है। हर बार वह नये ही स्थान में जा बैठता है। ऐसे-ऐसे कोने उसने खोज लिये हैं, जहाँ कोई झाँकता तक नहीं। एक बार सातवें खंड के एक ऊंचे गुम्बद पर चढ़ बैठा था। वहाँ से उसे उतारने में प्रतिहारियों की गमतलियाँ पसीज गई थीं। एक दिन आए पौच्छें छप्प के एक रेलिंग पर अवारोहण करने दिल्लायी पड़े थे। देखकर मई और दासियों भय से चीख उठी थीं।

बालक के हर अवयव में अद्भुत गोलाई और सुडोनता है। उसके अंगों में स्तिरध कोमल आभा के भवर पड़ते रहते हैं। हर किसी का भन उसे गोदी में पर कर दुलारने की मचलता रहता है। सुन्दरी परिचारिकाओं में कुमार को गोद खिलाने की होइ भवी रहती है। पर उसे पकड़ पाना आसान नहीं। विन्दु किसी परिचारिका को गोद उसने स्वीकार ली, तो उसकी शामत आ जाती है। उसकी सुन्दर फूलों मूँथों खेणी को चश्म हाथ के एक ही झटके में खीच कर खोल देता है। उसके तन-बदन के सारे वसनों को ऐसे खीचता और छसोटता है, कि लज्जा और बालमय से विभोर हो उसे अपने को सम्हालना कठिन हो जाता है। चाहे जब दोड़ कर किसी भी परिचारिका की चोटी खीच, उसे अपना घोड़ा बना समारी

करने आयता है। तो कभी बहुत प्यार से उसके केशपाल को अपने गले में लपेट कर, उसे चुम्बनों से ढाक देता है।

कभी उसके मन में आ जाये, तो माँ को आज्ञा देता है कि चूपचाप भ्रात्नन पर बैठ जाओ। हिलो-हुलो नहीं। एकदम चुप मूरत हो जाओ। फिर कक्ष में से आप कई शृंगार-संजूषाएँ उठा लायेंगे। बड़े कौशल से माँ का शृंगार-प्रसाधन करेंगे। फिर चुन-चुन कर अनेक असंकारों से उनके हर अंग-प्रत्यंग को सजा देंगे। तब बड़ी कलात्मक डैग्लियों से माँ का केश-विन्ध्यास कर, नित-निये छंग से जुड़ा बौधिंगे। स्वयं ही अपने भन वाहे नवीन वस्त्र उन्हीं घारण करायेंगे। बीच-बीच में माँ और परिचारिकाएँ हँसी नहीं रोक पाती हैं, तो तजंनी दिखा कर सबको धमकायेंगे। 'चुप' 'चुप' 'चुप!' और फिर अनगिनती प्रदक्षिणा भी के ओरें-दोरें देते हुए, मनवाहे गीत गायेंगे। और सब दासियों से अपने सब रचित गीतों की कड़ियाँ दुहरायेंगे। और अचानक जाने कब माँ पर टूट पड़ेंगे, और उसके एक-एक अग को ऐसे लाड से सहलायेंगे, दुलरायेंगे, चूमेंगे कि सारी परिचारिकाएँ हँस-हँस कर दुहरी हो जायेंगी। फिर बहुत मयाने बन माँ की गोद में राजा बन कर बैठ जायेंगे। तब धीरे से उनकी निवृक उठा कर कहेंगे: 'हमने तुमको इसा प्यार किया: हमें प्यार नहीं करनी?' माँ तब अपनी स्की हुई उमड़न से उम्भूत होकर इस दुलारे को छाती में बौध लेने को वाहे उठायेंगी। तो पायेंगी कि नियिष मात्र में लालजी जाने कब प्लटक कर, मारी सेविकाओं के कंधों पर छलांगें भरते हूर जा खड़े हुए हैं, और तासी बजा-बजा कर अपनी विजय घोषित कर रहे हैं कि बद्मान सबको पकड़ता है, बौद्धता है, पर स्वयं पकड़ाई में नहीं आता।

* * *

बुमार बद्मान को खेल के साथियों की खोज नहीं। अकेले अपने साथ खेलने में उसे बहुत मजा आता है। अपने लिए कई स्वायत्त खेलों के आविष्कार वह हर दिन करता रहता है। उसका एक सबसे प्यारा खेल वह भी है कि महारानी के हीरक-दर्पण जटित कक्ष में चला जाता है। उपरनीचे, और चारों दीवारों के दर्पणों में उसे अनन्त बद्मान दिखायी पड़ते हैं। उन सबको एक साथ पकड़ने को वह कक्ष में चारों ओर बेतहाशा दौड़ लगाता है। अपने सहस्रों प्रतिबिम्बों को अमय-अलग कई नाम देकर पुकारता है। दीवार में झलकते किसी एक प्रतिबिम्ब को जी भर आलिगन करता है, चूमता है, प्यार करता है, उससे तरह-तरह की छाते करता है। कभी उसे चिढ़ाता है, उस पर गुस्सा भी करता है, उसे चपते भी लगाता है। अन्ततः आनंद होकर, बीच में सुवर्ण गौकलों पर होलते रंगलाट पर जा लेता है। छत में झलकते बद्मान को सज्ज कर अपनी एक लम्बी साहस-थाना

की कहानी सुनाता है। उपसंहार में कहता है : 'अरे देखो राजा, वही छहरे रखना, तुम सफोद औड़ पर चढ़ कर, रात-दिन तुम्हारी ओर आ रहे हैं' । 'एक दिन तुमसे मिलेंगे' । 'फिर' । 'और जाने कब बालक गहरी नींद में सो जाता है।

* * *

शत्रिय-कुण्डपुर के अनेक बालक-बालिकाओं के क्षुण्ड कुमार के साथ खेलने को आने लगे हैं। कुमार ने समाम परिकार को आका दे दी है, कि सबको हमारे पास आये थे। राजव्यवहार के सारे सूक्ष्म, नियमों के बताकों के लिए, निर्वाच खुल गये हैं। पर कठोरी और दालानों में खेलना कुमार को पसन्द नहीं। वह तो पौर और प्राणियों में सबके से ही आ श्रमकता है। सबको पुकारता है : 'आओ, अरे सब आओ, मैं आ गया, मैं आ गया!' बात की बात में सैकड़ों बालक-बालिकाओं के क्षुण्ड छोड़े चले आते हैं। कुमार उच्चान के किसी मर्मरी सिंहासन पर बैठ जाता है। फिर अपने हृणित से हर दिन कोई नदा और मौलिक खेल रखता है। खेलों को दुहराना उसे पसन्द नहीं : कुछ भी दुहराना उसका स्वभाव नहीं। अपने से लगा कर, अपने भोग-उपभोग, सीला-खेल सबको वह हर दिन नये रूप में पाना चाहता है। रखना चाहता है।

कभी कहेगा : 'आओ, सब आओ, देखो मैं बीच में खड़ा हूँ। देखो मैंने हाथ पसार दिये हैं। लड़कियों, मेरी पसरी बांहों को अपने माथों पर थामो।' । 'अच्छा, अब सड़को, तुम मेरी बांहों पर पंक्ति बौद्ध कर छड़े हो जाओ।' । 'अच्छा, एक-एक सड़की मेरे कन्धों पर चढ़ जाओ' । ही, अब एक लड़का इन दी नड़कियों के माथों पर लेट जाओ। बहुत अच्छा । 'मेरा सिंहासन दिल गया' । अब मैं उस पर बैठने को आता हूँ। और फिर आप उछल कर ऐसी उड़ी लगायेंगे ऊपर को, कि सारे लड़के-लड़कियां पटखनी खा कर लुढ़कते दीखेंगे। और आप हवा में छलांगें भरते नज़र आयेंगे। हर बालक-बालिका उसे खेलने को हाथ पसारेंगे। तभी अचानक किसी दड़े-बड़े बालों बाली लड़की के दोनों कंधों पर पैर ढाले, आप मिहासन पर बैठे बज़र आयेंगे। तो कभी क्रतारन्दर-क्रतार, लड़के-लड़कियों को ऊपरा-ऊपरी चुनकर सतखण्डा महल बना देंगे। और उनके बगल-बगल के द्वारों में चक्कर लगाते हुए, सबसे ऊपर बैठी भालिका के सर पर आ बैठेंगे। इतना हलका-फुलका है यह बलशाली राजपुत, कि इसका भार किसी को पीड़क लगता ही नहीं। मानो इसे अपने ऊपर धारण कर दे सब अपने को हवा में तैरता-सा अनुभव करते हैं।

एक दिन राजकुमार अपसे राजोद्यान के सदसे ऊचे पेड़ की फुलगी पर जा बैठे। फूलों और पत्तों के बीच से सर उठाये, उस बनस्पति-जगत को अपनी नन्ही-

नन्ही उंगलियों से रथस-दुलार करने लगे। लड़के-लड़कियाँ हार बांध कर, बर्तुला-कार चारों ओर धूमर देते हुए, गाते जा रहे थे, कुमार का बनाया कोई गीत।

तभी ऊपर अन्तरिक्ष में, संजय और विजय नाम के दो चारण ऋद्धिधारी दिग्म्बर मुनि, अनुलोभ गति से तैरते विहार कर रहे थे। उनके मन में 'सत्' को लेकर शंका उत्पन्न हो गई थी। सो अस्तित्व असह्य लगने लगा था। जब 'सत्' कुछ है ही नहीं, तो हम कैसे अस्तित्व में रहें? वैशाली के आकाश में तिर्यक् गति से उड़ीयमान उन मुनि कुमारों की दृष्टि एकाएक, विशाल बृक्ष की फुगनी पर बैठे, राजपुत्र वर्ढमान पर पड़ो। उन्हें एक अदम्य आकर्षण अनुभव हुआ। वे कुमार की ओर बरबस खिचे चले आये। गलबों और फूलों से लिपटे उस भव्य कुमार का दिव्य प्रेमल स्वरूप देखकर, औचक ही मुनियों के हृदय की शंका-उंगिंशि छुन गई। लोदूङ्ह होकर वे पुकार उठे: 'सत् का साक्षात् रूप देख लिया हमने। कितनी सुन्दर, रसाल, संजीवन है सता। सत्! सत्! सत्! जीवन! जीवन! जीवन! चिरजीवो हे परम सत्, हे सन्मति, हे बास भागवत, हम नि-शंक हुए, सत् स्वरूप हुए, हमारे प्रणाम स्वीकारो।'

मुनिकुमारों को केवल वर्ढमान ने देखा। पर उनकी अन्तरिक्ष-वाणी नीचे के नालकों ने भी सुनी। वे पुकार-पुकार कर गाने लगे—'जय सन्मति हे, जय जय जय।'

और यह गीत नन्दादर्श-प्रासाद, और कुण्डपुर में अनुगृहित होता हुआ, दिग्न्दों के पोखानों में गूजता ही चला गया।

हम राजाओं के राजा हैं

बालक तीन वर्ष का है कि तेग्रह वर्ष का, निर्णय करना कठिन है। मी और पिता से तो वह तुलनाता ही है : पर युरजन कहते हैं, कि एकदम टीक जनपदी भाषा बोलता है : पंचित कहते हैं कि शूद्र संस्कृत बोलता है। परिजन सब मुनकर अचरण से ढगे-से रह जाते हैं।

“इधर एक नया उपद्रव खड़ा कर दिया उसने। राज-प्रांगण की सीमा सौंध कर नगर में भी फेरी दे आता है। राह चलते लोगों से बहियाता है। प्यार से कोई पकड़ने दौड़े तो हवा की तरह हाथ से निकल जाता है। पूजा-पाठी ब्राह्मणों की शामत आ गई : जाकर कहता है : ‘ओ भूदेव, पाठ बंद : हमारी बात मुनो ! पूजा बन्द : हमें पूजो ! यज्ञ बन्द : हमारा यज्ञ करो !’ बेचारा ब्राह्मण आपा खो देता है। ‘अग्निमीले पुरोहित’ कहते-कहते बरबस ही ‘नमः श्री बद्धमानाय !’ बोलने सक जाता है।

कब कही दिखाई पड़ जायेगा कुमार, कहना कठिन है। नगर में एक प्रवाद फैला है : और इधर राजमहल में भी पहुँच गई है। एक सचेरे किसी नगरजन ने देखा : हिरण्यवती के सट पर एक मुक्तकेशी ब्राह्मणी, बछड़े के लिए रसभाती गाय-सी दौड़ी फिर रही थी। इस ओर से दौड़ता आया कुमार बद्धमान। भान भूली ब्राह्मणी ने उसे छाती में भर लिया। उसके स्तनों से गंगा उमड़ पड़ी : हिमालय-सा उजला कुमार धाता ही चला गया। ब्राह्मणी इतनी बिकल और आत्म-विभोर हो गई, कि उसे होश ही नहीं। “एक अंतिम आचात-सा पाकर वह होश में आई। देखा कि लड़का दौड़ता हुआ कछार के पार दूर निकल गया है। आचल से ओंखें पांछती, वह स्तंभित देखती रह गई। उसे नहीं समझ आया कि कहो - जाये ! ! !

इसके बाद तो ऐसी और भी कई खबरें मिली हैं। नगर-बधुओं के पानी खोंचते हाथों की कंकण-ध्वनि में सहसा शिशु का धैर्यन छमक उछला है। हाथों

की रस्सियाँ छुटकर रहेंट पर से उतर जाती हैं। भर कर ऊपर आती गागरे, डुब-डुब कर ब्रावली की गहराई में डूब जाती हैं। इतनी सारी पनिहारिनों, और बर्तुल में घिरा नन्हा राजा। उफनते आँचलों, चूमते ओढ़ों में होड़ मच जाती है। किस आती में खो गया कुमार, पता नहीं चलता। किन्तु सब कृतार्थ भरी गागरों-सी छलकती, छमकती, साटी की गागरे कुएँ में ढुबा कर, घर लौट पड़ती हैं। सास, नन्द और पतियों को उत्तर नहीं दे पाती हैं। कोहराम मच जाता है।

बालिका हो कि युवती हो, कुंवारी हो कि व्याही हो; प्रौढ़ा हो कि बृद्धा हो, किसी भी जाति या वर्ण की हो, नगर के शह-चौराहे पर हो, या बनांगन की डगरिया में हो, गदबदा, गोग, डाल-पके आम-सा केशरिया-गुलाबी बालक हर किसी की राह रोक बार खड़ा हो जाता है: बेखटक आँचल खींच कर कहता है :

'ओ अम्मा, दूध पिलाओ' ...। तुम्हारा दूध बहुत मीठा है।' कुंवारी किसी-रियों के ही नहीं, बालिकाओं के आँचल भी, उसके निर्दोष माधव ओढ़ों को देख ककुला उठते हैं। किसी भी वय की स्त्री हो, देश-काल, सोक-ज्वाज की मर्यादा भूल, निरी मीं हो रहती है। बैशाली के चौराहे, एक अदूरे दृश्य से धन्य हो उठते हैं।

और अभी उस दिन राजन्बाले ने गोआला में जाकर अधानक पायारः कुमार बद्दमान, नन्दी गाय के चारों स्तन अपनी मुट्ठी में एक साथ पकड़ कर पी रहे हैं।

सुनकर राजकुलों की मर्यादाओं में पली त्रिशला की भोहे केंची हो गई। रोष से हपट कर बोली :

'ये कैसे अधम मचाये हैं तेने? खबरदार आज के बाद, महल से नीचे उतरा है तो। मैं क्या मर गई हूँ? हर किसी का दूध पीता फिरता है! गाय के अन भी पीने लगा है। तेरे उपद्रवों की हव हो गई है। राह चलती स्त्रियाँ? कौन हैं ये क्षेत्री ...?'

'अम्माएँ हैं, माँ' ... इतनी सारी अम्माएँ। सब मेरी अम्माएँ!'

'अरे तो मैं क्या काम पड़ गई तेरे लिए?'

'तुम तो ही ही माँ, पर मुझे सब अम्माएँ चाहिये।'

'तू मेरा बेटा है, और किसी का नहीं ...'

'तुम्हारा भी हूँ, पर केवल तुम्हारा नहीं, माँ। सगता है सब अम्माओं का बेटा हूँ।'

'अम्मा तेरी एक है, समझा! मैं ...! सब अम्माओं की बात फिर कभी न कहना ...'

दिव्यभरा, अग्र भर को सामारण नारी के एकान्त वास्तव्य-अधिकार से दृष्टिलिख हो उठी। बोली भर्तये गले से :

'मेरा आंचल तो अब तुम्हे देखा नहीं सुहाता ! सरसली रह जाती हूँ ॥ दूष-
दूष जाती है मेरी छाती ! मेरा हाथ पटक कर, भाग जासा है। दुष्ट कहीं
का ॥ ॥ ॥'

मौजों सुन्दर बढ़ी-बढ़ी आँखों में झाँसू देख कर कुमार इन्होंने भर आया।
चुपचाप पास आकर अपनी नन्हीं-नन्हीं कली ऊँगलियों से माँ के आँसू पोछ, उसे
छूब छूम-छूम लिया। और फिर माँ का मनचाहा, उसकी छाती में डसक
गया। ॥ ॥ ॥

‘‘फिर तृप्ति प्रसन्न होकर महारानी बेटे को तरह-तरह से लाइ-प्यार,
रमस-दुलार करती रहीं। एकाएक माँ का हाथ पकड़ कुभार भारात से जौहे
नक्का कर बोला :

‘‘बस इत्तीसी बात में तुम रठ गई, अम्मा ? हो ॥ हो ॥ हो ॥ मेरी अम्मा
पाश्चल है ॥ मेरी अम्मा पाश्चल है ॥’’

आँसुओं में धुलती होसी से बेतहाशार हैस कर बोझी रानी-माँ :

‘‘बोल, अब नहीं जायेगा न कहीं, मुझे छोड़ कर ?’’

‘कभी नहीं माँ, देख सेना। सुम कितनी अच्छी हो, माँ। पर पालल हो, कुछ
नहीं समझतीं ॥ ॥ ॥’’

महारानी सच ही मन ही मन अपने अज्ञान पर लजा गई। जानकर भी
बनजान हो गई। बोलीं :

‘‘समझती हूँ, लालू, सब समझती हूँ लेरे छोल ! ॥ ॥ पर, अब तू कहीं जाना
नहीं, यहीं रहना ॥ ॥ ॥’’

‘बापू के पास भी नहीं ? उन्हें प्रणाम करने भी नहीं ॥ ॥ ?’’

‘सो तो जायेगा ही ! लेकिन ॥ ॥

‘अच्छा-अच्छा ! बहुत अच्छा ! हम सब समझ दये तुम्हारे मन की बात !
किसी को बतायेंगे नहीं ! चुपचाप यहीं रहेंगे !’’

‘चकोर, चुपलखोर कहीं का ॥ ॥’’

इस निरे सरस, पर अथाह बेटे को छलछलाती आँखों से नव भरी-सी
ताकती रह गई माँ !

खिलौनों का कक्ष देख-देखान्तरों के अजूबा और चित्र-चित्र खिलौनों से मरा है। जीन देश के रंगबिरंगे, बोलते-से गुहानुही हैं। बाहीक मणियों गूढ़ी पिटारियों में तरह-तरह के रत्न के चौपड़-पासे हैं। हाथी दाँत के महल हैं। चन्दन और चम्पक-काष्ठ के रथ हैं। विशाल झीड़ा-दासान के सिरे पर मंडलाकार लोकों, ढीप-समुद्रों, पौधे भेरुओं, स्वर्ण-पटलों की रचनायें हैं। उनमें यथा स्थान कृत्रिम जंगलों छाये पर्वत हैं, सुनहरी मछलियों से भरे पानी के सरोवर हैं, नदियाँ हैं। उनमें नहीं नीकायें हैं, जिनमें ढांड चलाते हुए कुमार नीका-विहार कर सकता है। कृत्रिम बनानियों में, सबार होते हीं अपने आप चलने वाले हाथी हैं, हिरन हैं। सबारी करने को छोड़े हैं, और सिंह भी। ऐसी चन्द्रशिलाएँ हैं, जिनमें बापोआप पानी भर कर, मरसी बन जाती है : उसमें कमल खिलते हैं। . . .

कुमार का मन खेलते-खेलते, क्षण भर में ही उचट जाता है। बाहर आना तो चाचित है, सो बाहर की नमी गेसरी में जा खड़ा होता है। टकटकी लगाये मन ही मन हिरण्यकती में तेरता है, नीका विहार करता है। अपने को मुझर हिमवान के बफनी पर्वत-भूमि पर चढ़ता हृष्ण देखता है। एक दिन ऐसे ही कल्प-विहार में हिमाद्रि के एक चूड़ा-वासानन पर जा बैठा था। तभी माँ ने आकर अचानक पीछे से उसकी अंखें पीच ली। कुमार उण्ण धर्तसल हृष्टेती का स्पर्श पक्कर महल की परिषि में लौट आया :

‘मेरे छोड़ दो माँ, कैसी हो तुम भी। हमारा खेल बिगाड़ दिया। चस, तुम्हें लो प्यार और महल की जगी रहती है।’

‘खेलने में तेरा मन ही कहीं लगता है, लालू, इतने बहुमूल्य खिलौनों से मरा कीड़ा-कक्ष छोड़ कर, चाहे जब यहीं आ खड़ा होता है। क्या देखता रहता है सारा दिन यहीं?’

‘खेलता रहता हूँ माँ ! देखते-देखते सब खेल हो जाता है।’

‘खिलौने तो सब अन्दर मूँह ताक रहे हैं। यहीं काहे से खेलता है रे ?’

‘कमरे के आनंदान के खिलौनों में भेरा मन नहीं लगता, माँ ! देखो न यहीं तो सज्जीले पहाड़ हैं, नदियाँ हैं, बड़े-बड़े कमलों भेरे कालाब हैं ; वे पहाड़ की चोटियाँ मुझे बुलाती हैं, मुझसे बातें करती हैं। कहती है—मेरे पास आ, तुम्हे बपनी गुफाओं में बहुत-से गुप्त छज्जाने दिखाऊँगा। अपने झारनों में नहलाऊँगा। . . . बृहता माँ, वही एक सोनहरा आठ पैरोंवाला घोम्फ़ भी रहता है। . . . कहता है,

आ मुझ पर सवारी कर । ॥ और वहाँ कई रुपहले हिरन मेरे मित्र हो गये हैं । बहुत अच्छे लगते हैं ॥ मुझे अपनी पीठ पर चिठा, खुब सैर कराते हैं ॥ और वहाँ बेलों छाये घरोंमें कोमल-कोमल ख़रगोश रहते हैं । वह सब खिलौना बन कर मुझे भुलाते हैं । इतना प्यार करते हैं, कि मैं भी उनके साथ ख़रगोश हो जाता हूँ ।'

मुनते-मुनते माँ को सोकान्तरन्सा अनुभव हुआ । कितनी ही आदिम स्मृतियों में वह खो गई । जिमासा से भर कर बोली :

'अच्छा मानू, और क्या-क्या हैं तेरे खेल ॥ ?'

'और तरह-तरह के पेड़ हैं वहाँ । भेदभरी बनियाँ हैं । जिनकी कहानी तुम सुनाती हो । उनमें गुनहले-रुपहले सौंप हैं । बहुत प्यारे सौंप ॥ मेरे हाथ-पैरों में लिपट जाते हैं — और सर पर छक तान देते हैं । बापू का रलों का छक फीका लगता है, उसके सामने ।'

'और क्या-क्या हैं तेरे खिलौने ? कौन हैं तेरे खेल के साथी ?'

'वहाँ के सखा-सहेली तो तुमने सब छुड़ा दिये, माँ । और वे खिलौने तुम्हारे सब छोटे लगते हैं, छूठे खिलौने ! हम तो सच्चीले खिलौनों से खेलते हैं । सूरज से कभी गेंद खेलते हैं, कभी उसे लट्टू बनाकर खुमाते हैं, कभी उसे चकरी बनाकर फिराते हैं । और कभी मन में आता है, तो उसे बिमान बनाकर आसमान की सैर करते हैं । ॥ जाने कितने लोकों और देशों में वह हमें ले जाता है । तुमने सुने भी नहीं होगे, ऐसे-ऐसे देश वह हमें दिखाता है; औचारा सूरज, अच्छा लड़का है । खिलौना भी बन जाता है, साथी खिलाड़ी भी, और हमारी सवारी भी ।'

'और चाँद ?'

'अरे भाँ, चाँद के तो क्या कहते हैं ? वह तो शीतल होरों के पानी भर तालाब है । रात को तुम सो जाती हो न, तब हम उस तालाब की लहरें पर अपना बिस्तर लगाते हैं । और चाँद खुद भी आकर, हमारे साथ बैठ कर बातें करता है । और हमारी तो सब लड़कियाँ तुमने छुटा दीं । तो क्या हुआ, हवारों तारा-लड़कियाँ आकर हमें घेर सेती हैं । हमारे साथ ऑख-मिचौली खेलती हैं, धूमर नाकती हैं, हमें रंग-बिरंगे कंडील देती हैं, फानूस देती हैं । और सब मिलकर कहती हैं—जब हम पर लेट जाओ, सो जाओ, आराम करो, राजकुमार ।'

महारानी-माँ, इस शब्द न रानी रह गई है, न महल में है । न बाने कहाँ, कहीं और है । ऐसे जगत में, जो कहने में नहीं आता ।

'अच्छा लालू हमें भी अपने लेने की सौंदर्यी पता को न, हमें भी अपने दोस्रों के आँगनों में ले चलो !'

'बरे वाह, तुमने भी खूब कही, माँ ! लो अभी चलो। आओ... मेरे बहुत पास आ जाओ... आओ न माँ !'

माँ ने बेटे के विशाल मस्तक को छाती से चाप लिया। और लगा कि, सारा सोक उसके कळतट में छोड़ने-सा दुबक गया है।

माँ ने मध्यदिन की सक्रीय छोंच दी है, तो लड़का कई दिनों से अन्तःपुर की सीमा के बाहर नहीं गया। या तो उसकी बातों से, भहल से लगाकर नगर तक में कोसाहुल मच गया था। या अब एकदम ही चुप हो गया है। चुपाने पर भी किसी के पास नहीं जाता। दासियाँ दूर से ही बलायें लेती रहती हैं। उसे परखाह नहीं। माँ भी पास आने की हिम्मत, नहीं करती हैं। कभी कीड़ा-कछा में खिलीनों को देखता चुपचाप छोलता है। कभी अमिन्ड के ढोलर पर अकेला झूलता रहता है। कभी गेलरी में, और कभी इस या उस बातायन पर छड़ा, दूरियों में निगाहें खोये रहता है। माँ का मन चिन्तित, कातर हो आया। बुरा किया मैंने इसे दौध कर।

'म्यों रे लालू, मैंने तुझे छैद कर दिया न ?'

'नहीं सो। हम तो, जहाँ मन आये वहाँ जाते हैं। हमको कौन कँद कर लाता है ?'

'किसने दिनों से यहीं तो बत्त है तू !'

'बरे वाह माँ, तुम तो कुछ भी नहीं जानतीं। हम तो सब जगह हैं, भई, यहाँ भी हैं, और कहीं भी हैं।...'

'मूठा कहीं का, मुझे बनाने भी नगा है रे ?'

'सज्जी पड़या, हँड़तो फिरते ही रहते हैं। देखो न अम्मा, वह पहाड़ की ओटी है न, वह हमारी सहेली ही गई है। गलबाहीं डाल कर हमें अपने पार, जाने कहीं-कहीं धुमाती है। कित्ते देश, कित्ते लोक दिखाती है। तुम्हारी कहानियों में भी वैसे देश नहीं हैं, माँ !'

'बहुत अकेला पड़ गया है न। अकेले-अकेले तुम्हें अच्छा नहीं लगता न, बिट्ठू ! सब संगी तेरे मैंने छुटा दिये।'

'बरे नहीं माँ, तुम तो अपने ही मन से चाहे जो सोश लेती हो। हम को अकेले रहना अच्छा सगता है।'

'भूठा कहीं का, छुपाता है !'

'सच माँ, अच्छा लगता है। देखो वह हिमवान का कूट कितना अकेला है। और रात को नदी भी तो अकेली रहती है।' 'अरे वह देखो माँ, उस टहनी पर अकेली बैठी चिड़िया कित्ता बारीक गाती है। उसका गाना मैं समझने लगा है।'

'नहीं, तुमें अब अकेला नहीं रखूँगी करन से !'

'अकेला मैं कहाँ हूँ माँ !' 'मैं तो अपने साथ हूँ। अपन तो अपन के ही दोस्त ही गये हैं।' 'और देखो न, यह हवा हर समय मेरे साथ है, मुझे दुलराती रहती है। और इत्ता बड़ा आसमान, सदा मुझे ऐरे रहता है। छोड़ कर जाता ही नहीं कभी। और चाँद-सूरज, तारा-नहाकियाँ' '। और लड़के-लड़कियाँ तो छोड़कर भी चले जाते हैं। पर ऐ तो सदा जैसा जाती है। इसे सारे खेल के सच्चा-सच्चाएँ। अब तुम्हीं बताओ, मैं अकेला कहाँ हूँ ?'

'अच्छा लालू, सारे दिन क्या सोचता रहता है ? बोलता ही नहीं किसी से !'

'हम तो कुछ भी नहीं सोचते। रब देखते रहते हैं। इसी सारी चीजें हैं देखते को। और जानने को भी किता सारा है उनमें। चीज के भीतर चीज है। पिटारी के भीतर पिटारी है, देखने और जानने में किता भजा जाता है। फिर सोचना क्या ?' 'तुम भी देखो तो पता चले, माँ ? फिर सोच में कभी नहीं पढ़ोगी। समझी कि नहीं' '।'

माँ की लगा, उनकी बुद्धि से परे है मेरे बेटा। इसे पहचानना कठिन हो जाता है। इसे अपना कहने का साहस नहीं होता। पर आज उनसे रहा न गया, लगा जैसे कोई खा का जाया हाथ से निकला जा रहा है, पराया हुआ जा रहा है। एकदम मोहाकुल होकर उन्होंने उस बांहों में मर गोदी में बैठा लिया। फिर उसके माथे पर चिढ़िक टिका, अपनी उंगली से उसकी चिढ़िक उथका, उसकी बड़ी-बड़ी आँखों में आँखें उँड़ेल भरीये कण्ठ से पूछा :

'तू मेरा बेटा है न, मानू ?'

'अरे बाहू माँ, यह भी क्या पूछने की बात है। वह तो हूँ ही।'

'और तेरे बापू का बेटा है ने ?'

'हाँ, तुम कहो तो उसका भी है।'

'तू केषल मेरा बेटा है न, मेरा राजा बेटा !' सहका जोर से हँस पड़ा।

'कह तो दिया कि है। बार-बार क्या कहना !'

'सिरफ़ मेरा ललू, और किसी का नहीं !'

'ही-ही तुम्हारा भी ... !'

'भी नहीं ... ' 'मेरा ही ... ' 'बोल न !'

'ही नहीं माँ, मी !'

'इसका तो कोई अर्थ नहीं दृजा !'

'अर्थ क्यों ! नकालती हो माँ, जो हैं सो लो हैं !'

'मतलब ?'

'मतलब, तुम्हारे भी हैं हम, सब को भी हैं !'

'तो फिर हम तुम्हें नहीं रखेंगे !'

'वह देखो, सच्ची बता दें !'

'बता न ... ! छवाता क्यों है मुझे ?'

'हम तो किसी के बेटे नहीं ... ' 'अपने ही बेटे हैं !'

'मेरा और बापू का भी नहीं !'

'अच्छा तुम भी हमारी बेटी हो, बापू भी हमारे बेटे हैं, और सब अपने-अपने बेटे हैं। तुम अपनी बेटी हो, तात अपने बेटे हैं। हम अपने बेटे हैं। हम तुम दोनों के बेटे हैं। हम सब के बेटे हैं। हो गया न ठीक। और क्या चाहिये !'

माँ कुछ न समझ कर भी जैसे एक गहरे बोध में ढूब गई। उनके मन में प्रश्न रहा ही नहीं। बस आसू जर रहे हैं अविरल, आँखों से। और बेटे को समूचा अचल में समेट सक्ष्य हो गयी हैं। और छानी में वह बेटा अचल है: जो चाहें वे उसे मान लें जो चाहें उसके साथ करें, वह समर्पित है।

* * *

साँझ बेसा में महारानी-माँ कुमार को लेकर उद्धान-विहार को निकली हैं। दासियों, परिचारिकाओं से घिरी हैं। बीच में हरी द्रुक का एक बड़ा-सा रागोलाकार मण्डल है। उसके केन्द्र में अकृत्रिम-सा लगता एक भयंकर का शीढ़ा-पंखत है: उसमें जगह-जगह से फल्ग्यारे छूट रहे हैं।

कुमार चुपचाप पेढ़-पौधों, फूलों की झोभा निहारता अपने में तन्मय, छिटका-सा चल रहा है। उसकी देखने, भोजने की अपनी दृष्टि है। हर बूझ, गुलम, लता,

पत्ती, फूल को समूचा देखता है। फिर उसके रंग, आँखें, किनारों की देखता है। फिर एक-एक पत्ती, फूल, पौधुरी, उनकी बारीक नसों के तंतुजाल, और उनमें बहते हरियाले रस-रधिर, सबके साथ वह तन्मय होता चला जाता है। हवा में हिलते, मर्मराते छाल-मत्तों के इगितों को बूझता है। डोलते लताओं के आवाहन से विभीर हो जाता है। सरसियों की ऊमियाँ उम्के अंगों में कम्प जगाती हैं। उनमें छाये कमलों की मरम-केसर और पराग-रज उसके तन-मन को जाने के स्पर्श-बोध से बेसुध कर देती है।

महारानी अपने परिकर के साथ विचरती हुई, हरी दूब के उस विस्तृत मंडल में विहार करने लगी। श्रीष्म की सन्ध्या में नगे पैरों उस पर चल कर, भींगी हूब का शीतल सुख वे पाना चाहती थीं। कुमार मंडल के बाहर खड़ा उन सबको ताकता रह गया। भीं के बहुत पुकारने पर भी हूबियन में उसने पैर नहीं बढ़ाया। भीं से रहा न मग्या। आप ही दीड़ी आहे और बेटे को अपने से मटा कर बोलीं :

'पहाँ क्यों खड़ा रह गया, देखा। चल न भीतर, देख तो हूब कैसी शीतल और शादूल है, कीमत है। और देख तो वे मर्मर के फँब्बारे।'

लड़का चूप रहा। बोला नहीं। भीं ने उसके गाल, चिकुक, बाल सहमाकर निहोरा किया। 'अरे चूप क्यों है? ... चल न, देख न, सब कितना मुन्दर है!'

'... अरे बेटे के गाल गीसे क्यों हैं? औसु ... ?'

'अरे तुम्हे यह क्या हो गया रे लाल ... ?'

'तुम सब इस नन्हीं कोभल हूब को गृधती हुई चलती हो न, तो हमको बहुत दुख लगता है। लगता है, हमारे ऊपर ही तुम सब चल रही हो। हमारी सारी पीठ छिल गई' 'हाँ ... !'

भीं ने पीठ सहलाने हुए, बही देखा, तो जगह-जगह कई पैरों के निशान पह गये हैं, और लगा जैसे अभी-अभी रक्त छलका आयेगा। भीं एकदम नीरव, स्तन्ध, हिंसा हो गई। विस्मय से परे, वे बस ड्रवित होती चली गई, एक साथ विचुध, और सम्बुध हो रहीं। एक प्रतीति है, जो अपने से भी कही नहीं जाती।

'बड़े सारे बेटे को गोदी में उठा कर श्रीड़ा-सरोवर की ओर निकल आई। बोली :

'चल लालू, हम सब स्नान-कलि करें सरोवर में; तेरी पीठ छिल गई है न ... शीतल हो जायेगी।'

'नहीं ... नहीं ... नहीं भी। तुम तो कुछ भी नहीं समझती। देखो न, साँझ की हवा में सरोवर की लहरें कैसे आनन्द में लीन हैं। कैसी शान्त बहती हुई, जल

का नीरव गीत था रही हैं। हम केलि करेंगे, तो हमारे घण्डों से उन्हें छोट सोनो न। उनका अनन्द भेज हो जायेगा। तो उन्हें रोना आ जायेगा। तब हमारा तो सारा तन छिप जायेगा। ऐसी बातों से हमको दुःख होता है, मौ... तुम तो कुछ समझती भी नहीं।'

महारानी चुप हो गई। वितकं नहीं आया मन में। एकाएक जैसे आग उठी है: खुल पड़ी है। उनकी त्वचा बेहद संदेहित हो गई है। रोयां-रोयां, जाने कैसे चारों ओर के वस्त्र और स्पर्शों से भर उठा है। अरे, वे तो केवल बद्धमान की भी नहीं। कष-कण की भी हैं। बस, केवल मौ।

* * *

शिशिर के सवेरे, परिचारिकाओं ने कुमार को नहला कर, सुगन्धित पद्म-मकरन्द से अंगराग लेपित कर दिया। केशों को बेमालूम कुलैस-मुगन्धों से सेवार कर, चुड़ा में मुकुताबंध से श्रीरक-चन्द, बंकिम-सा अटका दिया। कलाशों में महीन मणियों की पहोचियाँ, भुजाओं पर पतले-पतले मरकत के भुज-बन्ध। कमर पर नहीं-नहीं बजती घंटिकाओं की लटकन बाली करधौनी। टखनों पर सोने के भूषुरवाने पाषल। तब मूलायम रोयों का अंग पहना न पहना कि उसार कर कैक दिया।

'नहीं, हमको शीत अच्छा लगता है। कुछ नहीं पहनेंगे।'

'अरे कुमार, अब तो बड़े सारे दिखते हो। अच्छे बच्चे न गे नहीं रहने। देखो न, कितना तीखा शीत है। अंग घरथरा रहे हैं।'

'देखो न, शीत हमारा मीत है। हमारे अंग तो नहीं घरथरते। हम अच्छे बच्चे थोड़े ही हैं। हम तो ख़राब बच्चे हैं। मौ कहती हैं, लालू बड़ा नटखट है। ... नटखट बच्चे न गे ही ढोलते हैं। तुम सब इतना भी नहीं समझती ... ?'

'... खबर सुन कर महारानी जाई।'

'अरे लालू, ऐसी खोटी हृठ ठीक नहीं। देख देटा, शीत लग जायेगा।'

'शीत तो लग चुका भौं। अन्दर आ गया है। मुझे बहुत अच्छा लग रहा है।'

'तेरी तो भव बातें उलटी हैं। भव काम उलटे करता है।'

'मैं तो जनस का ही उलटा हूँ, भौं, सीधा कब चला! और देख लेना, आगे भी उलटा ही चलूँगा। सारी दुनिया से ठीक उलटा चलना हमको अच्छा लगता है। क्या करें ... ?'

भौं और दासियाँ हार कर इधर-उधर ब्यस्त हुईं, कि इतने में कुमार गायब।

‘‘प्रभातकासीन राज-सभा में महाराज सिहासन अपने रत्नों से जाज्बल्यमान अथवा सुवर्ण सिहासन पर गौरवपूर्वक आसीन हैं। मंगलाचरण के उपरान्त बन्दीजन महाराज का यशोगान कर रहे हैं। एकाएक दिखाई पड़ा, कर्म बाल-केशी सा कुमार, केशरिया आभा विक्षेपता, जासूर अनकाता चला आ रहा है। सब अचंभित और आनंदित थे, बालक-राजा को पहली बार यों राज-सभा में जाने देख कर। कुमार सीषे राज सिहासन के पास पहुँच, एक पैर उसकी सीढ़ी पर रख बोला :

‘‘अप महाराज, हम राजा हैं, तुम नहीं। अच्छा तुम भी राजा, हम भी राजा। पर हम तुम्हारे भी राजा हैं, हम सबके राजा हैं। सिहासन पर हम बैठेंगे। महाराज, बड़े हो जाइये न, सिहासन हमें दीजिये। हम चक्रवर्ती राजा हैं, हमको पता चल जाए हैं . . . !’

महाराज आनन्द-विमोर हो, अशु-नादगद से उठ खड़े हुए। बेटे को बहुत प्यार से बाहों में भर मान-संधर्मपूर्वक सिहासन पर आसीन कर दिया। स्वयम् पास ही न ब्रीमूल आकाशाहक-से खड़े रह गये। ‘‘ठीक सच्चाठों की गरिमा को पराजित करने वाली, किसी अपूर्व गौरवधंगी से, निर्वसन बाल प्रभु ने सिहासन को अपनी महिमा से मानों क्षण भर पराभृत कर दिया। सिहासन ने मान भंग का जैसे आधात अनुभव किया।

‘‘अथ बन्दीजनों, हमारा यशोगान करो। हम राजाओंके राजा हैं . . . !’

अन्तःपुर के भरोखे पर से महारानी त्रिशला अपने परिकर सहित यह दृश्य देख कर स्तंभित और आत्म-विमोर थीं। उनकी औरुओं में ढूबली बौखों में जैसे क्षमका : कुमार मानो अन्तरिक्ष में सिहमुद्धा से आसीन है : और सिहासन उसके चरणों में समर्पित है ।

दन्तियों के भुज से कोई अभूतपूर्व स्तुतियाँ उच्चरित होने लगीं। नर्तकियों की हारमाला, समवेत संगीत की लहरों पर आलोड़ित होने लगीं। महाराज और सभासद स्वयम्, मात्र दृश्य होकर रह गये। और उस सबका एकमेव इष्टा कब वहाँ से चम्पत हो गया, पता ही न चला।

अनहोना बेटा

महारानी त्रिशंका अपने कक्ष में, एक पूर्णकाल शीशे के सामने खड़ी, फूलों से अपने केशों का सिंगार कर रही है। तभी किसी ने सहसा टीका :

'अरे माँ, तुम यह क्या कर रही हो ?'

'ऐव न, जूँड़े में फूल टौक रही हैं। सुन्दर लगते हैं न ?'

'नहीं माँ, बिलकुल नहीं। फूल तो डाल पर ही सुन्दर लगते हैं, जूँड़े पर नहीं।'

'क्यों, बेटा ?'

'हर चीज अपनी जगह पर सुन्दर लगती है, माँ। वहाँ मेरे उसे हटा दो तो, फिर ...'

'तो फिर क्या ?'

'वह मर जाती है, तुम्हारे जूँड़े मेरे हुए फूल लगे हैं। इनकी मुस्कान तुमने छीन ली, माँ। ये देखने वाले फूल जो तुम्हारी शैया में, स्तब्दकों में तोड़ कर सजा दिये गये हैं न, वे सब मुझे परे हुए लगते हैं।'

'इतने सुन्दर लग रहे हैं, इतनी सुगन्ध भरी है कामरे में। फिर फूल मरे हुए कैसे ?'

'पता नहीं, मुझे क्यों लगता है ऐसा। ये फूल खूब नहीं लगते, नाराज हो गये हैं, माँ। ये डाल पर ही प्रसन्न थे।'

'तू तो कहता है, मर गये हैं।'

'हाँ, इनमें कुछ भर गया है माँ, जो मुझे दिखता है। हाँ-हाँ, याद आया। उस दिन उद्यान-कीढ़ा में, मालिन बतमाला को एक चम्पक फूल लौड़ते हुए मैंने देखा था। अरे माँ, देखो न, तब ऐसीं सिमकारी फूटी पी डाल पर। नज्हा फूल से दिया था, और उसकी डाली भी। ... हमको बहुत दुख हुआ था उससे।'

तेरी तो सभी बालें अनहोनी हैं, मान ! तू तो चलता भी ऐसे है कि कहीं धरती को दुख न हो जाये । सकड़ी, पत्थर, धातू जैसी जड़ भीजों को भी ऐसे छूता है, जैसे वे जीवित हों । तू तो खंभे में भी गाल सटा कर उसे प्यार करता है । तेरे खेल समझ में नहीं आते ।'

'क्या करें माँ, हमको सब कुछ जीवित लगता है । सब और प्राण ही प्राण लगता है । हमारे प्राण को ऐसा ही लगता है । हम क्या करें ।'

'चेतन में तो ठीक है, पर तू तो जड़ पदार्थों को भी ऐसे छूता है, जैसे सहज रहा हो ।'

'अरे माँ, चेतन कहीं है, और कहीं नहीं है, वह कौन बताये । हम को तो सब जीवित लगता है । सब सुन्दर । . . . देखो तुमने फूलों को तुड़वाकर, सब असुन्दर कर दिया । मर गये बेचारे । . . .'

'तो हम सिनार काहे से करें, लालू ?'

'ओ . . . तो क्या फूलों के प्राण लोगी, उसके लिए ? तुम अपना सिंगार अपने से करो । फूल अपने से करें । तुम उनकी सुन्दरता देखो, वे तुम्हारी देखें । तुमको फूल की सुन्दरता से मतलब कोड़े हैं, तुम्हें तो अपनी सुन्दरता की पढ़ी है । सबको अपनी-अपनी पढ़ी है । भरे फूल से सिनार करके, तुम भुजे सुन्दर नहीं लगती, माँ !'

'अच्छा बाबा, चूप कर । तेरी बालें मारी दुनिया से निराली हैं । तेरे कहने से सब चलें, तो दुनिया और की और हो जाये ।'

'सो तो होगी ही । तुम्हारी यह दुनिया, हमें अच्छी नहीं लगती । सब एक-दूसरे को मार कर जीते हैं यहाँ ।'

'तो फिर तू क्या करेगा ?'

'हम तुम्हारी हस दुनिया को उलट देंगे । अपने भन की बना संगे ।'

'बना लिये ! तुमने कहा, और हो लिया !'

'अरे ही हो लिया, माँ, तुमको हम करके बतायेंगे ।' महारानी सिंगार करना भूल गयी । अनमनस्क हो, कमरे में सजे सारे फूलों को डूबी-डूबी आँखों से देखने लगी ।

'बहुंमान । . . .'

बासक बही से जा चुका था ।

* * *

'अब तो सुझे सारे राजप्रांगण में धूमने की छुट्टी मिल भई, मान। अभी कहीं से आ रहा है ?'

'मुझी माँ, तुम कहती हो न, वाणि बन का राजा होता है ?'

'सो तो है ही !'

'तुम्हारा प्राणी-उद्यान देखा आज !'

'कितने तरह-तरह के, देश-देश के प्राणी हैं। अच्छा लगा न तुझे ?'

'अच्छा नहीं लगा, माँ। बन के राजा वाघ को तुमने पिजड़े में डाल दिया है। वह तो पर्वत की ओटियों पर छलांग भरता है; वहीं वह अच्छा सगता है।'

'अच्छा, और क्या देखा, मानू ?'

'और भोली ओटियों बाले हिरन, काले भंवर कृष्णसार, नील गायें, चैकरी गायें, वे नहेनहें खारगोश, मवको तुमने कीद कर दिया, माँ। . . . उनसे उनके खुले जंगल छीन लिये तुमने। . . .

'देखो न, वे बड़े सारे पंछीं बाले भोर : वे नीली, हरी, पीली, लाल चिड़ियाएँ। वे देश-देश के पंछी ! उनके तोतु मने पंख काट लिये, माँ ! वे आसमानों में जाने कहीं-कहीं उड़ते थे। जाने कितने जंगल, डाल, झरने धूभते थे। कहीं ढाना, कहीं पानी, कहीं फल। . . . यहीं बेचारे मब्र तुम्हारे पालतू हो गये। उनका आसमान तुमने छूड़ा दिया। . . .

'और वे रंग-बिरंगी सुनहरी-रुपहरी, भौत-भौत की मछलियाँ। आसमानों तक बहती नदियों, समुद्रों में वे खुल कर सैरती थीं। अब बेचारी तुम्हारे बनावटी मरोबरों में मनमारे पंख मारती रहती है। हम को लगा माँ, हम भी यहीं कौदी हैं। हमारा जी नहीं लगता माँ, तुम्हारे इस महल में। यहीं सब कौदी हैं, हम भी, तुम भी, बायू भी, पेड़-पौधे भी, पशु-पंछी भी। बहुत बड़ा है तुम्हारा बैंदखाना !'

'तेरी बाले समसनार, मेरे बन का नहीं, मान ! तू हर चीज को, उलटा और सबसे बलग देखता है। और प्राणी-उद्यान में सब प्राणियों को उनके स्वभाव के अनुसार ही तो रखता है। पंछियों के लिये पूरा एक बन ही तो बना दिया है, जंगल से अधिक रसीदे फल-फूलों से भरा। मछलियों को मरंद और स्फटिक के सरोबरों में तैरने को मिलता है। नदियों में उन्हें भगर-मच्छ निगल जाने, यहीं वे सुरक्षित हैं। मृगों को रम्य कीड़ा-पर्वत दिये हैं हमने। और सिंह का पिंजड़ा कहीं है ? उसकी गुफा में सोता पुता है। और उसे हमारे रखवाले पक्कान, मेवे और फल खिलाते हैं। नहीं हो जीवों को बाता फिरता था वह। छिः छिः . . .'

'तो माँ, तुम्हारे और बापू के भरोसे जीते हैं वे ? महीन ? बाष की वे सुनहरी धारियाँ किसने बनाई, माँ ? हरसों की शुद्धा और और कौटी जाय ले खेबर किसने बनाये ? खुले जंगलों, हवाओं, बहुती नदियों, चट्टानों, पेड़ों में से वे सब बने हैं। जिसने उन्हें बनाया है, वही उनका रखवाला है, माँ !'

'अच्छा तो किसने बनाया है, उनको ?'

'पता नहीं, हमने उन्हें नहीं बनाया। सब अपने आप बने हैं, सब अपने-अपने रखवाले हैं। तुम कौन होते हो उन्हें बैरने वाले, शौधने वाले, पालने वाले ?'

'देख बेटा, तू राजपुत है। कल राजा बनेगा। राजा तो धरती का मालिक, और सबका पालनहार होता ही है। तेरे पिता पृथ्वीनाथ हैं, बेटा . . . ! और तू भी वही होगा कल को !'

'हम तो अपने ही राजा हैं, माँ, और किसी के नहीं। हमारा राजा भी और कोई नहीं। सब अपने-अपने राजा हैं। सब अपने-अपने रक्षक हैं। अरे माँ, एक चीटी भी तुम बना नहीं सकते, एक अंकुर तक उगा नहीं सकते। तुम उनके राजा कैसे ? और तुम उनके प्राण बचाओगे ? उन्हें पालोगे ? तुम्हारे राजा से कह दो, क्ये मेरे राजा नहीं। हम तो अपने ही राज्ञाट हैं। हमको ऐसा ही लगता है, माँ, हम क्या करें . . . तुम्हारा महल अद्भुत छोटा है माँ, यहाँ हमारा जी नहीं लगता।'

एक गहरी चुप्पी छायी हुई है। महारानी चिशला पराहत, निरुत्तर, मुनरी हुई, कस इस बेटे का मृह जोह रही है, जिसे अपना कहने में कठिनाई हीने लगी है। और अबानक 'अच्छा माँ, फिर मिलेंगे' कह कर बद्धमान जाने कब जा चुका था।

* * *

'महाराज और महारानी को एकाएक खेबर मिली कि ग्राणी-उद्घान उजाड़ पड़ा है। सारे पशु-ग्राणी अपनी बन्ध-मातृभूमि को लौट चुके हैं। रखवाले, पहरेदार, सब गायब हैं। जाँच-पड़ताल हुई। पर कौन उसर दे ? पशु-पंची ही नहीं, राजाश्रित रक्षपाल भी अपनी रोटी की चिन्ता छोड़, भाग खड़े हुए हैं। कहीं तो मिलेगी ही।'

महाराज सिद्धार्थ ने प्रश्नामित आँखों से महारानी चिशला की ओर देखा। महारानी उत्तर में आँखें ढलका कर चुप हो रहीं। बूझ कर भी बात पहली ही बनी रही।

माँ ने सोचा बद्धमान अब बड़ा हो चला है। उसे महल की परिधि में बौध कर रखना उचित नहीं। आज तो इतनी-सी बात है, कल जाने क्या-क्या उपद्रव हीने लग जायें। . . . और बद्धमान को जहाँ चाहे जाने की छुट्टी मिल गई।

* * *

शरद औतु की सुहावनी दुग्धरी में, गाँव-नगर के लड़कों का दस बौद्धकर, कुमार जंगल में खेलने को निकल रहा है। एक विशाल, पुरातन बट-बृक्ष पर, डाल-डाल, पात-पात कूद-फैद कर 'एकड़ा-पाटी' का खेल जल रहा है।

कि इतने में अचानक एक लड़का चिलाया :

'हाय, साप ! ' 'साप ! ' 'साप ! '

पल मात्र में कोलाहल आया हो गया। अपनी-अपनी डाल से चिपटे रह गये सारे लड़के। सबने देखा : एक भयंकर भुजंग, बट-बृक्ष के मूल में साढ़े तीन आंटे मार कर, सैकड़ों फन उठाये कुफकार रहा है। पहले तो लड़कों की छिगियाँ बैछ गईं। फसों से कौपते-धरथराते, सब अपनी-अपनी डामों से और भी कह कर चिपट रहे। फिर एक-एक कर वे भय के मारे, आइ से कूद-कूद कर भाग खड़े दूए।

बढ़मान को मानो कुछ लगा ही नहीं। भय तो और लड़कों के साथ आग आया। कुमार तो आनन्द में भगन हो गया। जैसे उसे कोई मनचाही चीज़ मिल गई है। उसे सदा कुछ असाधारण देखने, जानने की चाह लगी रहती है। कैसा सुन्दर और भव्य है यह सर्पराज ! इसके गढ़े हड्डे, गङ्गे जैसे मिठाघ, चमकने परीर में जैसे सारा अरण्य चिकित हो गया है। इसकी सरसराहट में नदी की लहरें हैं। बड़े इतमीनान से, टींग पर टींग डाले, कुमार बृक्ष की भव्य दाल पर, अपनी दोनों गुंदी हथेलियों में मुख टिका कर, सर्पराज के सीन्दर्य के साथ तन्मय हो रहा है। ' ' एक फन में सौ कह, सौ फन में सहस्र फन। कुमार का मन इससे खेलने को चंचल हो आया। पुकारा उसने :

'ओ नागराज, तुम्हारे फन मुझे बहुत भा गये हैं। मुझे बैठाओ न उन पर। तुम्हें कष्ट हीने नहीं दूंगा।'

बीर फणिघर, बेशुमार भगियों से जगमगाते सहजों फनों को तान कर, मस्ती से होलने लगा।

कुमार सहज लीला भाव से, सीधा अपनी डाल से कूद कर भुजंग के फणों पर यों आ बड़ा हुआ, जैसे माँ की गोद में आ बैठा हो। कुमार तो अपने जाने फूल से भी कोमल और हल्के होकर दपके थे उस पर। पर सर्पराज को ऐसा लगा कि जैसे सुमेर पर्वत के भार तले उनके फण कुधने जा रहे हैं। किन्तु सर्प को यह पीड़न भी बहुत प्रिय और मधुर लगा। इतना कि उसने अपने को समूचा कुचल जाने दिया। ' '

बीर अचानक दूर पर बड़े, भय से किलकारी करते लड़कों ने देखा : वहाँ से सर्प आ ही नहीं। एक अति सुन्दर देव, कुमार को गोवी में लिये बैठा था। ' '

‘कोदी दी देव में तुमार हैरता हुआ, उत्सुक, पहल खड़ा दिखाई दूँ।
देव ने उसके चरणों में बिनस हो बन्दन किया। फिर सर उठा कर बोला :

‘मेरा देवतव हारा : हे मानव-पुत्र तुम जीत गये। मैं सगम देव, आपने देवतव
का अभिमान लेकर, तुम्हारी परीक्षा करने आया था। हे मानवन्द्र, हे अमरेन्द्र,
मैं धन्य हो गया। मैंने पहचाना, तुम कौन हो। तुम वीरों के बीर, महावीर हो
नाए ! जय महावीर ! जय महावीर ! जय महावीर !’

कण्ठ-कण, तृण-तृण, पर्वतों, समुद्रों, हवाओं, अन्तरिक्षों में यह नाम आनेखित
हो गया।

दूर पर साक्षी खड़े बद्मान के सखाओं में होकर यह संवाद, यह नाम, वैशाली
को पार कर, समस्त आवृत्ति में व्याप गया।

जन्मजात ज्ञानेश्वर

बड़ी ओर माँ सामायिक-छ्यान में बैठी थीं कि अचानक जाने कहाँ से आकर गोदी में धृष्ट से टपक पड़े लालजी ।

'अरे माँ, आखें मीच कर क्या छोज रही हो, भगवान् ?'

'हाँ . . . चुप कर अभी !'

'अरे सुनो तो, कल मैंने तुम्हारे भगवान को देखा !'

'कहाँ देखा रे ?'

'जंगल में, संगम देव की गोद में। पहले वे सौप होकर आये। मैं सौप पर कूद पड़ा, तो सौप देव हो गया। जोला—संगम देव हूँ। मैंने उसे छकाया, तो उसने मुझे गोदी से लिया। वह जोर से पुकारने लगा : जय महावीर ! . . . जय अम-वान ! . . . जय महावीर ! . . . जय भगवान !'

'भगवान दीखे फिर ?'

'हाँ-हाँ माँ : उसने समझा उसने मुझे गोदी भर लिया है। मैं सो छटक कर भाग खड़ा हुआ था। . . . दूर से देख रहा था . . .'

'क्या देख रहा था ?'

'अरे उसकी गोदी में भगवान बैठे थे !'

'कैसे थे वे ?'

'एकदम गोल। पर वहे सुन्दर। आलथी-पालथी मारकर आखें मीचे बैठे थे। हिलने का नाम नहीं !'

माँ की समझ-बूँदि गुम हो गई। आत्मविभोर हो, गोदी भरे लाल को ऊपर से टक-टक निहारती रहीं।

'अच्छा माँ, भगवान का नाम क्या महावीर है? देख पुकार रहा था: जथ महा-
वीर... ' 'जय महावीर' '। वह तो पाशस ही हो गया था। मैं तो घर भाग आया।'

'और क्या-क्या देखा जंगल में, बोलू!'

'बहुत-बहुत चीजें। क्या-क्या बताये। नदी पार के सललकी बन में गये थे; वही बड़ा सारा हाथी देखा, पूरा पहाड़। लड़के-लड़की उत्तर भागे। मैंने कहा, हरो नहीं: इसको देखो। छर के मारे अधमुदी और्खियों से, सब चुपचाप भेरी चंगली के इशारों पर उसे देखने लगे। मैं एक-एक से पूछने लगा: बताओ यह क्या है?

'एक लड़का उसके भारी-भरकम चार पैरों को ही लाक रहा था। बोला—
यह तो खम्भों वाला दालान है।'

'उस लड़की इला को उसके बड़े-बड़े हिस्ते कान बहुत भा गये। बोली—अरे
यह तो भेरी माँ के घान फटकारने के सूप हैं।'

'कपिल की और्खियों उसके बड़े सारे पेट पर ही अटकी थीं। बोला—अरे यह तो
पहाड़ है।'

'एक लड़की को उसकी सूँड बहुत प्यारी लगी। बोली—यह तो केले का पेह है।'

'राजन उसके उजले सफेद दातों में लुंभा गया। बोला—नदी पार जाने
का पुल है।'

'एक लड़का उसकी मुंहफाड़ को देखकर भयभीत हो बोला—अरे यह तो
भयंकर गुफा है!

'सुमिला उसके माथे के कुम्मों को देखकर बोली—यह तो भेरी अम्मा की
आती है।'

'मृशे बहुत ऊर से हँसी आ गयी, माँ। छर के मारे सब आधी और्खियों मीचकर
ही तो बोल रहे थे। जिसे जो याद रहा, जिसे जो दीखा, उस चीषाये का, वही
बोला ' ' '

'फिर तू क्या बोला रे?'

'मैं तो डरा नहीं न। सो खुली और्खियों पूरा आणी देख रहा था। मैंने कहा:
अरे अन्धो, और्खियों खोल कर पूरा देखो—यह तो हाथी है हाथी: समझे कुछ?'

'अच्छा मैं कहूँ कि वह बाथ था, तो सू क्या कहेगा?'

'चार पैर बाथ के भी होते हैं, वैसी ही पूँछ भी। वैसा ही आदा भी। चाहो तो उठना देखकर बाथ भी कह लो। मैं कहूँगा हाथी भी। और कुँछ भी। मगर पूरा देखो माँ, तो जो है वह कहने में नहीं आता, है न ?'

लड़का कहीं से कहीं आ पहुँचा है। इसकी परस्पर विरोधी लगती बातों से काण सर महारानी चकरा जाती है। फिर समझ-बूँदि से परे सम्बोध पा चुप हो जाती है। उनके आवचय का पार नहीं।

* * *

बन-कीड़ा में नामराज के फन पर, कुमार के कुद पड़ने की घटना आसपास के सारे अंचल में फैल गई है। महाराज और महारानी इस अथावह बाती से चौकथे हो उठे हैं। महारानी को रह-रह कर गर्भावान की रात बाले अपने सोलह सपनों का ध्यान हो आता है। उनके अवचेतन में, गर्भावस्था में वह हिमवान की चट्टान पर पायर विचित्र साक्षात्कार भी चुपचाप लगता रहता है। वह दोहद उनका एक ऐसा गोपन अनुभव है, जिसे वे अपने अतिरिक्त और किसी को आज तक बताने का साहस न कर सकीं थीं। उसके स्थारण मात्र से, आज भी उनके रोमों में एक विचित्र बाननद-मूच्छी के हिलोरे दौड़ने लगते हैं। महाराज को लगता है, कि सपनों के फल वे नहीं, कोई और ही उनके भीतर से ढोला था। बालक के बनोखे करतब देखकर, उसकी प्रतिष्ठनियाँ रह-रहकर उनकी अन्तर्ज्ञेतना में मंडराती रहती हैं।

माता-पिता मिलकर कभी परामर्श करते हैं, तो उनके बोल खुल नहीं पाते। एक रहस्य है, जिसे मन ही मन शुन कर वे चुप हो रहते हैं। विचित्र है इस बैटे का चरित्र। यह तो निरा समुद्र है: सतह पर तूफानी, तह में अथाह और गंभीर।

पर लड़के के उपद्रवों से वे आशकित और आतंकित हैं। पता नहीं कब क्या अष्ट घट जाये। लड़के की यों मुक्त रखना ढीक नहीं। बोले महाराज़ :

'देवी, अब तो कुमार बड़ा हो गया। गुरुकुल में विद्याभ्यास के लिए भेज दो। वहीं के अनुशासन में इसकम चित्त और चर्चा केन्द्रित हो जायेगी। मनमानी नहीं कर जायेगा। और समय रहते विद्याव्ययन भी तो होना चाहिये। क्षत्रिय का पुत्र है, अस्त्र और ज्ञान दोनों में इसे पारंगत होना चाहिये।'

'सो तो समझ रही हूँ, स्वामी। पर उसका अपना ही ऐसा अनुशासन है, कि उस पर शासन कौन कर सकेगा? देखते नहीं हो, शासक होकर ही तो जन्मा है आपका बेटा। उस दिन आपको, उसके एक इंगित पर स्वयम् सिंहासन छोड़,

उसे बैठा देना पड़ा था । उस दिन की उसकी भंगिमा, भूलती नहीं है । पर यह साँग की घटना परेशानी में डाल देने वाली है ।

'बही तो कह रहा हूँ । विद्यारथ्ययन में लगेगा, तो समझ आ जायेगी इसे ।'

'मेरी तो बुद्धि काम नहीं कर रही । हर बात में तो शान बोलता है । ऐसा कि बड़े-बड़े पंछित चकरा जायें । कई अभ्यण भगवत्तों के उपर्युक्त सुने हैं, बालपन से । पर यह तो कुछ और ही बोलता है । इन्हाँ नया और अचूक कि निःसंतर कर देता है । इसे भला कीन गुरु पढ़ायेगा ?'

'सो तो देख रहा हूँ, विश्वासा । पर कुछ तो करना ही होगा । गुरुकुल में सुना, तो भर्ती की जर्ये दिलचहन जालेगा । नैया, रहेगा कुछ दिन, तो उपद्रव सो नहीं करेगा ।'

और शुभ-मुहूर्त में एक दिन प्रातःकाल, राजसी वैभव-समारोह के साथ कुमार को पालकी में बैठा कर, विद्यारथ के लिए गुरुकुल ने जाया गया । कुलपति ने बड़े समारस्त्र और साज-सज्जा के बीच, एक विश्वाल कुटीर-शाला में नव-हनातक राजापुत्र का स्वागत किया । एक चैदन की चीफी पर विपुलाकार शास्त्र का लौधना खोल कर, सन्मुख नव-शिष्य को एक पाटे पर आसीन किया । मन्त्रोच्चार के साथ कुमार को तिलक-श्रीफल अंगित कर, विद्यारथ का सूत्रपात किया :

'बोलो युवराज, . . . नमो भगवते श्री अरिहंताय !'

बोला कुमार :

'अरिहंताय बोलो, बेटे । यह भगवान का नाम है ।'

'जो भगवान नहीं देखे, उनका नाम कैसे बोलूँ ? उनको नमन कैसे करूँ ? संगम देख ने जो भगवान दिखाये हैं त, उन्हीं का नाम बोल रहा हूँ, उन्हीं को नमन कर रहा हूँ . . . !'

हँसियों के फैखारों में कुलपति, सारा छात्र-मण्डल और राजपरिकर वह गया । योही देर में चूप्ती व्याप गई । उसे तोड़ कर, उपाध्याय शास्त्र में से पहुँकर श्लोक उच्चरित करने लगे । फिर एक-एक पद बोसकर, कुमार से उसे दुहराने का अनुरोध करने लगे ।

'अरे भहाराज, शास्त्र में लिखे श्लोक क्या बोलना । वे तो पुराने हो गये । शान पुराना नहीं होता । मैं तो जो सामने आता हूँ, उसे देखता हूँ, और वही बोलता हूँ । और नित नया श्लोक बोलता हूँ ।'

और कुमार आसपास चारों ओर देखता हुआ, मनमाने इलोक बोलने लगा। उनकी भाषा, उनके भाव, सभी अपूर्व और अनोखे हैं। त उनमें व्याकरण है, न कोश-भाषा है, न कोई पूर्व-निर्धारित छन्द है। लेकिन दुद्धि पर और जाये बिना ही, सीधे समझ में उतरते चले जाते हैं। कुलपति, उपाध्याय, सारा गुरु-कुल, सर नेताये चुक हो रहे। किंकर्त्तव्य बिमृद्। कुमार की गुरुकुल-भाषा, उसी साथान्ह में फिर लौटती दिखाई पड़ी।

* * *

गुरुकुल तो सम्पन्न न हो सका। कुमार चन्द्रमा की कलाओं-सा दिन-दिन नहूँ जा रहा है। उसकों भी दीनी दोलता है। पर वार्ते बड़ी-बड़ी करता है। सीखने-पढ़ने से बतला नहीं: लेकिन बहुत दूर की कोड़ियाँ जाता है। जित नये भाव, भाषा, विचार, आपोआप उसमें से फूटते जा रहे हैं। जैसे चट्टानों में से अकस्मात् भरने, या पेड़ों में नये-नये अंकुर फूटते हैं। यह आठ की है कि अठारह की, क्या अन्तर पड़ता है। बोली में निरा बालक है, पर उसने में गुरु-नंभीर, बाचा में बाचस्पति।

यह सब तो ठीक है: पर यह महानद शट की मर्यादा नहीं स्वीकारता। ऐसे किसे चल सकता है। कहा नहीं जा सकता, कब प्रलय आ जाये। कोई उपाय करना होगा कि लड़के का चित्त केन्द्रित हो। वह सारे समय किसी प्रवृत्ति में लगा रहे।

माता-पिता ने सौचा, सड़का अन्तर्मुख स्वभाव का है, और इसकी वृत्ति ज्ञानात्मक है। इसे शान, कला, सरस्वती के आराधन में प्रवृत्त कर दिया जाये। वो नन्द्यावतं प्रासाद के समूचे सप्तम छाण्ड में उसके लिए एक बृहद् सरस्वती-भवन की रचना कर दी गई है।

मध्यवर्ती कक्ष में बाह्यमय-भवन रचा गया है। वही विभिन्न प्रकार और रंगों के सुर्गांधित काष्ठों की नक्काशीदार चौकियाँ जहाँ-तहाँ फैली हैं। उन पर रंग-किरणों रेखाम और जरीतारों से बने आवेष्टनों में बंधे शास्त्र सजे हैं। धर्म, मध्यात्म, दर्शन से लगाकर, नाना सौकिक-अलौकिक विद्याओं तथा विज्ञानों के सुखम तथा दुर्लभ घंथ बहाँ संभ्रहीत हैं। कुछ चौकियों पर है, कुछ दीवारों के मेहराबदार आलयों में सजे हैं।

बाहर की खुली छत में वैश्वाला भी रच दी गई है। कि वहाँ, ग्रह-नक्षत्रों की गति-विधियों से काल को नापा जा सके, गणित में बौद्धा जा सके। बड़ी-बड़ी विस्तौरी रज-विधियों में अनवरत रज गिरती रहती है। छत के एक

और के अलिन्द में, वास्तु और मूर्ति-शिला के नाना उपकरण, औजार और सामग्रियों प्रस्तुत हैं ; जो दूसरे ८ के अलिन्द में उपस्थित हैं ; उसी दण्ड-बंध की रंग-विरंगी मिट्ठियों, रजों, बनस्पतियों, पाषाण-चुणों, कालुओं से निर्मित रंगों के बड़े-बड़े स्तंपक और सूतियाँ हैं। आधारों पर जहाँ-तहाँ विशान फलक फैले हैं। ती कहाँ भटियों के प्रवाहों और खदानों से प्राप्त चित्र-विचित्र शिलाएं पड़ी हैं।

कक्ष में और बाहर की दीवारों पर अनेक विविधता चित्रकारों ने भित्ति-चित्र अंकित हैं। प्रकृत-सी लगती विविधरंगी पाणाणों की सूतियाँ हैं।

वाङ्मय-कक्ष में शीर्षस्थ व्यासपीठ की अगल-बगल, चौकियों पर कटे-छेटे भूज-पत्रों और ताढ़-पत्रों की पर्णियाँ लगी हैं। नेष्ठन-चौकी पर विविध रंगी स्वाहियों के मसिगाज हैं, जो प्रकृत चित्रमय पत्थरों, रत्नों और शंख-सीपियों से बने हैं।

वाङ्मय-कक्ष से लगे एक उपकाख में बंगीतशाला है। उसके धीरोंधीर मसूर गहियों और उपधानों में भैलिन एक मंडनाकार दीवान है। दीवारों में छवित आलयों, और फलों पर छड़े आधारों पर, दुर्जंघ और महामूल्य अनेक प्रकार के बाद्य-यंत्र मञ्जित हैं। व्यासपीठ के एक ओर ऐसी बृहदाकार हाथी-दात की मणि-जटित बीणा है, जिसके हो तूम्बों में जम्बूदीप और पुरकरबर होप की रचना चारोंक राम-कणियों से विशित है। उसके दूसरी ओर नामभणियों से निर्मित ऐसी महाकीणा एक निरन्तर धूमते आधार पर, अवनम्भित है, जिसके दोनों तूम्बों में सूर्य और चन्द्रमा चित्रित है, जिनके मण्डलों के चारों ओर दम-दम करते तारामण्डल अंकित हैं। सामने रख्वा है एक प्रकाण्ड चन्दन का मूदंग, जो समूचे कह्वाण्ड का-सा आभास देता है।

वाङ्मय-भवन से लगे और भी कही छोटे-बड़े उपकक्ष हैं। किसी में औषधि-शाला है, किसी में रासायनिक प्रयोग-शाला। इनमें कहीं दिव्य-बनौपधियों वेतस-करण्डकों में सजी हैं। जाने कितने दूर देशान्तरों, समुद्र यथों से प्राप्त बनस्पतियों और खनिज यहाँ बड़े-बड़े शीशों और घानु तथा बाँच के पात्रों में व्यवस्थित हैं। अर्जुपारदशी शिलाओं और बिल्लौरी कुम्भों में लक्षणोदधि और स्वयंभुरमण समुद्रों तथा कई महानदीों के जल अंचित हैं। इस प्रकार हर उपकरण विद्या और विशान के साधन और शास्त्र विभिन्न उपकरणों में सुलभ कर दिये गये हैं।

लक्ष्य यह है कि ज्ञान-जीवी बद्धमान का मन, जाने कब किस विद्या में रम जाये और वह तन्मय हो जाये, एकाग्र हो जाये। वह अपने आप में मर्यादित हो सके।

‘‘ दिन, सप्ताह, महीने, वर्ष, बाहर वैधानिका की प्रकाण्ड विलीरी घड़ी में रज बनकर अविराम अर रहे हैं । प्रूप-घड़ी से चाँद-सूरज की कितनी परिक्रमाएँ हो गई, गिनती नहीं है । दिवस, मास, ऋतु, संवत्सर आँकड़े की कुमार को कुसंत नहीं । वह अपने में धूम रहा है : वे अपने में धूम रहे हैं ।

माँ और पिता ने इसी से संतोष कर लिया है, कि मुहूर्तों हो गई, बर्द्धमान सरस्वती-भवन में ही रमा रहता है । पृथग्ताछ से उसे आहा जा सके, मह संभव नहीं । माँ इस बात को अन्तिम रूप से समझ गई है : और उन्होंने महाराज को भी इसकी प्रतीक्षा करा दी है ।

कुमार कहीं जाता-आता नहीं । किसी से मिलता-जुलता नहीं । बोली उसकी विरल ही मुनाई पड़ती है । प्रकट है कि महल की मर्यादा उसने स्वीकार ली है । पर जब यही अनिश्चित है कि वह कहाँ स्थित है, तो उसकी मर्यादा का निर्णय कौन करे ?

हवा अपने ही छन्द में बैठी बहती है । नदी अपने तट आप ही रचती रखती है । कुमार महल में रहते हैं या और कहीं, यह परिमाणित नहीं हो सकता । मर्यादा और अमर्यादा, नियम और अनियम से परे, उसकी जो स्थिति या मति-विधि है, उसकी खोज-खबर उन्हें खुद ही नहीं है ।

ये कब किस कक्ष या अलिङ्ग में रहते हैं, पता नहीं रखता । सारा दिन क्या करते रहते हैं, यह भी टोहा नहीं जा सकता । ठीक समय पर भूत्य या परिचारिकाएँ आती हैं । भवन की हर बस्तु को लौड़-पोछ कर आईने की तरह स्वच्छ कर जाती है । फैन, स्नान, बसन-धारण, भोजन की व्यवस्था नियत सेविकाओं द्वारा समय पर कर दी जाती है । कभी-कभी दासियाँ देखकर अचंभित रह जाती हैं । रात बिछाये गये शयन के बादरे में एक भी जल नहीं पड़ा है । विपुल व्यंजनों वाला भोजन का थाल अचूता ही रह गया है । उपभोग और उपयोग की हर बस्तु मुँह राकती अभुक्त पड़ी है ।

जान और विद्या के ये विविध और प्रचुर उपकरण तो पहले दिन से आज तक कुंचारे ही रह गये लगते हैं । सिवा इसके कि हर दिन दासियाँ उन्हें, माइ-पीछे या माँज कर यथास्थान चमचमाते रखती हैं ।

कुमार बर्द्धमान इस सारी रचना में सहज विचरते हैं । जैसे जंगल के पेड़ों में हवा, पहाड़ों को तराशकर बहती नदी । संगीत शाला में डोलते हुए, अकारण ही कौतूहलवास कभी बीणा का छोई तार टन्न से छेड़ देते हैं । गोया कि गुजरती हवा से ही कहत हो गया हो, ऊंगली से नहीं ।

शास्त्रों की किसी चौकी या आलय के सामने चुप खड़े, उन्हें ताकते रह जाते हैं। शास्त्र अकुला उठते हैं, अपने आवेषनों में, कि कुमार उन्हें मुक्त करें, उनके रेशमीन वंधनों और जीर्ण होने हुए पत्रों से। जिखे अक्षरों की उस कैद में वे घुट गये हैं। वे खुले अंतरिक्ष में मुक्त और रीमन दूधा चाहते हैं।

मन में आ जाये कभी, तो मधुरगंध की कलम उठा कर मसिगात्र में हूँड़ी, बेलन-बोली पर रखे, किसी भूज-गढ़ पर उटपटांग कुछ चितर देते हैं। चित्र-जाना के अलिन्द में, राह चलते, जिनीं फलक पर तूली से एक आघात कर देते हैं, फिर उसमें जो भी अँक जाये। कुछ शिला-खण्डों पर धानु-ब्रण्डों को पूँही एक-दूसरे से जोड़-जाह कर रख देते हैं : फिर जो आकार अवकाश में उभर जाये। सौच कर, या लौटकर देखते भहीं। इस मारी रचना को, इन उपकरणों को, बस वे केवल देखते हैं। महल के भीतर को, अपने भीतर-बाहर को, आसपास फैली पड़ी तमाम प्रकृति को, जगत को, वे जैसे निश्चल भाव से देखते रहते हैं। इस देखने में ही मानो उनका सायर-कुछ करता, जीता, भोगना आपोआप होता रहता है।

उनका मन कहीं लगा हुआ है, यह कौन बता सकता है। शायद अन्तिम रूप में वहीं लग गया है, जहाँ लगने को वह भटकता रहता है। माँ सेविकाओं से उनकी दिनचर्या का पता करती रहती है। पर कोई कम या अनुमान उसका नहीं मिल सका है। कभी-कभी कुमार एक सर्वधा रिक्त सफ्टिक कक्ष में घंटों बन्द हो रहते हैं। तब पता लगते पर, माँ खण्ड के मारे कक्षों में फेरी लगा आती है। सब कुछ इतना अविक्षन, असृष्ट, कुवारा देखकर वे चिन्ता में पड़ जाती हैं। किसी भी तो बस्तु पर, इस खण्ड के बारी की कोई छाप, कोई क्रिया अंकित नहीं। हर चीज स्वयं आप है : स्वतंत्र है। वह किसी स्वामी से अधिकृत नहीं, भ्रकृत नहीं, मुद्रांकित नहीं। माँ का मन चिन्ता में पड़ जाता है। जान्हिर यह चूणा बेटा क्या करता है सारा दिन, कहाँ जीता है, कहाँ लगा है इसका मन ? ऐसे कब तक बतेगा ? कौन जाने ?

* * *

एक दिन रहा न गया, तो माँ हिम्मत कर चली आई कुमार के खण्ड में। वे चुपचाप अलिन्द के उत्तरी रेलिंग पर खड़े, दूरियों में निहार रहे थे। कितने दिनों बाद आज, हल्के-में उनके कधं पर हाथ रख दिया, पीछे से :

'ओ ! माँ, आओ !'

'क्या देख रहा है, मान ?'

'कुछ खास नहीं ! बस यों ही !'

'हर कोई कुछ लिखता तो ही ही !'

'आकर्षण नहीं, माँ !'

'कुछ लिखाई-पढ़ाई चल रही है ?'

'बहुत कुछ ! कुछ भी नहीं !'

'ये तो कोई बात न हुई !'

'बात तो हुई ! इसबां अर्थ चाहे न लग सके !'

'अर्थ बिना बात कौसी ?'

'हर चीज़ का अर्थ लगाने जानी, तो अनर्थ ही हो सकता है, माँ !'

'जैसे ?'

'यही, कि पढ़ रहा है, तो वह पढ़ रहा है !'

'क्या पढ़ रहा है ?'

'ओ सामने आ जाये ! केवन शास्त्र ही क्यों ? तुम्हारा चेहरा क्यों नहीं, जो इस काण सामने है ?'

'पढ़ना तो शास्त्र का ही होता है। क्योंकि उसमें ज्ञान है !'

'ज्ञान तो माँ, अपने में है, शास्त्र में कहाँ ! अच्छा ये बताओ कि मनुष्य ने शास्त्र लिखा है, कि शास्त्र ने मनुष्य लिखा है !'

महारानी जानती थीं, कि निरुत्तर होने ही आयी हैं। सो हो रही हैं। फिर भी पूछ-तगड़ कर, जो हलका करना चाहती हैं।

'अच्छा मान, पढ़ाई तो समझ गई तेरी। पर लिखाई ? कुछ लिखता भी है ?'

'अरे, कितना सारा लिखता है !'

'कहीं लिखता है ? सारे पञ्च कोरे पढ़े हैं। दावातें, क्रतमें, स्वाहियां देवारी मुह ताक रही हैं तेरा !'

'अरे तो क्या पत्रों पर ही लिखा जाता है ?'

'तो काहे पर लिखता है ?'

'अरे देखो न माँ, चारों ओर जो यह आकाश फैला पड़ा है। हतनी बड़ी पाठी है, और सदा सामने रहती है। पत्रे और कलम उठाने का काम क्यों करे ?'

'इस पर क्या लिखता है, जान् ?'

'बूझ लिखता है, पहाड़ लिखता है, नदी लिखता है, तारे लिखता है !'

'तो अक्षर नहीं लिखता ?'

'पेड़ जैसा अक्षर और कौन होगा । एक ढाल में, कितनी डालें : ढाल-डाल में कितनी पली । अक्षर के भीतर अक्षर । तुम्हारी बाँग्माला के अक्षर भी कोई अक्षर हैं : एकदम सपाठ !'

'मतलब ?'

'अरे ऐसे भी अक्षर क्या लिखना, कि एक बार में एक ही बात लिखी जाये, और वह भी अधूरी । अशूरा लिखना, अशूरा पढ़ना । तब अनर्थ ही तो होगा, माँ ! वह अज्ञान ही देगा, जाने उससे कहाँ मिलेगा ?'

'मुझ रही हैं लालू, पर समझ नहीं पा रही ।'

'समझना जल्दी नहीं, माँ । बस बोध हो, एकाप, वही समाधान है । वही सुख है ! और सुख न मिले, तो जान किस लिये ?'

'तारे, नदी, पहाड़, पेड़ क्या लिखना है ! वे तो हैं ही !'

'लिखता क्या है, पढ़ता है इन्हें । पढ़ना-लिखना सब एक ही बात है ।'

'तारों में क्या पढ़ता है ?' 'पहाड़ में और नदी में क्या पढ़ता है ?'

'वे प्रतिक्षण मिट रहे हैं, फिर नये होकर उठ रहे हैं, फिर भी देखो न, आदिकाल से वही हैं । मैं भी हर क्षण मिट रहा हूँ, फिर नया होकर उठ रहा हूँ, फिर भी कुछ हूँ, जो सदा था, सदा हूँ, सदा रहेंगा !'

'तो इसमें पढ़ना-लिखना क्या हुआ ?'

'पढ़ना-लिखना, चित्र आँकना, मृति शिल्पन करना, संगीत-वादन करना, सब इसनिए हैं, माँ, कि हम इस बोध में निरन्तर रहें कि हम जाग्रत हैं, और नित-नवीन हो रहे हैं । सब कुछ जो दृश्य है, ज्ञेय है, भोग्य है, वह नित-नवीन हो रहा है । इसी नित्य-नृत्यता का अनुभव तो जीवन है । और वही जीने, भोगने, होने की एक मात्र सार्थकता है, आनन्द है । वही परम परिलक्षित है ।'

माँ बृंछ समझी या न गमझी हों, पर उन्हें लगा कि उनके भीतर जैसे कहीं, कोई अज्ञान, अचीन्हा सुख का स्रोत खुल पड़ा है । चूपचाप, ट्यार-ट्यार, वे बेटे का आलुआपित-कुंतल मुखड़ा निहारती रहीं । बिन छुए ही, अपनी उमरगती छाती की कोर से, वह माथा दुलदा दिया । और लौट कर चलीं, सो उन्हें लगा कि उनकी चाल जैसे बदल गई है ।



प्रकृति और पुरुष

रत्न दीपों और सुगन्धित इन्ह-प्रदीपों की रोशनी वाले इस नन्दा कर्तं प्रासाद में समय भी जैसे मूँछत और कैदी है। यहाँ की मसूर-भौंधी शंगाओं में वह अलसाया और तन्द्रालीन रहता है। वातावरण से भीतर आते-आते आकाश छिक जाता है, हवाएँ प्रवेण वार्त्ते-वार्ते गदिर-मंथ द्वारा हैं :

जानता हूँ, माँ की और पिता की सतत यहीं चिन्ता है, कि मैं इस महल में रहते हुए भी, कहीं और हूँ, यहाँ नहीं हूँ। मेरी अनुभूति और ही तरह की है। यहाँ भी हूँ। यहाँ भी हूँ। सबंध अपने हीने का-सा अहमास होता है। इसी से गुहजनों ने जब भी निवेदि किया कि बाहर न जाऊँ, इस खण्ड या उस कक्ष में ही रहूँ, तो भीतर से ही कोई आपत्ति नहीं उठी। मन ही मन थोड़ी हँसी लरूर आ गई, कौतुक भी सूझा।

माँ, पिता और सभी परिजनों की महीं चिन्ता है, कि मैं कैसे जीता हूँ, क्या करता हूँ, कैसे मेरे जीवन के ये बरम बीत रहे हैं। बाहर अब जाने लगा हूँ, पर अब उसके इंगित पर इन महलों की रत्न-चिकित दीवारों के बीच ही विचरता था : या उत्तों और वातावरणों पर से आकाश-विहार करता था। परिजनों में बहुत मिलने-जुलने की प्रवृत्ति भी मेरी नहीं रही : न उल्लब्दों, भोजों, विवाहों, जलसों में मैं कभी दिखाई पढ़ता हूँ। तो किस वया करता हूँ : कैसे जीवन-यापन करता हूँ ? माँ के चेहरे पर सदा यहीं प्रश्न लिखा देखा है। ॥१॥ पूछते जैसे वे सकुचा जाती हैं : हस्तक्षेप मेरे राज्य में करते उन्हें बहुत झिजक होती है। उन प्रश्न भरी आँखों में प्यार के उमड़ते समुद्र मैने स्तम्भित देखे हैं। ॥२॥

मेरी ओर से तो कहीं कोई प्रतिरोध नहीं है : वह मेरा स्वभाव नहीं। भीतर-बाहर एकदम ही अनिमह पासा हैं अपने को। उनकी ओर से आने वाली वर्जनाओं या प्रतिरोधों से भी बाही टकरा नहीं पाता। महसूस सभी बातों को भीतर समावेशित आता हूँ, और आनन्दित रहता हूँ।

‘‘‘ सचमुच ही कुछ नहीं करता है। पर अकिय और जड़ तो अपने को कभी थण भर भी नहीं पाया। भीतर निरल्लर एक क्रिया चल रही है : एक वज्र परिणाम। उस के बहुत ऐ पूर्वी निर्माणी-दृष्टि द्वारा दुष्ट अन्तस्तल के गोपन में उभड़ता रहता है। प्रतिक्षण अपने आसानास की हर वस्तु और घटना को देखता रहता है, जानता रहता है। कोई आग्रह नहीं है कुछ करने का, कही जाने का, कोई चीज़ पाने का ! उदासीन ? ‘‘‘ नहीं मैं रञ्ज भी उदासीन नहीं हूँ। आनन्द के सिवाय और कुछ मेरी चेतना में संभव नहीं ।

इच्छा नहीं है, उत्सुकता नहीं है, व्याकुलता नहीं है। फिर भी देखता हूँ, इस भ्रह्म का और पृथ्वी का चुनिन्दा बैधव मेरे सन्मुख आ प्रस्तुत होता है, कि उसे भोग । उससे भागता नहीं, उसे भोगता ही हूँ। अस्त्र से भोगने का संकल्प या कष्ट भी नहीं करना पड़ता। भीतर के एक अविरत सद-भाव बोध में, वह अपने अनन्त परिणाम-रहस्य खोलता है : उससे रसालता और भोग भी जो आत्मीय अनुभूति होती है, वह कैसे बताऊँ !

मैं तो विपल मात्र भी रिक्त या निष्क्रिय नहीं हूँ। फिर भी सचमुच ही कुछ करता नहीं हूँ। बस होता रहता हूँ, और अपने को और सर्व को हीते हुए देखता रहता हूँ। चुप रहो, छड़े गहो, और जो-जो होता है उसे देखते रहो। इससे बड़ा काम और क्या हो सकता है !

देख रहा हूँ, बरसों पर बरस बीतते चले जा रहे हैं। बस्तुओं और व्यक्ति भी बीतते और रीतते दिखाई पड़े हैं। पर कोई विद्याद या अवसाद मन में नहीं आता। कोई विरह या वियोग का दर्द नहीं ठीसता। क्योंकि केवल बीतता ही नहीं, नया आता भी तो रहता है। केवल रीतता ही नहीं, भरता भी तो रहता है। और इन दोनों से परे कुछ ऐसा भी है, जो कभी बीतता ही नहीं। जो समरस भाव से सदा सुखम है, जिसके साथ सदा संयोग और मिलन में है। इस बीतते के आम्रम में भी, एक अद्भुत अनवीतेपन का अहसास सदा होता रहता है। इस अतीतमान के मायालोक में, अव्यतीत-भाव से विचरता रहता हूँ।

परिवर्तन से परे भी ऐसे, मैं बस्तुओं और व्यक्तियों के साथ, घर पर हूँ। क्योंकि परिवर्तन ही नहीं, परिणाम देखता हूँ। परिवर्तन दुखद हो सकता है, परिणाम सुखद ही हो सकता है। क्योंकि उसमें खाली होने, भरने और फिर भी बही रहने की स्थिति एक माय अनुभव होती है। जहाँ नित्य नुतन परिणाम है, वहाँ सदा कुछ नवीन हो रहा है ; नित्य योवन और बसन्तोत्सुव है। वहाँ अकियता और सकियता संयुक्त है। कुछ भी नहीं करता हूँ सचमुच, पर, क्या है जो नहीं कर रहा हूँ ? काश,

माँ, पिता और सारे परिजनों को यह समझा सकता, मगर समझा कर भी क्या होगा ।
यह एक ऐसा अनुभव है, जो कथन में प्रेषित लहरी हो पाता ।

* * *

पिछले बसन्त, बड़ी भोज की चाँदनी में कोयल की डाक मूनाई पढ़ी थी । कोयल नो बसन्त में चाहे जब कृकनी ही रहती है । नेविल उस द्वाहा भूर्ता की चाँदनी में जो दरदीनी डाक मूनाई पढ़ी थी, वह भीतर जैसे अन्तहीन होती चली गई थी । हवा में आच्छ-मैजरियों की गैम्सी गहरी महक थी, जैसी पहले कभी अनुभव नहीं हुई थी । मुगन्ध शरीर धारण कर बातावरण में एक अर्जीव स्पष्टकुलता आगा रही थी । दूर-दूर तक भी चाँद तो कहीं दिखाई नहीं पड़ रहा था, पर चाँदनी दिशान्तों तक बढ़े प्रभारे जैसे अधिक-अधिक निर्वसन होती जो रही थी ।

कोयल की डाक में दूरियां पुकार रही थीं । दूरी आकर्षण है । वह आवश्यक है । इह आमन्त्रण है । विश्व की व्याकुलता है उसमें, कि मिलन हो । दूरी है कि दृष्टि है, आकर्षण है, परिम्भण है, मृष्टि है । दूरी में बस्तुएँ व्यास्थान, अपने आवतन में रहती हैं । अपनी जगह पर । दूरी के परिप्रेक्ष्य में ही बस्तुओं का सही चिह्न पहचाना जाता है । जहाँ वे हैं, वहाँ वे स्वतंत्र हैं । वहीं वे सुन्दर हैं । दूरी में ही बस्तु के अमीम और अनन्त वा दर्शन सम्भव है ।

कोयल की उस डाक में, उन्हीं अगम्य दूरियों का आमन्त्रण था । सहना ही लगा कि कोई नियत मूर्ता सामने है । । । किस अक्षात् में अन्तरित है, इस चाँदनी वा चन्द्रमा ! ओ कोयल, तुम कहाँ से पुकार रही हो ?

। । । एकाएक मैं जैगा न्याय कर उठ बैठा । नीचे उत्तर कर, महन के बाद महल, द्वार के बाद द्वार पार करता, रथागार भें आ पहुँचा । अपने सारथि गारुड़ को जगा कर कहा :

'गारुड़, जाना होगा, रथ प्रस्तुत करो ।'

। । । बलगा हाथ में लेते ही गारुड़ ने पूछा : 'किस दिशा में जलेंगे कुमार ?'

'पश्चिम दिशा में ।'

काफी दूर निकलने पर, एक चौराहे पर पहुँच कर, सारथि ने फिर पूछा : 'चामी, काशी, कोमल, कीणाम्बी, किस ओर जलूँ ?' मेरे मुँह से निकला : 'किसी भी ओर, जिधर रथ ले जायें ।' सारथि ने किर अनुरोध किया : 'बलगा तो मेरे हाथ में है, और घोड़े मेरे अधीन ।'

'नहीं गारुड़, बलगा आज सुम्हारे हाथ नहीं, और घोड़े तुम्हारे अधीन नहीं । जाने दो रथ को, अपनी स्वाधीन दिशा में ।'

गारुड कंचल बल्गा खोने वाला रहा और कह मोजन पार करने पर उसे एकाएक चाला कि उसका चिर परिचित प्रदेश जाने कहीं पीछे छूट गया है।

‘देख, दिशा खो गई है, थीव परिचित नहीं रहा।’

गारुड की कठिनाई में समझ गया। इसके आगे उसके सारथ्य की गति नहीं थी। मैंने कहा : ‘गारुड, तुम किसी पश्ची-रथ से लौट जाओ। मेरा गत्ताव्य मुझे भी नहीं मालूम, पर वह अभी बहुत दूर है।’। बल्गा मुझे धमा दो, रथ मुझे यथास्थान पहुँचा देगा ?’

‘दिव !’

‘तुम्हारा असमंजस समझ रहा हूँ, सारथि ! महादेवी पूछें, तो कह देना, बनविहार को निकला हूँ। सानान्द शीघ्र लौट आऊंगा।’

पहले सो गारुड बहुत परेशान हुआ। पर प्रस्तु उठाना उसे औद्यत्य लगा। एकाएक मेरी ओर देख वह आश्वस्त हुआ। रथ से उत्तर मेरे पैर छूकर वह चुपचाप एक ओर चढ़ा हो गया। ईषत् मुस्करा कर एक बार मैंने उसकी ओर देखा, और बगले ही क्षण मैंने सारथि के आसन पर चढ़, बल्गा खींच ली। पल मात्र में रथ हृदा से बातें करने लगा।

सच ही, गत्ताव्य मुझे नहीं मालूम था। फिर भी अन्तर में प्रतीति थी, कि ठीक किसी निश्चित स्थल पर जा रहा हूँ। दोनों अश्वों को उनकी अपनी स्वतंत्र गति पर छोड़ दिया। बल्गा अपनी जगह पर खींच रही थी। उसे छींचते अपने हाथों को, अपने से अलग, स्वयम् संचालित देख रहा था। मैं अपने में सुस्थिर था, फिर भी ध्याक्षमान। रथ अपने चक्र, कलश, पताकाओं के साथ, अपने ही आप में काहित था।

द्वारियों में कई ग्राम, नगर, पुर, प्रदेशों के नवेत्र भवन, बटारियाँ, गुम्बद, उद्धान, सरोवर, वापियाँ : एक एक कर चल-चित्रों की माला से गुज़रते चले जा रहे थे। रथ उनके तटों और प्रान्तरों को छूता, कथ्य-मार्गों पर निश्चित भाव से आरुड़ था।

पूर्वानु देला में एक नदी के कट पर आकर रथ रुका। किनारे पर बंधी बड़ी सारी नाव के केवट ने बताया : यह रोहिणी नदी है। अपनी बायी भुजा पर बंधा केमूर मैंने केवट की सियाह भुजा पर बांध दिया। वह सजल नदीन, भूक, मुझे निहारता रह गया। मानो कि मैं इस सोक का नहीं, किसी अदृश्य में से आ खड़ा हुआ हूँ। ‘चलो केवट, उस पार !’ घोड़ों सहित रथ को अपनी विशाल नाव में चढ़ा

कर, केवट ने हमें पार उत्तर दिया। मेरी प्रश्नायित आँखों के उत्तर में बोला : 'यह मल्लों का पावा प्रदेश ह, प्रभु !'

आरुद्ध होते ही मैंने रथ को पश्चिम की ओर गतिमान पाया। कुछ योजन यात्रा करों पर, एक और रद्दी समझूँच आई। रथ रुका नहीं । । । अनिवार्यती की लहरों पर छाँगों भरने अल्प, हवा में उल्लंघित में लग रहे थे। भूमि, जल, हवा, आकाश की शक्तियाँ पर इस विकिया को होते देया। जान पड़ा, आगे कठें पथल है, जिसमें अद्यम्य और अनिवार्य आकर्षण है। रथ की गति बहुत शिष्ठ, तिर्यक्, फिर भी ऊर्ध्वगामी-सी लग रही थी।

। । । गहरे शाश्वत के भीतर प्रवेश करते हुए लगा कि, यात्रा आगे ही भीतर की ओर हो रही है। उसमें अतिक्रमण, और प्रतिक्रमण की अनुभूति एक साथ हुई।

दो जुळबाँ शालों के समीप पहुँच कर, रथ लंबित हो गया; दूर शिलातल पर बैठी एक अकेली वालिका शाल-पुँछों की माला पूँथ रही थी। भर्ता जिज्ञासा को भास्य कर वह बोली। 'यह कुशिनारा है, महाराज, मल्लों का कुशिनारा।'

'और तुम !'

'मैं इन शालों को हूँ, ये मेरे । । । मैं जातिनी ।'

'यह माला जिसके लिए पूँथ रही हो ?'

'पहीं मेरे देवता आने वाले हैं ?'

'कौन देवता ?'

'नाम नहीं मालूम ! अनाम । । । महानाम । । ।'

'क्व आयेंगे ?'

'तुम क्या वही नहीं हो ? तुम भी तो वही हो !'

'तुमने तो कहा आने वाले हैं ?'

'आ गये, तुम ! । । । आये फिर आओगे, एक बार और। एक और ही रथ में। तब मेरी गोद में सो जाओगे तुम। इसी शिलातल पर।'

'आज नहीं ?'

'नहीं, आज मेरी जयभाला ध्वन्य करो। । । । आमें जो देवता आयेगा वह मेरी गोद में अन्तधीन हो जायेगा । । ।'

'और मैं ?'

'तुम उसे पार कर आये जा सके होगे !'

'और तुम... ?'

'मैं सदा तुम्हारे लौटने की प्रतीक्षा में रहूँगी।'

'... और बाला ने उचक कार माला मेरे घले में डाल दी। मैं नतशिर हो रखा : चुप ! सर उठा कर देखा : वह कन्या दूर बनान्तर में औलल होती दीवी। शिला पर अष्टशिष्ठ फूलों को मैंने स्पर्श किया। वे फूल बन्धु थे : ऊष्माविल थे। उनकी सुगन्ध में एक गहन शून्य उम्र रहा था। उसमें यात्रा करने लगा कि वह पथ संगी था : मैं उनमें से पार होकर, ऊपर की ओर, एक सूर्यचूड़ा पर आरोहण कर गया।

'... मैंने पाया कि अपने रथ पर, विद्युत-वेग से उड़ीयमान हूँ। अपराह्न की कीमत इन्हीं धूप-दीपों हैं, दो रथ के लिए इन्हीं योजनों को छलांगों में पार करते जा रहे थे। गति के उस प्रवेग में, राह के भूप्रान्तरों, बनानानों, विकट कान्तारों, दुर्गंग बीहड़ों को जैसे चकवात में धूमते देख रहा था, और अपने अजात् लक्ष्य की ओर पलायमान था।

'... संध्या सुक आई। एक अद्यमंडलाकार, आकाशवेधी पर्वतमाला के दो कोणों के बीच सूर्य का विस्त्र एक गुल्म की सूष्म डालों के अन्तराल में ढूब रहा था। और उसके उपर्युक्ता प्रान्तर की एक चट्टान पर रथ सहस्रा स्तंभित हो गया। थारों और बीहड़ और घनधोर कान्तार था। भनुष्य की पगड़ाप उसे अनजानी थी। अफाट सशाटा था। ऐसा कि, उस स्तब्धता के भीतर एक अनहृद नाद साफ सुनाई पढ़ रहा था। और वह उस नीरव अरण्य में विराट् देह धारण कर भुजे चहुँ और से आवरित किये ले रहा था। ... ऐसी ऊष्मा का अनुभव तो पहले कभी नहीं किया था। जाने कैसे गभीर वक्षोंजों के ब्ल्हर में मैंने अपने को ढूबा पाया। उसमें बन-स्पतियों की कच्ची, पानीली, दिव्य सुगन्ध के भीतर मैं आत्मलीन हो रहा। एक नीसी मृदुता की आभा के अगाध स्पर्शबोध में मैं विश्रब्ध हो गया। ... यह किस सुनीला का परिम्पण है ?

'... एकाएक सुनाई पड़ा :

'देवायं, तुम यहीं कैसे ?'

मैंने आखिं उठाकर देखा। प्रदोष वेळा की धिरसी छाभा में, सामने के पर्वत की चट्टान में से कट कर आयी-सी एक भील-कन्या बढ़ी थी। साक्षात् सुनगना महाकाली।

'क्या चाहती हो, काली ?'

'इस अन्तिम विन्ध्यारण्य में, आज तक कोई भनुष्य नहीं आया। आ उसे ऐसा वीर्य मनुष्य में नहीं। तुम भनुष्य होकर भी आये हो, तो विन्ध्यवासिनी तुम्हारा अभिनन्दन करती है।'

'तुम कौन हो, मौ ?'

'तुम जो कह रहे हो, वही ।'

'मौ ... sssss ।'

'ही ... ss ।'

'आज्ञा दो ।'

'आये हो, तो तुम्हारे बीर्य को जानना चाहती हूँ। मैं तुम पर भ्रीत हुई ।'

'जानो ... जो चाहो मेरा जानो। चाहता हूँ, कोई मुझे पूरा आने, सर्कि अपने को पूरा जान सके। वही वर्णन हो क्या तुम ?'

'देखो अपने को, और जानो कि मैं कौन हूँ ।'

'ही, आज की रात आने को देखना चाहता हूँ !'

'तथास्यु ! जय हो तुम्हारी ! जब पुकारोगे, आऊंगी ।'

उह कर वह विचित्र भील कभा देखते-देखते अरण्य के नीरस्थ प्रदेश में जाने कही बिलीन हो गई ।

पार्श्विता में लौटकर मैंने पाया, मेरे रथ के दोनों अश्व रथ सहित मेरे दोनों कन्धों पर अपना-अपना मुख ढाँपे हुए थे। हाल ही में वरी हुई बनस्पतियों की दिव्य गन्ध उनके श्वासों में बह रही थी। और वे मेरे कन्धों में दुबक बर शरणागत थे। और मेरे रक्षक भी। उन प्राणियों की वह ममता कितनी अकारण, और निष्कर्म थी। मैंने उन दोनों के मुङ्ग कन्धों से हटा कर अपनी छाती में भर लिये। उन्होंने गहरी आश्वस्ति का निःश्वास छोड़ा। मैंने बहुत प्यार से उनके माथे, अगाल और डीन को सहस्राया, अपश्याया। वे हिन्दिता कर मुझसे जो कहना चाह रहे थे, उसका बोध पा गया। मैंने उन्हें रथ से छोल कर, एक झरने तट की हरियाली में छोड़ दिया, कि जी भर जरे और जलपान करे ।

'... मेरे भ्रीतर तो ऐसी तृप्ति उमड़ रही थी, कि भूख अपरिचित-सी लगी ।

पूर्व की पिंखर-माला पर पीताभ चढ़मा उदय हो आये थे। हीनी अंगुकी औदनों में आवृत होकर अरण्यानियों स्वप्न के विचित्र भवनों-सी लग रही थी। किल्ली की झकार में वह रारी निजंतता उज्जीवित हो उठी थी।

एक उद्धीष चहान पर, दायें हाथ का सिरहाना कर मैं सेट गया। शरीर पर बहुमूल्य और भुखद वसन होते हुए भी सगा, कि वे सारे आवेष्टन हट गये हैं, सिसट गये हैं। विवस्थ हो गया है, और मेरे अंग-अंग, मेरी देह का प्रत्येक परमाण,

उस चट्टान की कठोर नगनता से गुण गया है। देह-स्वर्ण का इससे बड़ा सुख और क्षया हो सकता है। निरावरण पुरुष, नम्म प्रकृति की गोद में उत्संगित था। और कानों में अनुग्रहित था सन्ध्या देला का वह संवाद : 'मौ' 'अ' 'हौ' 'अ' 'ज्ञ' !'

और मैं सो गया, ऐसी एक अबस्वापिनी निद्रा में, जिसका सुख 'नन्दावते' की असृष्टि सुख-सेजों में कभी अनुभव नहीं किया था। यह एक ऐसी निद्रा की अनुभूति थी, जो अन्ततः अपने में पूर्ण जागृति और सचेतना-सी लग रही थी। मैं अपने अहं को विस्मृत कर, मात्र, 'वह' हो गया था : जैसे एक प्रशान्त, असीम श्रील अपनी लहरों की ऊमिलता को देख रही थी। ऐसे ही रात के जाने कितने पहर बीत गये, पता ही न चला।

सहसा ही एक दहाड़ के बज्जन-निनाद से, पर्वत की गुफाओं और शिखरों के मर्मान्तर थरी उठे। मैं चौंक कर उठ बैठा। अधियारी फट रही थी : और उसमें उजियाली का सुख झाँकते लगा था। हवा में कस्तूरी-सी भक्त रही थी। पर्वत-सीकियों के गहरायों में अरनों के गभीर धोय गूँज रहे थे।

मैं अपने बावजूद पर्वत-डालों की ओर चिचता चला गया, दीड़ता चला गया : और लगा कि मेरी छलांगों में शूँग लिपटते जा रहे हैं। कुछ सरणियों का आदोहण कर, ऊपर आया, और लौट कर देखा तो पूर्वचिल पर ऊषा फूट रही थी। हिरण्यगर्भी उषा।

... कि फिर एक रुद्रंकगी चिघाड़ से भूगर्भ घरने लगे। मैं एक शिखर की चट्टान पर समझ और ऊर्ध्व बाहु खड़ा रह गया। कि ऊपर की श्रेणि-गुफा में से एक प्रलम्बाकार सिंह औरक ही झापट पड़ा। ठीक मेरे सम्मुख होकर वह कानी धारियों वाला केशरिया अष्टापद लपलपाती जिङ्हा के साथ प्राणहारी गञ्जन करने लगा। उसकी ओर्छों में ज्वालाएँ झगर-झगर कर रही थीं। उसकी अयात में भणियाँ झलमला रही थीं। उसको दहाड़ में ललकार थी, चुनौती थी, मनु के बेटे को। मनुष्य मात्र को। उसके साम्राज्य की अदाव बीहड़ता और रहस्यमयता को भेद कर, जो पुरुष आज यहाँ चला आया है, उससे महाकालबन का चक्रवर्ती यह अष्टापद बहुत कुपित हो गया है।

मैं अविचल, उप्रीत, ऊर्ध्व-बाहु वैसा ही खड़ा रहा। पर मैं खुला था, मैं समर्पित था। मैं उसकी लिकराल ढालों पर चढ़ कर बहुत प्यार से खेलना चाहता था। उसके उस दुर्दृष्टि कोश पर सच ही मेरे हृदय में दुलार उमड़ रहा था। मेरी देह उसके दंसों के चुम्बनों के लिये जैसे उत्कृष्ट हो रही थी। ... वह आये मेरे शीतर, मैं प्रस्याक्रमण नहीं करूँगा। प्रतिक्रमण करूँगा। अप्रतिरुद्ध अपने में खुलता चला जाऊँगा। मेरा दक्ष उसके ओठों पर होकर बहेगा। मैंने कहा :

‘महाराज, महावीर प्रसन्न है !’

एक हल्की गुरुहट के साथ उसने गर्दन छुपा कर, अपनी स्त्रीकृति प्रकट की। मैंने आगे बढ़ कर, अपना दायी हाथ उसकी लपलपाती जिव्हा पर ढाल दिया। वह चिह्नक कर उसे चाटने-दुलराने लगा। मैंने उसके मस्तक पर हाथ रखा, और उसकी ओर्डों की ज़कालाओं में गहरे झाँका। अभिनयों के स्त्रीतर अभियाँ—अपार अभिनयों का बन।

कि सहसा ही वह मेरे चरणों में लोट गया, और मेरी प्रगतिसियों के किनारों को चूमने-सहूलाने लगा। मैंने सुक कर उसके माथे को चूमना चाहा। कि आने कथ उसने अपने दोनों पंजों में मुझे दबा कर बहुत ऊपर, ऊपर, ऊपर दिया। और फिर हवा में उछाल कर, अपनी पीठ कर छोल लिया।

उस काले-सिन्दूरी अष्टापद की प्रलम्ब पर्वताकार देहयशि पर मैंने अपने को आरोहण करते देखा। विलक्ष्या की शृंगभाला पर छलांग घरते उस अष्टापद पर मैं सचार था। आहुक था। और अफाट, लिराट, प्रकृति-स्पष्टि फैली पड़ी थी। मेरे परदर्ती पूर्वाच्चित पर सूर्य अपने रक्षाम सभामंडल के साथ उद्भासित थे। वे मेरे मस्तक पर मानो किरीट-से उत्तरते थे आ रहे थे। फिर व्याघ्रराज पहाड़ के ढालों और कई बदूम्य, अगम गुफाओं और अरब्धों में से मुझे गुणारते हुए नीचे उतार लाये।

सामने जहाँ, उस टीलेनुमा चट्ठान पर मैं सोया था, वहाँ कल संध्यावाली वह सुर्वम्ब भील कन्या लड़ी थी। सबेरे की मुद्दुल धूप में उसके अंगों की कृष्ण नहिरता, बहुत तीकाम, ताङा नील कमलों-सी लग रही थी।

‘तुम्हारे दीर्घ को मैंने जाना, देखा थे। बसहू है तुम्हारा तेज।

‘तुमने मुझे जीत लिया, जान लिया, देख लिया। मेरे रोम-रोम में तुम रमण कर गये।’

‘और तुम्हारे रूप की आरसी में, मैंने अपने सौन्दर्य और प्रताप की निःरीमता को पहली बार समझ देखा, बाले।’

एक छलांग में मुझ सहित अष्टापद मेरे रात्रि-शयन बाली उस शिला पर पहुँच गया, जहाँ वह कुछांग लड़ी थी। मैंने उसकी पीठ से उतार कर, सम्मुख लड़ी उस बाला के विपुल और मुक्त चिकुर जाल को अपने दोनों हाथों से सहलाते हुए कहा :

‘काली, समझ गया। हर बसन्त की मंजरियों से महकती ओर मैं, कोयल की ढाक में, तुम्हीं चिर काल से पुकार रही हो। प्राण परगल हो कर जब

तक घर से निकल न गड़ें, मोहोप्पम शैया के सुख से निष्क्रान्त न हो जायें, तब तक तुम से मिलन संभव नहीं।'

उस सुनाना ने अपने सहस्रों मोहरापियों-से धनीभूत केश मेरे चरणों पर ढाल दिये । ' ' ' मेरे पैर औसुओं और चुम्बनों से गीले हो गये ।

मैं सहसा ही एक दूसरे चेतना-स्तर पर संक्रान्त हो गया । मैंने आँक कर, उसके माथे को उठा कर, उसे बैठा दिया । और उसके अंक में सर धर कर उसके वज्रोज-तटों की अपनी आँखों की रोआँसी से सहलाता रहा ।

'मौ ' ' ' sss ! '

'हौ ' ' ' sss ! '

सारी बनभूमि पंछियों के कूजन में जयगान कर रही थी । फूलों की अँजु-लियों में परिमल छलक रहे थे । हवा में अदृश्यमान बीणाएँ बज रही थीं ।

रथ पर चढ़ कर, जब मैं फिर प्रवाचन की ओर लौट रहा था, तब एक विचित्र नई अनुभूति सतत हो रही थी । ' ' ' क्या मैं कही हूँ, जो कल ब्राह्म महात्म की हाथा में घर से निकल पड़ा था, अलक्ष्य यात्रा के पथ पर ? नहीं, वही नहीं हूँ, उत्तीर्ण एक और ' ' ' एक और हूँ । फिर भी कही हूँ, जो कल के अपने को, और आज के इस उत्तीर्ण को, एक साथ देख रहा है । यब सौटकर कही जाना है, पता नहीं । अपनी गुच्छी, अपना आकाश के बल में हूँ, मैं ही अपनी दिशा, अपना सौरमण्डल हूँ । फिर लौटके को क्या रह गया है । ' ' '



कसमसाते बह्माण्ड

उस दिन सारा विन्ध्यारण्य ही जैसे भेरे भीतर चला आया। कभी-कभी क़ड़ी का सबैग रूप अपने ही अद्वैत में आधिकृत देख लेता है : तो कभी वही रह जाती है, मैं नहीं रह जाता। पर उसे जो देखता है, वह कौन है? . . . अपने ही मर्म की कस्तुरी का वह मूर्ति-स्वरूप, एक निराकुल प्रीति से प्राण को विश्रव्ध कर देता है। . . . भीतर ही बैठी, इस प्रिया को कहीं खोजना नहीं है। और वह दुर्लक्ष बष्टापद? काली की गोदी की अमेद अन्धकार गुहा में ही तो रहता है वह।

. . . अब तक नारी ग्रस्त-चिन्ह सी सामने आती थी। टोंक देती थी। अब वह भीतर से ही उमड़ने लगती है : अपने ही मूलाधार में से उत्सित ऊर्जा का लोह। अपनी ही आद्या शक्ति : अपनी ही आवाहन रक्षाधारा। मेरी ये बहिं ही चाहे अब अचानक, उसकी मृणाल बाहरे हो उठती है। इन्हीं की सम्मोहनी कोहनी पर माथा ढाल कर, अन्तर्मिलन के विलक्षण सुख में समाधिस्थ हो रहता है। लिंग भी भीतर ही है : योनि भी भीतर ही है। बाहर विरह का अन्त नहीं। भीतर नित्य मिलन का वसन्तोत्सव चल रहा है।

फिर भी अपने महसू के उत्तरी कोण-आताधन पर जब खड़ा होता है, तो पाता है, कि हिमवान की हिमानी चौटियाँ पुकार रही हैं। उज्ज्वल कीमार्य का यह आवाहन, अब व्याकुल नहीं करता, पर सृष्टि का एक अदम्य उन्मेष प्राण में जगाता है। भीतर ही तो सब कुछ नहीं : बाहर भी तो है ही। आत्म है कि आत्म-विस्तार अनिवार्य है। वही सृष्टि है : अपने में न समाते अनन्त शान, दशन, सुख, वीर्य की अनिवारि अभिष्यक्ति है वह। अपने ही आत्म-राज्य का विस्तार। अपने ही को अपने से अलग कर, रच कर, मूर्ति करके उसमें रमण करने का आनन्द। वही जीवन है। सुकृत कहीं विसी निर्धारित सिद्धालय के कपाठों में बन्द नहीं। निर्बाध, निर्बन्धन, निराकुल जीवन ही मुक्ति है। तब

पुरुष स्वयम् ही लोकाकार, सर्वाकार, तदाकार हो उठता है । वह अद्वैत महासत्ता का हो उठता है । सर्व भें, केवल एक निकल आत्मानुभूति जेष रह जाती है ।

‘‘ साथा पर बढ़ चाहे जब निकल पढ़ता हूँ । स्वयम् ही अपना रथ हौंकता है । सारथी का प्रश्न बीच में बाधा लगता है । हिमवान की हिमानियों का आवाहन दिनों-दिन अनिवार्य होता जा रहा था । शो निकल पड़ा, एक दिन । ’’ स्वच्छ, नीला आकाश जारा झुक कर रथ पर चौंदोबें-सा छा गया था । दूरियों और विस्तारों में, तन और भूत फैलते जा रहे थे । तराई के प्रदेश में हवा पानीली हो चली थी । उसमें बनस्पतियों और ताजा धान्यों की भीनी-भीनी गम्भीर घुल रही थी । पर चैत्र के सबेरे की हलवी मुहानी धूप में, उषीरध्वज पर्वत पर से हिमानियाँ पिघल कर महीन धाराओं में तराई की ओर हौले-हौले बहा था रही थी । उषीर की शीतल गहरी भुग्नध से बातावरण में जाने कैसी अनजान स्मृतियाँ-सी उमर रही थीं ।

दूर-दूर तक शालि और अन्दुल धान्यों के द्वेष हवा में छड़ाहूँ रहे थे । महाक्षावधि वर्षों की पुरातन इमलियों और आमों के अमृटों में मुजरता रथ, रोहिणी और राष्ट्री नदियों की दोआद भूमि में प्रविष्ट हुआ । उधर परे को हटकर गभीर शालों का बन था । उसके उत्तर-पूर्व में शाक्यों की कपिलवस्तु की भवन-अटाएं, गुम्बद, पताकाएं छाँक रही थीं । कपिलवस्तु, महापि कपिल की भूमि : मेरे पुष्प ने प्रकृति को अपनी जंघाओं में संसरित अनुभव किया ।

पुष्पित शालवन के गहरावों और वीथियों का आमन्दण रथ की उधर ही खींच ले गया । लुम्बिनी-नदि के शाखान्तरालों में आकाश अपनी ऊँचाई का गवं भूल, जैसे वसुन्धरा की बाँहों में समर्पित-मा हो गया है । रथ से उत्तर कर, उस निर्जनता में श्वेती धूप-छाँव के शाखा-चिनों में जाने कौन भी अलक्ष्य लिपियों पढ़ता लुम्बिनि-नगनन में बहुत देर विचरता रहा ।

सहसा ही एक शाखा ने झुक वार भानो मुझे प्रणाम किया, और बांह से लिपट-सी गई । यह कौन जन्मान्तरों की वान्धवी है ? मन एकदम ही निर्विकल्प और नीरक हो गया । तृण-तृण, कण-कण की सजीवता जारी और मेरे समस्त को छुहलाने लगी ।

लौट कर रथ पर चढ़ आगे चढ़ा । शालों का आवरण न्येद कर अनोमा नदी का विशाल दक्षस्थल मासने उधर आया । सात ऋषभ विस्तार के इस पाट पर जैसे चलने का आमंत्रण बड़े-बड़े अक्षरों में लिला था । दूर-दूर जाती लहरों के कुंचनों में कोई काली कुटिल अलकावनियाँ बही जा रही थीं । उन पर

निष्ठावर होते-थे, किसी राजसिंहासन, किरीट-कुण्डल, स्वर्णतार वसनों के बिना-
रते तानों-बानों का आभास ! . . . कपिल की भूमि पर पुरुष की जयलेखा !

रथ वही छोड़ दिया । धीरों वो इक्षु के खेतों के पास मधुर हृतियाली
में चले को छोड़ दिया । अनोमा ने अपनी अणिमा और गरिमा का रहस्य
खोला । मेरे पैर जाने कैसे लचीले गहरावों और उभरावों पर चलते चले
गये । . . छाया की तरह कोई पीछे साथ चल रहा था ।

उपीरच्छवज के ढालों पर चढ़ते हुए, भोज और वेषदाह की कानन-बीचियों
में रंग-बिरंगे फूलों को अन्तःमुर खुलते थे रहे थे । सुगन्ध यहीं पेशल-सी होकर,
तन-मन को अपनी शीतल ऊप्पा में, एक विचित्र आकृति से सहलाती
रहती है ।

‘‘ फिर हिम चट्टानों की लड़ी चढ़ाइयों पर चलना संभव न रहा । शिखर
अदृश्य हो गये । कहीं-कहीं चट्टानों के नुकीले उभरावों को दीर्घीं हाथों से पकड़
कर, एक असेह हिमाचूत काठिन्य से मैं छिपटता चला गया । अनायास उत्तर्णित
और उत्तोलित होता चला गया । किराट, दुर्जय हिमानी का वह एक हुनिवार
और हुनिवार आलिगान था । सनुवा हिन्दान गाने आराम महत्क मेरी भूजाओं
में सिमटता चला आ रहा था । शरीर पर वस्त्र का एक लक्षा भी प्रेष नहीं रह
गया था । शीत . . . शीत . . . अपरम्पार शीत : आरपार शीत । मैंने देखा अपने
शीतर : हिमवान स्वयम् अपनी कोटशाक्षि वर्षों की जमीं हिमानी की गोद
में छैस कर, उसे बेक्षता चला जा रहा था । मानो अपने ही शत-कोटि आवरणों
को चीर कर, अपने परातपर, नग्नातिनग्न स्वरूप को उपलब्ध किया चाहता था ।
प्रकृति और पुरुष यहीं द्वंद्वातीत रूप से आश्लेषित थे । कब पुरुष प्रकृति ही
गया, कब प्रकृति पुरुष ही रही : नहीं मालूम . . . नहीं मालूम . . . नहीं मालूम ।

‘‘ हिरण्यचूल शिखर पर खड़े होकर मैंने पाया कि मेरे पादतल की एक
महान्धकार गुफा, मेरी कटि से लिपट कर, मेरी जंघाओं के बीच आरपार छुल
रही थी । उसकी आदि पुरस्तन त्रमिला भुक्त कुन्तलों-सी बिखर कर मेरी पंज-
तस्तियों से रमस कर रही थी । . . आकाश मेरे कानूनमूलों में शरण खोजता-सा
मेरे भीड़े कन्धों पर उत्तरीय बन कर छूल जाना चाह रहा था । पश्चिमी समुद्र
के दूरातिदूर धितिज की धनश्यम रेखा पर अस्तोगत सूर्य मानों मेरी प्रसीदता थे
ठिक्का था । . . कि उसकी कोर पर पैर धर कर मैं पृथ्वी के अंक में लोट आऊँ । . .

* * *

नौट कर जब आया, तो रात बहुराते लगी थी । मेरे खण्ड के बातायन पर भी
निष्ठाम्य लौ-सी टकटकी लगाये रही थी । कक्ष में जब मैंने प्रवेश किया, वे सामने

आ स्तम्भित-सी खड़ी, सर से पैर तक मुझे ताकती रहीं। कुछ पुछने की हिम्मत वे न कर सकीं। उनकी आँखों में नदियाँ थमी थीं। मध्याह्न के एकाकी दीये-सा एक आँमूर लग्नशीलों की सौम्य ज्योति में चमक उठा। मेरे लज्जाट गर झूलती अब-हेलित अल्पकों की एक गुज़न्कित नागिन को हल्के-से सहला कर, और चुपचाप, धीरे-धीरे, वहाँ से चली गई। उनके कंकणों की महान ममताली रणवार, मेरे आरपार गूँजती चली गई।

* * *

‘‘दिशाएं चारों ओर जयकाना निए, खड़ी हैं। भीतर अपने धूब पर स्थिर हैं; पर बाहर कहीं ठहराव संभव नहीं रहा है। जाना है ‘‘जाना है’’ जाना है। कहीं जाना है, ठीक नहीं मालूम। निरन्तर याका में ही जीवन को साथेक और परिभाषित होने देख रहा है। मेरे पैर सिंहासन और महल में टिके रहने को गहीं बने; वे निरन्तर अंदर अविश्वास चलने की जन्म है। किनारे से चलता है, और दृश्य जगत का तमाम कस्तुओं के भीतर में थाढ़ा होता रहती है। चारों ओर से दिग्बधुओं के घूंघटों की पुकार सुन कर, आतुर-चंचल हो उठता है।

उम्र दिन पूर्व दिशा में सूर्योदय होने देखा, ना विषुवाचल का स्मरण हो आया। वैभार पर्वत के उभारों पर आगे पैर गढ़ते-से दीखे।

‘‘अपने ‘मिश्राक्षरण’ रथ पर आग्नेहण करने हुए, भिन्नसारे की चाँदी में वैष्णवी के दक्षिणी भीमान्त को पार कर, मगध के देव-रम्य चैत्यों और वन-काननों में से गुज़रने लगा। अत्यन्त सम्बादी, लयवद्ध ऐसी नमसी रारन वन-ध्रेणियों के बीच से गये राजमार्ग पर, बड़ी भूमण और अजगरति में रथ फिलता जा रहा था। गति के देख, और अष्ट्रों की दापों में परे किसी अनाहत प्रकाह में पूल की जरह बहने का अहसास हो रहा था।

‘‘गृधकृष्ण पर्वत की चाँटी पर गहुंच कर देखा, माझमें विषुवाचल के एकाकी धूंग पर सूर्योदय हो रहा है। किसके सिंहासन का आमण्डल है यह? ‘‘वैभार की शिवायावनियों दोनों आम-से आवार दिशंगनार्थी-सी, उसके पादप्रान्त में नसमाध हो गई हैं। आर्यावर्ती की समागम पृथ्वी अपना वक्ष किसूत कर प्रस्तुत है, कि उस विषुवासन का अस्त्रामी अधीश्वर उस पर पग धारण करे। ‘‘मेरे पैर किस भहाचंकभण की विह-धीर गति से जलायमान हो उठे हैं! महसून-सहस्र मुण्डों के बीच उम्मवभान अपने को छलने देख रहा हैं।

इस गृधकृष्ण की किसी तस्वीरी गफा में मेरी वीणा-बाहन की छकार सुन रहा हैं। सुनता हूँ इस पर्वत में गन्धर्वों के आवास हैं। वीणा की डन सुराखलियों ये अपना स्वागत-गान सुनाई पढ़ रहा है। ही गन्धर्व, तुम्हारी वीणा सुनने

आया है। अपने सप्तक साथों, अपनी शूटियाँ करो, अपने तारों पर उतान होओ : मैं तुम्हारी बीणा को एक दिन बहाण्डों के शीघ्र पर बजावेंगा।

दूर पर राजगृही के मुदर्ण-रत्निम शिखर चमक रहे हैं। इसके आरामों और उपवनों में, सुनता हैं, देव रमण करने को उतरते हैं। इसके फलोधानों में रस-मार-नम्र फलों की डालियाँ धरती को चूमती रहती हैं। इसके नीलभी सरोबरों में स्फटक जैसे जल बिछलते रहते हैं : उनके तटों पर कीड़ा करते हंसमिथुन-सी निविकार भाव से स्वैर-विहार करते हैं। सुमाराई के तटवर्ती इस मगध देश को, बेटों ने भी गाया है। यही बेदों का अृषि-चरण-चारित कीटक जनपद है।

पाँच शीलों से विरो यह राजगृही, पांचासी की तरह अपनी दस भुजाएँ पसारे जन-जन को परितृप्त करने को आकुल है। बैहार, बगाह, वृषभ, कृष्णगिरि और बैत्य जैसे पाँच प्रस्तुत पर्वत अपने सघन बनों की पश्चिम आमा से इसे आवरित किये हैं। इन पर्वतों के लोध-बनों की माणिकद छावों में प्रणयीजन परिवेश भूल कर, रात-दिन कीड़ा-केलि में लीन रहते हैं। यहीं गौतम अृषि ने उपीनर राजा की शूद्रा कन्या के भीतर काकिवान आदि पुत्रों को जन्म दिया। गौतम के बंकछर होने से वे क्षत्रिय कहलाये और मागधवर्णी नाम से विद्यात हुए। यहीं प्रेम के राज्य में कुलाभिमान की मर्यादाएँ टूटीं, क्षात्रित्व बहुतेज से दीप्त हुआ, गृहा त्राता क्षत्रियों और परित्राता अृषियों की जनेता बनी। बंग, बंग, काशी और कलिंग के राजाओं ने गौतम अृषि के आश्रम में रह वार अपने तीरों और क्षमवारों को शान-ज्योति की सान पर चढाया।

इसी गिरिधर की पांचव्य कन्दराओं में अबुद और शक्वापी नामा सर्प-राज रहते हैं, जो शकुओं का अमोय रूप से हमन करते हैं। ये अरिदम सुपं-देवता, यहीं अरिहन्तों के मस्तक पर छत्र बन बर छाये रहते हैं। यहीं स्वस्तिक और मणिनाग नामक नारों का निकास है। पृथ्वी के आदिमकाल से वे अपनी मणि-प्रसा से इस मागधी भूमि को नित्य-यौवना सुन्दरी बनाये हुए हैं।

बत्यन्त प्राचीन काल में राजविज बसु ने सुमाराई के तट पर इस नगरी को बसाया था। तब वसुमती के नाम से ही यह नोक में विद्यात थी। इसी वसुमती के पराम भीने शालमनी बनों में कावजात अृषि विश्वामित्र और कौशिक, आरण्यक तपोसाधना में लीन विचरते रहे हैं। मणिमान नामा बासुकी नाग की मणिकूप बाबी से इसके बन-कानन रातों में भी झलझलाते रहते हैं।

इपर में वसुवंश के राजा वृहद्रथ ने यहीं राज्य किया। वृषभगिरि पर्वत पर एक बार विहार करते हुए, वृहद्रथ को एक विश्वाल काम गेडे से मल्लयुद करना चाहा था। गेडे ने आखिर एकाह चा कर, अपने पेट और पीठ से प्रतापी वृहद्रथ के

लिए दो साले बनवा दिए थे। आक्रमणों के समय उनके प्रताङ्क-घोष से योजनों को पूरी पर आ रहे आक्रमक गति भयभीत होकर भाग निकलते थे। इसी बृहद्रथ के नाम से 'ब्राह्मद्रथ' वंश की स्थापना हुई। इसी बृहद्रथ के प्रचण्ड प्रतापी पुत्र जरासंघ ने मधुरा तक के तमाम भारतीय जनपदों पर आधिपत्य स्थापित कर, मगध में सब से पहले एकाराट् साम्राज्य की नींव डाली। मधुराधीश कंस इसका जामाता था, और चेदिराज शिशुपाल इसका सेनापति। जरासंघ अब साम्राज्य-लिप्ता से प्रमत्त हो डठा, और आश्वित की अनाचारी राजसत्ताएँ उससे बल पाकर नगर विलास और नृशंस अत्याचारों पर तुल महे, तो सिहासन-भंजक बासुदेव कृष्ण ने जरासंघ को मार कर, पूर्व से पश्चिम तक की भारतीय प्रजा को आतंक-मुक्त कर दिया।

अभी सी वर्ष पूर्व फिर यहाँ राजा शिशुनग ने अपने पराक्रम से भैशुनग वंश की नींव डाली। उसी की पर्विदी पीढ़ी में आज महाराज विविसार श्रेणिक ने, कौखल, काशी, कौशाम्बी और अवल्ती तक अपनी छाक जमाकर नये साम्राज्य के निर्माण का शूतपात किया है। उदात्तमना विविसार के इस मगध में ब्राह्मण और श्रमण समान रूप से समाद्रत हैं। ब्राह्मण उसकी छत-छाया में निवासि श्रोत धन्त करते हैं; और रवतंत्र-चेता, दुर्घट तपस्की श्रमणों की धर्मदेशना श्रेणिक बड़े आदर भाव से सुनता है। विपुलाचल की छाँव में वर्तमान के अनेक शास्ता मुक्त भाव से प्रबच्चन करते विचर रहे हैं।

इस भूमि पर अनेक साम्राज्य उठे, अनेक साम्राटों ने अपने दुर्घट वीर्य-लेज से पूर्खी के गर्भ हिलाये। सिहासन बाह्य-वार उठ कर मिट्ठी में मिल गये, शृण्वयों ने अपनी तपस्याओं, और ज्ञान-सत्रों से उसकी गिरिभालाओं को गुंजाय-भान किया। पर क्या बात है कि धर्म का अविचल रिहासन इस पूर्खी पर नहीं बिछु सका। सृष्टि उत्थान-पतन के चक्रावर्तनों से उबर नहीं पा रही। कहाँ है वह अहत, जो अहम् के डन धृष्ट दुष्वकों को अपनी लेज-शालाका से भेद कर, सोहम् के काष्यकृत धर्म का सुमेश पूर्खी पर स्थापित करेगा?

‘‘विपुलाचल पर प्रचण्ड से प्रचण्डतर प्रताप के साथ सूर्य उद्घोतमान हो रहे हैं। उनके शीर्ष पर, एक महाशंख का अनहवनाद सुन रहा है। एक अपूर्व ज्ञानित और अतिक्रान्ति का शंख नाद, कि सृष्टि का प्रत्येक अणु-मरमाणु अपना रहस्य खोलने को अकुला उठा है। कहाँ छुपा है त्रिकालाबाधित ज्ञान का वह सर्वज्ञ-सूर्य? ’’

‘‘मेरे बक्ष में जैसे अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड नवजन्म लेने को कसमला रहे हैं।



सुन्दरियों के स्वप्न-देश में

इन बीच, मेरे कथ की छत पर, एक आधी रात, अचानक किसी चक्र की घट्ट-राहट मुनाई पड़ी। मैं तो सदा जगता ही रहता हूँ : निद्रा की सुपुण्णा धोद में ही, पह जागृति एक नाथ ग्रन्थ, चिरण, दण्डन का मुख देती रहती है।

छत में आकर देखा, तो कोई विद्याधर अपने यान के साथ प्रस्तुत था। आगन्तुक जरा भी अपरिचित नहीं लगा। उसकी ओर्डों में स्वागत था, और जैसे अज्ञातों का आमंत्रण था। मैं यान पर आरूढ़ ही गया। ॥१॥ उसकी उड़ान की चक्राकार गति में, अपने ही श्रीनर के असंख्य आनंद-प्रदेशों में यात्रा होती-भी अनुभव हुई। ॥२॥ फूटती द्वाभा में हमने पाया, कि हम कैलास की सर्वाच्च चूड़ा पर खड़े हैं। हमारे पैर हिमानियों में जिलिपति में रह गये हैं। सुदूर पूर्व में, उषा की गुलाबी प्रभा मानो किसी पद्मकोश की सहजों पंखुरियों-सी छूल रही है। उसके आलोक में सहसा ही दिखायी पड़ा, गामने की चूड़ान्त हिम-शिंगा पर एक विशाल चरण-युगल उत्कीर्ण है। ॥३॥ मानो कि अभी-अभी कोई पुरुष यहाँ अपनी पादुकाएँ पीछे छोड़ जाने कहीं अन्तर्दीन हो गया है। उस एक पल में से हजारों वर्षे पलक मारते गुजर गये हैं। और उनके आरपार कालातीत रूप से यहाँ खड़े उस आदित्य-मुरुष के चरण-चिह्न, इस हिम-भूंग पर निर्माण रूप से सदा की जिलिपति हो गये हैं। कुटने दिवालोक में इनकी ही रूप प्रभा से, जैसे लोकालोक भास्वर हो उठे हैं। निशिप मात्र में ही पहचान गया, पह ही भगवान श्रष्टभद्रेश की चरण-पादुका। यहाँ पर तो वे महा-श्रमण मृत्युंजयी महातप्य में लीन होकर मातरिष्वन् हो गये थे।

पूर्वावल पर उद्भासित होती उषा ने, अपने वक्ष के गुलाबी कलण ईषन् शुक्त का, प्रधम प्रजापति-मुरुष के उन काल के भान पर अंकित चरणों का अभिषेक कर दिया। पादुका के पाद-प्रान्त में देखा एक उज्ज्वल वृषभ उस अभिषेक की अक्षत जलधारा को अनवरत पीता चला जा रहा है। ॥४॥ आदिनाथ शृणभेष्वर के श्रीचरणों में ललाट ढाल कर, उस हिरण्य मुहूर्त में अनन्त लोकों और बालों का जो वैभव एकाग्र देखा, उसे शब्दों की सीमा में कैसे समर्थूँ।

‘‘ कई दिन और रात विद्याधरराज बासुकी के साथ उन हिमानियों में विचरते कैंगे बीत गये, पता ही न जला । अनादिकाल की मंटिस द्विभ-कन्दराओं के वज्र-कपाटों पर अपने बीर्य को जूझते, टकराते, परीक्षित होते देखा । कितनी मेहमान छिप हुई, कितने पटल बिछ हुए, कितनी गहराइयों में मैं संसरित हुआ ! अनिवंच है उस दाढ़ा की मर्म-कथा ।

* * *

लौट कर एक सन्ध्या में, जब नन्द्यावत्-प्रासाद के अपने आवास-खण्ड में प्रवेश किया, तो पहचानना कठिन हो गया कि क्या यही मेरा निवास-भवन है ? बैज्ञाली के विदेही का तमाम परम्परागत वैभव और ऐश्वर्य मानी वही एक साथ एकत्रित था । छतों में लटकी बृहदाकार नीलम और पश्चों की झूमरों में, फूलों के प्रदीप उज्ज्वल हो रहे । पद्मराम शिलाओं की फर्श पर, पारस्य देश के गलीचों में, रम्य बनों में सर्पों से खेलती सुन्दरियाँ चिकित थीं । रत्न-मीना-खूचित दीवारों में, अनेक रंगी मणिचूलों के रंगों से, केनिविलास की अद्भुत चित्रमालाएँ अंकित थीं । जगह-जगह बैठी जाने कितनी ही अनिन्द्य सुन्दरी बालाएँ, सुगन्धित छुपों और मदिराओं से केश-प्रसाधन कर रही थीं । कहीं अन्तरित कक्षों के भीतर से विचित्र तंतु-वाण्यों की महीन झंकूतियों में मन्त्र संगीत की मूष्ठियाँ बह रही थीं । और उन पर नृपुरों की भूदुतम घुंघुर-ध्वनियों में नतित चरणों की कीमतता नित न ये आकारों में उभर रही थी ।

‘‘ मेरे आगमन का आभास पाते ही, अपने-अपने स्थानों पर वे सारी सुन्दरियाँ प्रणिपात में निवेदित ही गई । फिर संगीत और नृत्यों में उत्सव और स्वागत की सुरमालाएँ उठने लगीं । मैं सीधे, प्रतिहारी द्वारा संकेतित अपने निज कक्ष में चला गया ।

अपनी विशेष प्रतिहारी से मैंने दस जाहुई परिवर्तन के विषय में जिजामा की । उसने बताया कि मेरी अनुपस्थिति में महारानी त्रिशला देवी, राज और दिन चारों दिशाओं में अपने प्रभाजन-वेगी रथों पर यात्राएँ करती रही हैं । कुण्डपुर का सारा गृह-मंत्रालय, इस नये आवास-भवन की साज-सज्जा के लिए कई देश-देशान्तरों की तहें छानता फिरा है । अकन्ती की पण्य-बीरियियों से क्रय की हुई, अनेक सुदूर देशों की दुर्लभ वस्तु-निधियाँ और सामग्रन-अमवाव नित्य, गंगा-थम्भना की राह कौशाम्बी, आवस्ती और चंपा के घाट-बन्दरों पर उतरते रहे हैं । और वहाँ से गाड़ियाँ लड़लद कर कुण्डपुर आती रही हैं । पश्चिमी समुद्र के पट्टनों पर से बाबुल, असीरिया और मिस्र की नील नदी के दुर्मूल्य उपहार विशाल करण्डकों और बृहदाकार मंजुओं में भर कर आते थे । गांधार की राह, सिन्धु-सौवाहिर के पट्टन से, सुदूर पश्चिमी देशों के अंकुक, मण्डप, इत्य-फुलील, सुगन्धित द्रव्य, और अक्षिन्य रत्न-शिलाएँ लाई गई

है। सूक्ष्म नक्काशी तथा मुख्य-मीना के काम और चिक्कसारी करने को पारस्पर्य और वन देश के कई कला-शिल्पी आयेन्हये हैं। विजयार्द्ध की विद्याशूर नगरियों और प्रभास तथा पुष्करवर-द्वीप से चमत्कारिक विभूतियाँ और वस्तु-संपादाएँ बटोरी गई हैं। जानो हुई पृथ्वी के सौमान्तक पट्टनां से, दुर्गेम समुद्रों और द्वीपान्तरों के दिव्य कृद्धि-भित्तिदायक अकृतिम गत-दर्पण, चक्र और ज्ञारियाँ आई हैं। रात और दिन अविश्वासन शिलान और कार-कार्य मण्डन द्वारा, महल के इस पूरे खण्ड को, जैसे ईशान स्वर्ग की प्रतिस्पद्धि में रखा गया है।

हर हफ्ते राजमाता, कभी मगध, कभी काशी-कोसल, कभी शावस्ती, कभी कौशाम्बी, कभी अंग-बंग और कलिंग तो कभी अवत्ती तक की यात्रा स्वर्य अपने परिकर के साथ करती रही हैं। और ऐसी हर यात्रा में, नवनूतन शोभा से सजिल रथों में चढ़ कर, स्वर्णद्वीप से पारस्पर्य तक की, और आर्यावर्त के रामाम भहाजनपदों और राजनगरों की चुनिन्दा सुलदरी बालाएँ उनके साथ, नद्यावर्त के महलों में आई हैं।

... सुना और सुन कर मैं मुझुरा आया। मौं की हूरदर्शी चिन्ता का रहस्य पा गया। मेरी इन निरन्तर की यात्राओं और पर्यटनों से वे चौकी हैं, आतंकित हुई हैं। उस रात हिमवान से लौटने पर, उनका जो चिन्ताकुल और प्रतीक्षा-पाशल रुग्न देखा था, उरामे मेरे हृदय में एक नकीर-सी लिंच गई थी। उस रात जहाँ भीतर अर्गाम के आंगन से लौटकर महल की प्राचीरों में बन्दी हो रहने का अवसाद मझे असह्य लगता रहा, वहीं मौं की वह मूक चिन्तामूर्ति और उनकी चुंदी ओरों से टपका, उनके अन्तम्भल का वह ओम् मेरी तहों को क्षक्षोरता रहा था।

... आज रात फिर मैं अपने निजनक्षम से बाहर नहीं निकला। ... पर अनाम पतियों के परों की मसूर मुख-क्षेत्र में, यिराम न मिल सका। मेरी जंघाओं में कठोर हिमानियों की आलिगन-पीड़ा कसकती रही। और महाकाल-पुरुष का एक चरण-युग्म, बराबर ही मेरे हृदय के द्वार छटबढ़ा रहा था। ...

* * *

देख रहा हूँ, इस एक ही जीवन में, अकिञ्चन्य भोग-ए-क्षये के एक नये ही विश्व में, दूसरा जन्म लेना पड़ गया है। अब बड़ी भोग इहली किंहंगिनी का गान मुझे नहीं जगाता। मन्द-मधुर तन्तु-बाद्यों पर बाला-बाणों की प्रभातियाँ ही मुझे जगाती हैं। अपने ही आप उठने की स्वतंत्रता संभव नहीं रही है। उठना चाहूँ, उसमे पहले ही जाने कितनी अस्मियों की हथेलियाँ और बाहें चारों ओर फैली दीखती हैं। उपधानों की जगह नाहुओं के मृणाल-बृन्त सचकते दिखाई पड़ते हैं। माथे के नीचे

कब कोई जबन पुण्डरीक-सा सरक आया है, पता ही नहीं चलता है। पीछे तसे उद्भिज्ञायमान कमल-कोरक मुझे उठाते-से लगते हैं। कन्धों पर और मुख के आसपास, कुन्तल-भाँडों के सुगन्धित जामुनी बादल घिरे होते हैं। उठता नहीं हूँ, मानो उठाया जाता हूँ। और पगतसियाँ, फर्ज पर नहीं, कई बिछी हथेलियों के पदमकोशों पर ही उतर पाती हैं।

‘‘ स्नानागार तक का एकान्त नसीब नहीं रहा। आसपास कंकण-रणित कई हाथ सुगन्ध-जलों के कलश लिये प्रस्तुत होते हैं। एक के बाद एक जाने कितने सुगन्ध-बूँडों और उपटनों का सेपन और प्रक्षालन सहना होता है। और फिर एक नहीं, जाने कितने करतलों के मर्दन, दबाव और सुख-स्पर्श पीड़न मेरे आंग-आंग को आकान्त कर लेते हैं। अवन्ती-कन्ध मादिनी ने मेरे केश-प्रधालन का एकान्त अधिकार प्राप्त कर लिया है। उच्चे पर इष्ट, बंकिम श्रीबा के साथ मुझे कपोती की तरह, उसका नीलकान्ति मुख मेरे कन्धे पर भुका होता है; कभी उसकी चिन्हक रह-रह कर मेरे कपोत पर टिक जाती है। मेरे केशों के गुजलकों को वह अपनी तन्त्री कलाइयों पर लपेट कर मुझे और सबको दिल्लाती हुई उपल हास्य के साथ कहती है :

‘‘बड़े प्रतापी हैं हमारे बहुंमान कुमार! देखो न, माथे के कुन्तलों में सैंपलियों को माले हुए हैं। ‘‘ हाय, क्या करूँ, ये काली कुटिल नागिनियाँ, मेरी बाहुओं को हँसे ले रही हैं। ‘‘

और बहुत ही दर्दीली टीस से कराहती हुई, वह मेरा केशराग करके मेरी अलकों को, कटि-मेलवाला की सूक्ष्म धंटियों के भोहक ताल पर संबारती है। ‘‘ और फिर जाने कितनी कुन्तल-मंजूषाओं की शीशियों से अनेक अदिजानित देशों के फूलों की सुगन्धें, हौसे-हौसे कई अंगुलि-स्पर्शों के साथ मेरी रोमालियों में सिंचित कर जाती हैं।

उसके बाद इन्द्रधनुषी नीहारिकाओं जैसे कई हल्के फेनिल अंशुकों के उत्तरीय और कौशिय मेरे चारों ओर होड़ मचाने लगते हैं। अन्तर्वासिक पीताम्बर का माल तो मैं रख लेता हूँ, पर पुष्करवर-द्वीप के मुक्ताहार और उत्तरासंग मेरे दस और बन्धों को नहीं जीत पाते हैं। ‘‘ मेरे केशों के कुटिल नाग उछल कर मणि-बन्धों को दूर फेंक देते हैं। हर बार किन्हीं नाजुक डैगलियों से बांधे जाने पर, फिर-फिर जब वे मणि-मुक्ता को लड़िया उछल कर सौट पड़ती हैं, तो उन्हें छेलने को कई-कई पीसे कमलों-सी अंजुलियाँ एक साथ मचल पड़ती हैं।

विषुव और विविध व्यंजनों से सजे भोजन के सुवर्ण थाल, और मेरे उदर की जठरामिन के बीच भी, कई जतन करती ममतासी बीहों, कोहनियों, और कौलिया

उठाये औगुलियों के दुनार घिरे रहते हैं। शीर का चम्पक, मोहन भोग का एक कौविया, अथवा आम का एक फौक भी, रवत-स्पन्दनों और वज्रांचलों की लेंकी मिठास लेकर ही, मेरी जीव और बण्ठ तक पहुँच पाने हैं। इतनी ममता, जतन, प्यार-दुलार, जहाँ ही, वहाँ भोजन स्वाभाविक ही अनावश्यक हो जाता है।

इसी दृढ़ार रात के शयन तब, इन उर्वशियों का यह उत्तालयन, जाने किम्बे ही सम्मोहन के कोशाचरण मेरे तन-मन के अण्-अण् पर बुनता चला जाता है।

विभिन्न देणों से आई हुई ये मुन्दरी कन्याएँ अपनी-अपनी लोक्षणिक विशेषताएँ भी रखती हैं। और वह एक अपना कोहू आळग छें को लगाहार गी मेरे लिए क्षेंजोडे रहती हैं। मसलन कौणाखी की दो राजबालाएँ, अपने साथ बत्सराज उदयन को लोक-दिक्षात कुंबर-विमोहिनी बीणा, तथा महारानी बासवदत्ता की घोला बीणा की नामदत्त से निर्मित अनुकृतियों साथ लाई हैं। सबेरे और रात की संगीत-स्मृति मेरे क्रम-क्रम से इनका वादन करती हुई, विश्वारथ्य के हुस्ति-वनों का दृश्य साकार कर देती है। इनकी इस विद्या ने सचमुच ही मुझे मुग्ध किया है। मदनेश्वरी का उदयन-बीणा वादन मेरे मन के मातंग को बशीभूत कर सका था नहीं, सो तो वही जाने, किन्तु इरावती के घोषा-वादन पर, मैंने सिंधु की उमत लहरों की स्माभित हांते देखा है।

हमारी वैशाली से भी कुछ राजकुलों की लङ्घियाँ आई हैं। उन्हें विशाला की नगरन्वध आम्रपाली से नवनूतन जूँडे और वैणियाँ बाँधने की कला सीखी हैं। दिन में जाने चितवनी बार वे निर-निराले केण-विन्यासों में सजी दिखाई पड़ती हैं। चलो, इस बहाने देवी आम्रपाली की नर्तन-कुशल डैगलियों का केश-कीशल तो देखा। हर चीज का हर बार नया रूप, मुझे तो प्रिय ही लगता है। हर नये पल ऐसा लगता है कि पिछली लङ्घकी नहीं रही, नयी आ गयी है। इससे विगत पर्याय वा माह भंग होता है, और चिर गृहन में मुक्ति की अनुभूति होती है।

सुदूर दक्षिणावर्त के आणाचलम् से आयी है देवनेयी। शुणी लङ्घकी है। लाज का नोन उसमें देखते ही बनता है। दूर छारपक्ष में आधी ओडाल-सी खड़ी रह कर, आणवक नवन देखती रहती है। कई बार लगा है, उसकी चितवन में रक्तवेध करने की मायर्य है। अनंग देवता तद चोर की तरह, भीतर घुम कर आक्रमण नहीं करने; अपने सच्चे रूप में नग्न और मूर्त सामने आ जाते हैं। उनका जाक्रमण अनायास समर्पण हो ड़ठता है। यह विचित्र कन्या, जाने कहीं से कोई ऐसा रत्न-धर्पण पा गयी है, जिसमें देखते ही वस्त्राभ्युपगों से परे अपना निरावरण स्वरूप सामने आ जाता है। . . . पुझे धर्पण थमा कर, मैरी के पास बैठी, नमित नयन, कालीन कुरेदती रहती है। एकदम निस्युह। फिर भी जाने क्या पा जाती

है मुझसे ! . . . एक दिन मैंने कौतूहल वश, दर्पण को उलट कर, उसका पृष्ठ देखा । उस पर निषेध-वाक्य अंकित था : 'यह पक्ष न खोलो ।' सो खोलना अकिञ्चित हो गया । देखना हटाते ही, सामने पाया अपना अस्थि-पंजर, सन्मुख प्रत्यक्ष प्रवाहित रक्त-वाहिनियाँ और स्पन्दित वहसर हजार नाड़ियाँ : और शङ्खकर्ता हृदय । एक मूलगामी घटकों के साथ, जैसे मैं चौंका और जागा, और मुंह से चीस-सी निकली—'उफ्' ! जानू पर चिबुक टिकाये दैठी बैनतेयी घबड़ा कर उठ लड़ी हुई :

'प्रभु, यह आपने क्या किया ? दर्पण का निषिद्ध पक्ष खोल लिया . . . ? दर्पण की विचार लुप्त हो गई ! हाथ, भगवान् !'

मैं पहले तो निश्चल उसकी परेशानी पर मुश्य होता रहा । फिर ईषद् मुस्कुरा कर बोला :

'तुम्हारे दर्पण की विचार लुप्त नहीं हुई : और भी उद्दीप्त हो गई है । देखो निषिद्ध पक्ष में अपना चेहरा . . . !'

लड़की ने दर्पण मेरे हाथ से लेकर उसमें अपना चेहरा देखा, और देखकर ऐसी आत्मविप्रोर हो गई, मानो अपने ही आप पर मुश्य हो गई हो ।

'क्या देखा बैना, बताओ तो !'

'प्रभु, अस्थियाँ और नसीं के जंगल के पार, एक और बैनतेयी देवी । ऐसी नित्य सुन्दरी, कि अब तक सो ऐसा रूप अपना कभी नहीं देखा था । इन्द्रजाल . . . !'

'इन्द्रजाल नहीं बैना, सत्य देखा तुमने । क्योंकि वह देखने की शक्ति तुममें है । और दर्पण के निषेध को मैंने तोड़ा है । तब भय का जंगल हूबा, तो हृष्णियों का जंगल पार हो गया !'

• लड़की मेरे पैरों पर ढुकड़ पड़ी । उसके पलक-पक्षों का गीलापन कैसा अद्भुत मुक्तिवायक लगा ।

* * *

किसी-किसी रात छत पर नवनिर्मित कीड़ा-सरोवर में स्नान-केलि का आयोजन किया जाता है । सरोवर के तल की किलाओं और दीवारों में ही निशंग रीशनी-सी है । और ऊपर से घनदमा उसमें छिलकिलाते रहते हैं । नील नदी के देश से आये फुलेल पानी में छोड़ दिये जाते हैं । कुंजर-विमोहिनी और घोषा बीणा की महीन रागिनियाँ, हवा में स्पन्दन के नये ही प्रदेश खोलती रहती हैं ।

‘‘चारों ओर से पानी उछालती आलाओं के वर्तुल, केन्द्रीय पुष्ट एवं बीसे एक साथ आकर्षण करते हैं। पर पुष्ट जाने कब एकाएक साथ हो जाता है। लड़कियाँ हुबकी लगा कर उस पुरुष की खोज में परस्पर टकराती और होड़ मचाती हैं।’‘ सुगान्धाविल पानी में एक ऐसा इवित भादंब तीरता है, कि हर कल्पा अपने ही भीतर रमणीय हो रहती है। हराएँ को लगता है, कि केन्द्रीय पुष्ट उसकी बींहों में आ गया है। जाने कब तक वे इसी आत्म-सन्तम्य भाव से, अपने ही साथ केन्द्रिमन रहती हैं।

‘‘बहुत रात गये, बीणा-बादन विरमले ही वे आपे में लौटती हैं, तो पाही हैं कि कुमार बद्धमान का दिशाओं के छोरों तक भी कहीं पता नहीं है। सारे कलों में धूम-धूम कर वे उन्हें खोजतीं फिरती हैं। फिर हार कार उनके शयन-कक्ष में जाकती हैं। कुन्द फूलों से आच्छादित विशाल बींया, अनसोयी और अदृढ़ी है। पायताले बैनलेयी एक दीपादार से सटी गदन झुकाये चुपचाप पड़ी है।

इस जल के सामने की दीवार में एक और भी अन्तर्कक्ष का नीलवी छार खुला है। उसके चौखट में भीतर का अन्तरित सौम्य आलोक छाँक रहा है। उसकी देहरी पार कर, उसमें जोहने का साहस वे बालाएँ नहीं कर पातीं। भीतर कहीं अलक्ष्य में अखण्ड जल रही धूप-शलाका की चन्दन-कपूरी गन्ध-सहरियों को लड़कियाँ अपनी औंजुलियों में लेकर भाये पर चढ़ा लेती हैं। फिर धूमि पर आंचल पसार कर, अदांड़ वाले देहरी पार गिर्ह की विस्तरित नीम-झार की प्रविश्या करती हैं। और एक-एक कर चुपचाप अपने-अपने कलों में सोने चलो जाती हैं।’‘

मौ, पिता और सभी परिजनों द्वारा पौजित इस बुरामिसंधि को अच्छी तरह समझ रहा हूँ। उनके मन, मुझे बौधना अब आवश्यक हो गया है। मेरी निर्वन्ध याचाओं को लेकर, तरह-तरह की दृष्टकथाएँ-सी नम्बावर्त में चल पड़ी हैं। इतना ही नहीं, कुण्डपुर से लगा कर आसपास के साक्षिवेशों में गुजरते हुए सारे आर्यवर्त में उन्होंने विचित्र साहस-वृत्तान्तों का रूप ले लिया है।

माता-पिता और राजकुल की चिन्ता स्वाभाविक है। ज्योतिषियों ने जिसके जन्म पर घोषित किया था, कि वह आर्यवर्त का एकराट् चक्रवर्ती होगा, उसमें राजा के बेटे का तो कोई लक्षण दीखता नहीं। या तो आवारा भटकता है, या अपने में खोया रहता है।

‘‘बीच में व्यवस्था की गई थी, कि मुझे ज्ञान-विद्या सिखाई जाये। मारतों की प्राचीनतम और गोपनक्तम शस्त्रास्त्र-विद्याओं के निष्णात एक युवा दक्षिणीस्वर, दक्षिण देश से आये थे। उनका मूल किरात रूप ही मुझे इतना भा गया था कि, मैं उनसे दक्षिण विजयार्थ के अरम्भों तथा गोपन और वज्रित प्रदेशों का पता पाने

में ही उन्हें व्यस्त रखता था। पर उनके निर्देश पर जब भी कभी भी अनुष्ठान स्त्रीहृचहाता, तो उसका मुख अपनी ओर कर देता था। गुहदेव भय से बर्द्ध-दल्लों के दौड़ कर मुझ तक आये, कि तीर छूट कर सज्जा जाता था। मुझे बारपार बीमता तीर जाने कहीं चला गया, पता ही नहीं चलता था। एक दिन गुहदेव बोले:

‘कुमार, क्या इन्द्रजाल जानते हो?’

‘नहीं भहाराज, तीर खाने का अभ्यास कर रहा हूँ।’

‘तो तीर कहीं चला जाता है?’

‘वह तो आप अपनी विद्या से जानें...’

‘अपनी शास्त्र-विद्या में ऐसा तो कोई रहस्य मैंने नहीं पढ़ा-गूँठा! शब्दबेश, दिशाबेश, गमनबेश—सब जानता हूँ। पर यह बेश न पढ़ा न सुना, युवराज!’

‘तो सुनें भहाराज, यह आत्मबेश धनुष्यिद्या है। मेरी विविजय की काशा का यार्ग भीतर से गया है। वही अनुभूति की असंख्य वाहिनियां घुसी बैठी हैं। मैं उन्हीं के संहार की टोह में लगा रहता हूँ।’

‘गुरु दक्षिणेश्वर ने महाराज के निकट अपनी विश्वसता प्रकट की और विपुल दक्षिणा पा कर दक्षिणाखर्ते लौट गये।

* * *

शास्त्र-विद्या से शास्त्र-विद्या तक, कुछ भी मुझ पर कारण नहीं हुआ, तो चिर अपराजेय मदन-देवता का आवाहन-अनुष्ठान किया गया। कि राजमहल में टिक सकूँ, छहर सकूँ, रुक सकूँ, बैद्य सकूँ, और राजलक्ष्मी का हो सकूँ।

पर क्या कहें, विचित्र स्वभाव लेकर जन्मा है। इन बन्धनों और प्राचीरों से भी खेलता रहता है। तो ये मुझे बोध नहीं पाते। दूर देशों और महाजानपदों की श्रेष्ठ सुन्दरियाँ आई हैं: चढ़ेमान के लिये उन्होंने अपूर्व मदनोत्सव का आदो-घन किया है। प्रतिक्षण मदनोत्सव चल रहा है, मेरे खण्ड के कक्ष-कक्ष में। पर कोई अवरोध या निषेध मन में उठता ही नहीं। किसी कुण्डा की कसक भी नहीं, विरोध का वैयम्य भी नहीं। विदेहों के इस वैभव का, नन्दाबर्त का, मदन-देवता का और इन सारी बालाओं का कृतज्ञ ही हूँ। कि मुझे सुखी और महिमाशाली बनाने की चेष्टा में ये सदा निरत हैं।

इस ऐश्वर्य की एक-एक वस्तु का, इन सुन्दरियों के प्रत्येक अंग-प्रत्यंग, एक-एक हाथ-भाव, भयिमा, चितकन, शृंगार, लीला-कटाक्ष, सब का अकुण्ठ भाव से आनन्द-उपभोग करता हूँ। क्योंकि इन्हें सामने परकर, मन में कोई भय नहीं, बाधा नहीं, बाधक का नहीं। मिलन सहज है, सो विदेह का प्रसन ही नहीं उछला। निरन्तर

बल, भीतर के एक ऐसे पिलान-सुख में रमण है, कि बाहर की रमणी या शिवा को नेकर कोई व्याकुन्ता या अनाइवस्ति उठती ही नहीं।

हर चीज़, हर व्यक्ति, हर कटाक्ष, हर अंगड़ाई, अपने स्थान पर है, मैं अपनी जगह पर हूँ। इन सबकी अपनी-अपनी एक निष-नूतन भाव-भंगिमा हर समय प्रकट होती रहती है : उसके दर्शन से मैं सहज बानान्वित रहता हूँ। हर वस्तु की अनश्वष बदलती भावलीला को, मैं अपनी बान्तारंक भावलीला के साथ, एकतान्वता से जानता, जीता, भोगता हूँ, तो ऐसे बानान्द का अन्त नहीं होता। भोगना नहीं पड़ता, सहज ही सब कुछ भीतर भुक्त होता रहता है। तो मैं अनायास युक्त और मुक्त होता रहता हूँ। हर वस्तु का यह भाव ही उसका स्वरूप है। परिणमन ही उसकी एक वात्र स्थिति है, परिभाषा है। और परिणमन ही तो रमण है।

सो पिता और माँ का विशेष रूप से कृतज्ञ हूँ, कि उन्होंने मुझे काम, सम्मोहन, ऐश्वर्य, विसास के बीच भी मूर्खिके चरण-परम अनुभव का उत्पादन किया। और दो सारी बायाएँ कितनी बर्खी हैं, कितनी हृदयवती, प्रीतिनी, आरती और औंचु-लियों की तरह समर्पणवती। पूजा-अचारी, घूप-दीप, यज्ञ-हृताशन और आहुतियों को तरह पावन है ये। इस चरण-भज्ज में से जिस चिदनन्दि का स्पर्श-सुख पाया है, वह अनिवार्य है। यहीं की हर कुमारी ने एक उदाला की तरह मेरा आलिङ्गन किया है, और मैं उसमें से अधिक-अधिक उत्सुक गया हूँ।

मैं और अधिक स्वयं हुआ हूँ, वे और अधिक अपने सीन्दयें में प्रभास्वर हुई हैं। अधिक और किसे कहते हैं ? भोग की और क्या सार्वकर्ता ? मुक्ति की और क्या परिभाषा ? . . .



पिष्पली-कानन के भेले में

कई दिनों से पिष्पली-कानन के भेले में जाने की संयारियाँ राजद्वार पर चल रही थीं। प्रायः बड़ी ओर ही अष्ट-धान्य, सायान-असबाब और डेरे-तम्बुओं की बैलगाड़ियाँ लदती रहती थीं। कूच की हाँकें सुनाई पड़ती थीं। बज्जियों की कुलदेवी बम्बा का कोई मन्दिर पिष्पली-कानन के सीमान्त पर है। उसी के धारिक पूजा-पर्व के उपलक्ष्य में करदोत्सव के रूप में यह मेला लगता था। शरद पूर्णिमा से कातिकी पूर्णिमा तक।

एक दिन सहसा ही महादेवी का आदेश मिला कि उनके साथ मुझे भी पिष्पली-कानन के भेले में जाना है। अब्जा ही सगा। यात्रा का अवसर भी मिलेगा, और दिनों बाद मी के साहचर्य का सुख भी पा सकूंगा। कितनी अच्छी है ये, कभी कोई बर्जना या रोक-टोक नहीं करतीं। बस चूपचाप दूर से ही मेरे अनेक जहन करती रहती हैं। वे मुझे कितना समझती हैं! अचम्भा होता है।

उस दिन भोर के धूघलके में ही, सौरण्ड्वार पर कई रथ प्रस्तुत हुए। महादेवी ने संकेत किया कि मैं उन्हीं के रथ में, उनके साथ यात्रा करूँगा। मेरा रथ सेकर गारुड़ साथ-साथ पीछे आयेगा। मेरे प्रासाद-चण्ड का नवागत कुमारी-बन भी चलने को प्रस्तुत था। उन सब की निराहे एकमध्य मेरी ओर लगी थीं। अन्तःपुर वासिनियों के और भी कई रथ, प्रभातियों और मंगल-नीतों से गुजित थे। शहनाइयों, शंख-वनियों, दुरुभियों और घटसादों के साथ रथमालाएँ नगर-पौर से प्रस्थान कर गईं।

मार्ग में चारों ओर शरद श्वतु की प्रसन्न और सुनीला प्रकृति मुस्कुरा रही थी। धान्य के दूर तक फैले खेतों की हरियाली, हवा में हौसे-हौसे झीम रही थी। कुन्द और पारिजात फूलों की भीनी-भीनी सौरभ शारदीय प्रभात की नवीन श्रीतलता में धूल रही थी। गण्डकी तट के कास-बनों में एक पवित्र श्वेतिमा, उज्ज्वल कीमायें की आमा से दीपित थीं। गण्डकी के जलों में प्रचण्ड वेग के साथ ही, एक फोमल लचाब और उदाम उभारों की तरंग-लीला चल रही थी।

अनेक ग्राम्य और नागरिक वाजिशों के तुमुल कोलाहल और हृष्ट-ध्वनियों के बीच सहस्रों लोक-जनों का प्रवाह मेले की ओर बढ़ रहा था । पद्याचार करते नर-नारियों की नानारंगी नूतन वेष-सूथा, उनकी बैलगाहियों की घटिका-ध्वनियाँ, रथों और इक्कों के चित्र-विचित्र रंगों और पदों का रंग-वैचित्र्य, विविध प्रतीकों से अंकित केशरिया, लाल, ग्वेत पताकाएँ, गीतगान और लोक-शास्यों की समवेत-ध्वनियाँ : लोक-वेदना के आनन्द और सौन्दर्य का यह मूर्त स्वरूप पहली बार देखा । अब तक प्रकृति के विराटों और अनन्तों में यात्रा की है । दुर्गम ऊँचाइयों पर सम्मोहित की तरह बारोहण किया है । गहराइयों के अंतर्मों तक पहुँचने की संवासना से उद्देशित हुआ है । समय और निधिल में एकतान होकर विचारण किया है । वस्तियों के किनारों से ही, उनकी संघनता और विविधता का स्पर्श पाकर प्रकुलित होता रहा है । दूरागत दीयों से आलो-कित लोकालयों की घरेलू ऊँचा कई बार मेरे प्राण के तटों को व्याकुल कर गई है । ॥१॥ पर जनगण के सामूदायिक प्रवाह को आज पहली बार साक्षात् किया । लोकी जयुक्त यज्ञाचरा में लग्न-रक्षित ऐसी द्वार ऐरा हृदय रोभाचित हुआ । पुलकावलियाँ सजल हो आईं । सगा कि जनसम की भी अपनी एक संयुक्त आत्मा है । लोक के सामूहिक चैतन्य का भी अपना एक देवता है । अनवरत जन-प्रवाह के उन समवेत वाजिशों, गीत-गानों, हृष्ट-ध्वनियों के निरन्तर संघात से, ऐरा हृदय उमड़ आया । अखियों से एक विचित्र आनन्द का अशुपात होने लगा ॥२॥ इस क्षण इन सब के समन्वित प्रवाह में होकर भी, क्यों अपने को इनसे बिछुड़ा, एकाकी अनुभव कर रहा है ? आज तक तट पर रहने के अविचल साक्षी-भाव में अपनी उत्सुग अद्वितीयता का अहसास होता रहा है । पर आज मेरी चेतना की कैलासन्धूडा, गल कर सोक-जीवन की इस महाधारा के साथ तान्मय होने को व्याकुल हो उठी है ।

जाने कितनी दूर तक मैं और मैं अपने में लीन दीपों-से ही यात्रा करते रहे । एकाएक मौं के इंगित पर सारथि ने रथ को यात्रा-भीड़ से निकाल कर, सोनाली नदी के एकान्तवर्ती तट-मार्ग पर ले लिया । सहसा ही वे बोलीं :

‘किसा लग रहा है, बड़मान ?’

‘बहुत अच्छा । ऐसा तो पहले कभी लगा नहीं । एकाएक जैसे सब का हो गया है ।’

‘सुनती हैं महाविजनों और दुर्गमों में दोस्री यात्राएँ चल रही हैं । मन में आया कि एक बार तुझे लोकालय भी दिखाऊँ । प्रजापति-होकर जन्मा है, तो अपनी प्रजाओं से यों दूर कब तक रहेगा ?’

'दूर या पास ज्ञान भ्रेद मन में कहीं नहीं है, माँ ! सब से अलग, विरहित कोई एकाकी मूल्य है, ऐसा तो कभी नहीं लगा । पर ही, तट पर या ऊँचाई पर बढ़े रह कर, सर्व के साथ अधिकतम तदाकार हो सका है, ऐसा बहुर लगा है । अविकल को एकवारणी ही आलिगन करने की विकलता प्राण में सदा रही । स्वयम् को जान सकूँ, तो सर्व को सहज ही जान लूँगा, अपने में पालूँगा, ऐसी प्रतीति जरुर रही ।'

'पूछती हूँ भान, इन यात्राओं में तुझे किस बात की खोज रही है ?'

'कहा न माँ, स्वयम् की । अपने किसी एक और अविकल स्वरूप को पाने की, ताकि निखिल को एक शारणी ही जान सकूँ, आलिगन कर सकूँ ।'

'स्वयम् तो तू है ही । उसे क्या बाहर कहीं खोजना होगा ?'

'जितना स्वयम् है, वह पूरा नहीं लगता, माँ ! देख और काल में वह बैठा हुआ है, दिखरा हुआ है, खण्डित है । कोई एक अखण्ड, एकमेव, नित्य मैं, जो स्वायत्त ही, स्वाधीन हो, स्वयम्-पर्याप्त हो, उसे पाये बिना मन को विराम नहीं ।'

'तो उसे तो भीतर ही खोजना होगा कि नहीं ? क्या वह बाहर की यात्राओं में मिलेगा ?'

'भीतर और बाहर का अलगाव जब तक बना है, तब तक विकलता बनी ही रहेगी । ऐसा लगता है कि यह भीतर-बाहर, इन्द्रियों और मन के सीमित दर्शन-शान के कारण है । सर्व का दर्शन जब तक प्रत्यक्ष, सीद्धा, स्वानुभूत नहीं ही जाता, तब तक बास्तु वस्तु-जगत मन-प्राण को चंचल रखते रहे गा ही । विरहानुभूति बनी ही रहेगी । तब तक मोह और उससे उत्पन्न राग-द्वेष, आकर्षण-विकर्षण बना रहेगा । और इस तरह आत्म विकल बना रहेगा, वह अखण्ड और अविकल अनुभूत नहीं हो सकता । और खण्डित, पीड़ित, विकल आत्म बाहरी वस्तुओं का भी सम्बन्ध दर्शन और ज्ञान नहीं पा सकता । वस्तु के साथ व्यक्ति-आत्म के सच्चे सम्बन्ध का निषंय नहीं हो सकता । यही विकलता मुझे बाहर फैले अखिल और अनन्त में यात्रा करने को बेचैन कर देती है ।'

'तो अपनी इन यात्राओं में उस अखिल अनन्त को जान सके मान ? पा सके उसे ?'

'क्या पा सका, ठीक नहीं जानता । पर सर्व के सारे जात्यामों में बाहर-बाहर गथा है, तो आत्मविस्तार की अनुभूति अवश्य हुई है । लगा है कि इन्द्रिय, प्राण, मन की सीमित छिह्नियाँ टूटी हैं, भीतर विराट का बातायन खुलता जा रहा है ।

मेरे पुरुष ने अद्यावधि प्रकृति को अपने आलिंगन में समर्पित पाया है। इस तरह मोह-माया के पास टूटे हैं, और मुक्त स्वाधीन आत्म की अनुभूति हीने लगी है। अपने स्वयम् के भक्तिपत्र आया है, और सबे सुलभ लगने लगा है। विरह का विषाद टूटा है, और सबंत्र सब के साथ मिलन की गह निर्बाध हुई है।

'तुम भवंजयी और सर्वस्व हुए बेटा, तो विशला की कोँच कृतार्थ हुई। मब को पाया तुमने, मौ उनके प्रति अपने को दीखे नहीं? यगत तुम्हारे आत्मदान की प्रसीदा में है।'

'पूर्ण स्वयम् हो लूं, तो समर्पण आप ही मुझ में से बहेगा। आज भी जो चाहे, जैसे चाहे मुझे ने, अपने में बन्द तो कहीं से भी नहीं हूं।'

'पिछली चंत्र शुक्ला लेस्स को तुम सत्तार्ड्स बरस के हो गये, बेटा! आर्यविं की जाने कौन कुभारी, तुम्हारी राह में आईं बिछाये बैठी हैं। क्या उन आईं का मान नहीं रखेंगे?'

'हो सके तो सभी को आंखों में बसना चाहता हूं माँ, और सारी आईं को अपनी आंखों में बसा नेना चाहता हूं।'

'तो विवाह करो बर्डन्, किसी एक वाह बरख करो, और सब के प्रजापति, खरणागत-कल्पल पिता होकर रहो। यही मावी राजा के योग्य बात है।'

'विवाह करके किसी विक्रेय का बहन करें, तो लगता है, कि सद्विवाह होना संभव न होगा। और अपने राज्य की सीमा अब मुझे नहीं दीख रही है। मुझे तो जिलोक और विकाल के प्राप्ति भाव अगली प्रजा लगते हैं, तो मैं क्या करूँ? भूगोल और इतिहास का राज्य मेरा अभीष्ट नहीं। वह मुझे रास नहीं आयेगा, मुझे कम पड़ेगा, माँ।'

विशला के गर्भ में जैसे एक और जचीन्हीं प्रसव-बेदना सी होने लगी। और इस जाये की इयत्ता को पहचानना और भी दुःकर और असह्य सआ। कर्णीक चुप रह कर, महादेवी विनती-सी कर उठी :

'तुम्हें समझने की कोशिश में रंग भी कभी नहीं रखती है। जो बुद्धि में नहीं आता, उसे मेरी कोँच समझा देती है। फिर भी जाने क्यों, जी चाहता है कि . . . राजमाता का स्वर इूँच चला।

मैंने देखा, माँ दूर सोनाली पार के भोभनगार की भवन-अटाओं में जाँचे चढ़ाये हैं। उनकी बे उन्मीलित दरीनियाँ भीच-सी आई हैं।

'भया जी चाहता है माँ! यगत का मान होने से पहले, तुम्हारा मान होना चाहता हूं।'

'वह भाष्य मुझे अपना नहीं दीखता' . . . !' माँ की गम्भीरता को समझ रहा था।

'बोलो, क्या चाहती हो, माँ ? तुम्हारी हर आह पूरी करेगा !'

तेरे आवास-स्थान में आर्यविंश की श्रेष्ठ सुन्दरियाँ, तेरी एक निगाह को तरस गईं। क्या उनमें से एक भी तेरे चरणों तक पहुँचने के योग्य न हो सकी ?'

भूमि में एक अजीब मुक्ति की हिलोर-सी आई। मैं लोला-चंचल हों उठा।

'अरे बस, इतनी-सी बात माँ ? वे सभी तो मेरी चरीनियों में भूले डाल कर छुल रही हैं। मैंने तो किसी को रोका नहीं। और चरणों तक ही क्या, वे तो ऐसी चूड़ा पर अधिकार जमाये बैठी हैं। अबती की मादिनी मेरे कुम्हलों के संपर्कियों से भनमाना खेलती है। अपनों तो एक सांस भी वहीं भूल नहीं। रोम-रोम अपना निर्बाध छोड़ दिया मैंने, कि वे बालाएँ उसमें जी चाहा बेले। जी चाहीं कीड़ा करें। और क्या करें, तुम्हीं बताओ ?'

'अपनाव की भी एक दृष्टि होती है कि नहीं ! किसी को भी चुन नहीं सके तुम, कोई तुम्हारी अपनी होने लायक न लगी ?'

'अरे माँ, सो तो सभी भूले नितान्त अपनी लगीं। परायी तो एक भी नहीं लगी। अब तुम्हीं सोचो, एक को अपना कर, औरों को परायी भानू, तो उन्हें कैसा लगेगा ? उनका जो दुखेगा कि नहीं ?'

'वह तो संसार की होती रीत है, लालू ! अपना-पराया तो रहता ही आया है। जिसका जहाँ शृणानुबन्ध होगा, वहीं तो वह आयेगी।'

'संसार की रीत से तो महावीर कभी चल नहीं पाया माँ ! और मेरी रीत में अपने-पराये का घेद मेरे हाथ न आया तो क्या करें ? और सारे शृणानुबन्धों को तोड़ कर, मैं उन्हें धनानुबन्ध करने आमा हूँ। ताकि विरह-मिलन का पीढ़क दुर्लक्ष टूटे। जो कि संसार है।'

'वे सब निराश लौटेंगी, तो क्या उन्हें पीड़ा नहीं होगी ? इस भोग्यमन्त्र से उनकी व्यथा बढ़ेगी ही, और शृणानुबन्ध का अन्त नहीं, बृद्धि ही होगी !'

'वे निराश क्यों हों, और लौटे भी क्यों, माँ ? मैंने तो उन्हें अस्वीकारा नहीं, कि वे विरहित होकर जायें।'

'तो क्या सब को स्वीकार लिया है, लालू ?' माँ के मुख पर वरचुल मुक्काम फूट आयी।

'ही मी, चुनाव में नहीं किया है, तो सब सहज स्वीकृत हैं ही, अपने आप में, मेरे निकट।'

'यह तो भच ही, मेरे चक्रवर्ती बेटे के लायक बात हुई ! तू कहे तो सब राजकुलों में बबर करता हूँ कि उनकी कन्याएं बदेमान की वरिता हुईं। और विवाह का शुभ मूहूत दिखा लूँ।'

'मेरा चक्रवर्तित राज्यों, मिहासनों, शरीरों के बरण से लिद्द नहीं होगा, मी। वह इन सब को अपने में समेट कर, इनकी सीमाओं का अतिक्रमण नहींगा। तब जो साक्षात्य मेरे भीतर से प्रकट होगा, उसमें ये सब स्वतंत्र होंगे। और मैं इनके आत्म-स्वास्तंश्य का आईना बनूंगा। युज्ञमें जाश्वत प्रतिविन्यत, ये सदा को, शिकान और छिलोक में मेरे हो रहेंगे। इससे कम कोई चक्रवर्तित मेरा नहीं, मी।'

'... समझ रही हूँ। पर मेरी चुदि में समा नहीं पातीं, तेरी ये बड़ी बातें, लान्। पूछती हूँ, ऐसे ये कन्याएं कब तक कुंचारी रहेंगी ?'

'मेरी होने आयी है, मी, तो सदा कुंचारी रहेंगी ही। अक्षत कुमारिका ही महावीर की वधु हो सकती है। चाहें तो ये मेरे साथ आयें, पा अपनी मन चाही राह जायें। इतना जानता हूँ कि मेरे पास से ये वियोगिनी नहीं, योगिनी होकर ही लौटेंगी। जहाँ भी जायेंगी, अपने अन्तर-युरुष की अखण्ड सोहागिनें होकर रहेंगी।'

मी की अंतिमों में छलछला आये अंगू व्यथा के थे कि गर्व और आनन्द के, सो तो वे ही जानें।

पिप्पली-काशन का मेला-नगर आ लगा था। मी सारथि को आवश्यक निदेश देने में आस्त हो गई।

* * *

पिप्पली-काशनके विशाल बन-प्रदेश से, कई योजनों के विस्तार में यह मेला लगा है। आर्यवितं के विभिन्न प्रदेशों और कई दूर देशान्तरों तथा द्वीपों तक की नाना-विष दुनिया वस्तु-सम्पदा लेकर, चारों ओर से कई व्यापारी सार्थ यहीं आये हैं। बीच में स्वस्तिक के आकार में, और चारों ओर मण्डलाकार, अनेक पर्यावीयियाँ रखी गई हैं। सुवर्णकारी, मीनाकारी, रत्न और आधूषण, बहुमूल्य अंशुक और स्वर्ण सुचित वस्त्र, विविध धातुओं के आण्ड और सज्जा-उपकरण, भृष्ण बलोषधियाँ, गिल्प, चित्र, काष्ठ और चन्दन, हस्तिदन्त, नारदन्त तथा मर्मर पाषाणों के भज्जा-साधन, प्रसाधन-सामग्री और इत्य-फुलैल आदि वेश्यमर-

बीचों की अलग-अलग पण्य-वीथियाँ और बाजार लगे हैं। पण्य-रचना के बाहर एक और साथेवाह अद्वितीयों के रंग-विरंगे डेटेज्मेंटों वाले शिविर लगे हैं। दूसरी और अवन्ती से लगाकर मगध तक अनेक राजकुलों के विषद-विस्तृत, और भव्य राजजा, तौरण, पताकाओं से भोगित अलग-अलग शिविर आयोजित हैं। बीचेंवीच एक आनंदशान मेहराबी ढारों और चित्रित खगमों से श्रेणिवश विशाल सभा-भवन बना है, जहाँ सदरे से गात तक अनेक मोंठियाँ, मनोरंजन, संगीत-नृत्य और नाट्य के कार्यक्रम चलते रहते हैं। प्रगण इस मेले में राजघरानों के अन्तःपुर, युक्त राजपुत्र और राजकन्याएँ भी एकप्रित होते हैं। एक प्रकार से यह युवाजनों का शरदोत्सवी भेला होता है। रूप, लाक्षण्य, सौन्दर्य, सुगम्य, विविध-विचित्र बेश-सज्जा, केश-सज्जा, रत्न-अलंकारों की जगमनाहट से सारे धातावरण में एक असह्य संकुलता और नकाचीश है। रूप के इस रत्न-हाटक में सौन्दर्य और लाक्षण्य की प्रतिस्पर्धा है, टकराहट है। मेलाओं, नगुरों, मंजीरों, चटिकाओं और संगीत-बादों तथा नृत्य-तालों में कोई सुर-सम्बाद नहीं, प्राण का एक तुम्हल अराजक कोलाहल है। मान-अभिमान, अहंकार-मसकार, राग-हृषि, कामना-वासना की एक उप और रक्ताक्त स्पर्धा है। रसोत्सव तो यह मुझे रंच भी नहीं लगा, भरीचिकाओं का एक भ्रामक इद्रजाल चारों ओर फैला है, जो चित को रसलीन नहीं, उद्घिन और अशान्त करता है।

लिङ्छवियों का राज-शिविर किसी भी तरह भुजे गए न आया। सो भी की विसंग अनुजा लेकर, मैंने अपना तम्बू, पुका सीसाकर्ती आच्रकानन में लगवा दिया है। यहीं बगल में मेरी रथशाना बन गई है। साथ में रफ्खा है, बैंकल सारथी गारह को और दो-एक परिचारकों को। एक माझे मुझे खोजती मेरी सारी बाला-सहनरियों ने मेरे तम्बू में मुझे आ घेरा। बोलीं कि—'हमारा चितचौर हमसे बच निकाले, ऐसी कच्ची हम नहीं !' मेरी चुप्पी मुस्कान से वे सब स्तब्ध हो रहीं। तब मैंने उन्हें समझाया कि मैला देखने आया हूँ, सो विराव अच्छा नहीं। मुझे अकेला रहते हैं, स्वच्छन्द विचर कर जो भर कर खुली आँखों भेला देखने हैं। उनके साथ तो सदा हैं, और रहेग। भुक्त भाव से मैला देखने की अनुभाव मैंने उनसे चाही। शब्द नहीं, केवल मेरी आँखों के अनुरोध से वे पान गईं। मैं उनका बहुत कृतज्ञ हुआ। वे समाधान पाकर चली गईं। जैसे कि मैं उनमें से हरएक के साथ गया हूँ, अलग-अलग।

साथी-सखा की चाह मुझे कभी नहीं रही। फिर मेले में आया हूँ, तो प्रजाओं के इस मिलनोत्सव को देखना चाहता हूँ। संपूर्ण देखना, अकेले रह कर ही संभव है। बहुतों वा साथ होने पर, जैसे बैठ जाता हूँ। अकेला रहूँ तो मन के साथ सहज बुड़ाव हो जाता है। दोन्तीन दिन, जब जी चाहा, अपने मन की मौज से, मेले को

किनारे से, और उसकी विभिन्न पण्डीयियों में घूम कर भी देखा है। बस्तु-सामग्री यहाँ राशियों में चहुँ और फैली है। और स्त्री-पुरुषों का नानारंभी प्रवाह, उनमें उलझा, खोया, भटका, चौधियाया-सा फेरी दे रहा है। जो ख़रीद पाने में असमर्थ हैं, उनकी आईयों की कातार प्यास देखी है। जो मुँह सौंगे दाढ़ों पर क्य कर के बस्तुओं का उपयोग कर रहे हैं, उनके चेहरों पर भी तृप्ति नहीं दीखती। वहाँ यकान है, आरंता है, अवसाद है। बस्तुओं का अन्त नहीं, और भोक्ताओं की सृष्टि का भी पार नहीं। बहुमूल्य मणि-आणिकयों, सुगन्धों, मदिराओं, महाद्विक परिधानों में डुब कर भी, उनके चेहरों पर अतृप्ति है, आनन्द की उत्पुल्सता नहीं। लगता है, जैसे पा कर भी, भोग कर भी, बस्तुओं, से ये बिछुड़े ही रह गये हैं। परस्पर मिल कर भी, आमोद-प्रमोदों में तल्लीन हो कर भी, ये कितने अकेले हैं? प्यासे हैं। बस्तु के भालिक होकर भी, ये उससे विरहित हैं। ऐसे में आकर भी मिलन से वंचित हैं।

... मुझे लगता रहा कि बस्तुएं जहाँ हैं, वहाँ रह कर, मानो सब की सब मेरी हैं। उठा कर लेने और अधिकार करने की ज़रूरत ही नहीं महेसूस होती। और घूमता हुए तो विविध रंगी इन हजारों नर-नारियों में, अपने को व्याप्त अनुभव करता हैं। अकेला होकर भी, अलग तो कहीं से नहीं रह गया हैं। सब को एक-देख कर, एक विचित्र भरा-भरापन बनुशब होता है।

वैशाली से मेरे कई मासा लोग आये हैं। एक तीसरे गहर तिहाड़ और अकम्पन मामा मुझसे मिलने मेरे डेरे पर आये। मुझे देखते ही लिपट कर मिले। भर-भर आये। आई आईयों से कुछ देर चूप रह कर, मुझे देखते ही रह गये। मैं निष्पल ही रह सका। उनके बाल्कल्य को समझ रहा था। वे सम्प्रसित-से थे, कि मैं उनका रक्तांश, इतना दूर और अनपहचाना-सा क्यों लग रहा हूँ। अजननवी। उलहना देने लगे कि इतना दुर्लभ क्यों है, कि बार-बार बुलाने पर भी कभी नहीं गया वैशाली। कुछ योजनों का अन्तर भी नापने में न आया, न मेरे न उनके। मैं अपचाप मुस्कुराता रहा। फिर कहा, कि ठीक मुहूर्त आने पर ही तो भिलन होता है। ... वैशाली के वैभव, प्रताप, शौर्य और गणतांत्र की शौरव-गाढ़ा वे सुनाते रहे। मैं कच्चिपूर्वक सुनता रहा। कौतुक-कौतूहल भी कम नहीं था। पूरी विश्व-वार्ता के संदर्भ थे उन बातों में। अपने समकालीन विश्व को सुना। सारे आयोवितं को सुना।

आयहपूर्वक वे मुझे उत्सव-शाला में ले गये। आमोद-विहार का समय था। साझे जुही के फूलों-मी लिल आयी थी। अन्तरित ब्रकोष्ठों में से, संगीत की बहुत कोमल रागिनियाँ वह रही थीं। नृत्यों की महीन झंकारें श्वा में कसक

जगा रही थीं। कई देशों के मिसे-जुले फुलैलों की सुरक्षियों में विचित्र पानियों का सम्बेदन था, अनजान फूल-वाटियों की यादें जाग रही थीं। मानती और बन्धुक के पृष्ठ-हारों की बदार थीं। रत्निम भूमरों के सौम्य आलोक में, अलग-अलग यूथों में बेठे अभिजात युवकों की पान-गोलियाँ जम रही थीं। उनमें सभी प्रमुख जनपदों के कई राजपुत थे, कुलपुत्र थे, सामन्त और श्रेष्ठपुत्र थे। उनकी महसिलिक बेण-भूषाओं का वैचित्र्य देखने लायक था। सब की अपनी विशेषता।

मगध, कोशाम्बी और अवन्ती के युवकों का शुंगार अलग ही दीखता था। उनके किरीट-कुण्डल-केयूरों की मणि-प्रभा की अपनी एक छटा थी। मीनाकारी की झारियों से विलोरी चषकों में सुगंधित मदिराएँ दल रही थीं। और उनकी आँखों के बुमार, और ओढ़ों पर ताम्बूल के रसाव में, एक अजीब भादक सुग-बट थी।

मामा लोगों ने अनेकों से मेरा परिचय कराया। मेरे साथे केशरिया उत्तरीय और निर्बन्धन कुन्तलों को वे हेरते रह जाते। उनके प्रश्नों के उत्तर में, मैं मौन मृस्कुरा कर रह जाता। उनके बाणी-किलास और चतुर संसापों की मैं आँखों से सराहता, या कह देता : 'बहुत अच्छा !' उनके अभिजात वातावरण में, मैं कहीं घैट नहीं पा रहा था। वे फिर अपने सभ्याओं में व्यस्त हो जाते; मैं अव्यस्त भाव से उनके संलापों का रस लेता रहता।

जान पड़ता है, मामा लोग बाहणी-प्रेमी नहीं हैं। उनकी आँखें स्वच्छ सरसियों-सी निमेन हैं। और संयम की एक सहज सीमा-रेखा से वे मंदिर हैं। चेटकराज के पुत्रों में पाश्वपित्य श्रमणों और शावकों की मर्यादा अलकती थी। ' ' बैशाली के चिङ्गारी-पुत्रों के समुदाय में मेरा विशेष स्वागत हुआ। वे अलग ही दीखते थे। उनके साथ कुछ शाक्य-पुत्र भी जमे हुए थे। मुकुला लड़ियों के साथ मालती-मालाओं से बैधे उनके केशपाण में विरल नोलम या हीरे चमक रहे थे। उनकी आँखों में भी साम्य-सुरा के बाल कुमुद छिले हुए थे। सबने मुझे बहुत प्यार से अपनाया, गले लगाया, निहोरा किया कि ऐसे खोया न रहूँ, बैशाली आँके, विशाला का लोक-विश्वुत राजकुमार है तो उस अवका-नगरी के रथों, वत्तायतों और रंगशालाओं में विहार करूँ। वहाँ के संघागार में मेरी आवाज भूजे। बैशाली की विश्व-विश्वात विलास-सक्ष्याएँ देखूँ, जहाँ नित्य उत्सव चल रहा है।

' ' और यह क्या कि मदिरा के चषक को भी प्रणाम करके सामने रख लिया है मैंने, और उसमें अपना प्रतिबिम्ब देख कर ही मुग्ध हूँ। एक ने गलबाँही ढाल कर कहा : 'पियो बद्मान, फिर जाने कब मिलोगे ?' मैंने इष्ट मुस्काराकर कहा : 'पिये हुए हूँ !' 'बरे कब, रही ? तो कुछ और सही ! दूसारा साथ भी तो

देना होग।' मैंने कहा : 'वन्द्यु, जाने कब से पिये हुए हैं, पता नहीं। जान पड़ता है पी कर ही जन्मा हूँ। और तुम सबकी आँखों का नशा बना हुआ हूँ। तो साथ ही तो हूँ, और निरन्तर पी रहा हूँ।' सब खिलखिला पड़े, खूब ठहाका मार कर। एक शाक्य-पुत्र बोला : 'कुमार वद्धमान निरे शाहूण्य तगते हैं, क्षत्रियों के बीच। कोई महाशाहूण !' श्रावणों के प्रति प्रबल तिरस्कार और व्यंग्य से भरा, शाक्यों का प्रचण्ड वंशाभिमान बोल रहा था। मैंने कहा : 'तथास्तु। आपका अभिनंदन मुझे शिरोधार्य है। जनक विदेह के बंगल को आपने पहचाना, आभारी है। अह-पुरुष को बाहुओं में क्षत्रिय अपनी जगह पर है। सत्य भमय पर प्रकट होगा।' शाक्य का अभिमान विदीर्ण हो गया। बोला : 'रीर्ण पर बैठा है क्षत्रिय ! शाहूण-उसके पैरों में याचक है। वे हमारे दासी पुत्र होकर रह गये। लिङ्छवि ही कर, उन्हें सिर पर चढ़ाओगे, वद्धमान ? उसे के ठेकेदार, इन घर्में के हत्यारों को ?' 'शाहूण या क्षत्रिय, मेरे मन कुनजात नहीं, कमजात है, बेसनजात है, शाक्य ! और एक ही व्यक्तित्व में ये दोनों समन्वित हो जायें, तो अचम्भा क्या ? मैं इनमें से कोई नहीं, या फिर दोनों हैं।' 'साधु, साधु, वद्धमान !' मामालों के साथ कुछ लिङ्छवि-पुत्रों ने एक स्वर में अप्यर्थना की। शाक्य निरन्तर हो गया, पर उसकी भौहों का मान जरा भी नहीं गला।

'अभिजात हो, आदे वद्धमान ! लिङ्छवि के फुल-सूर्य हो। हमें तुम यह गवं है।' एक लिङ्छवि गद्गद कण्ठ से बोल उठा। 'अभिजात वह, जिसमें आत्मा का ऐश्वर्य प्रकट हो। लिङ्छवि, कुल से नहीं, अन्तर के वैभव से अभिजात हो, यही भेरा अभीष्ट है।' सिंहभद्र मामा ने उमड़ कर चुपचाप मुझे अपने से सटा लिया। ' 'शाक्य-पुत्र उठकर अन्यत्र जाने दिखाई पड़े।

लिङ्छवि कुछ देर तो तत्त्व-चर्चा में बिलखने रहे। फिर सौन्दर्य-वार्ता चल गई। सौन्दर्य के लिए उनकी खोज और लगत जगत्-विरुद्धात है। ' ' और जाने कब वैशाली की नगर-वधु आश्रपाली में वे हूँबने-उतराने लगे। उसके एक-एक अंग-प्रत्येग, देह-सौष्ठव, अंग-भंगिमा, भाव-भंगिमा, उसके शृंगार और विलक्षण केश-कलापों की वे बारीक विश्रकारी-सी करने लगे। एक ने मुझे सक्षय कर कहा : 'आर्य वद्धमान, एक बार आश्रपाली को देखने के लिए ही वैशाली आओ। हमारी वैशाली की सौन्दर्य-लक्ष्मी है, अम्बा ! वह आर्यावती के रमणीकुल की दीपशिखा है। तुम्हें पा कर, धन्य हो उठेगी पाली ! पुरुषोत्तम को पहचानने की दृष्टि उसके पास है !'

'आप अम्बा से कहें, कि महावीर वद्धमान उन्हें प्रणाम करता है। वे कभी आद करेंगी तो आऊंगा। वे वैशाली का कौमार्य हैं, मेरे मन। लिङ्छवियों की विलासिता, विशाला की सौन्दर्य-लक्ष्मी को कलंकित नहीं कर सकती। वे हमारे

गण-तंत्र की गणिका नहीं, गणमाता हैं। लिच्छवियों की सौन्दर्य-प्राप्ति को आल्त करने के लिए माँ ने अपने बक्ष को हृष्ण-कुण्ड बना दिया है। अपने कुल-बधुत्व और मातृत्व की बलि चढ़ाकर, वैशाली की जनपद-कल्याणी ने अपने बैचल में हृष्म सबको भरण दी है।'

'यही तो हमारे गण-तंत्र का गौरव है, आये बद्धमान। हमारे जनपद की सर्व-ओष्ठ सुन्दरी, किसी के व्यक्तिगत स्वामित्व की वस्तु नहीं हो सकती। उस पर हम सबका समान अधिकार है। हमने सप्तभूमिक प्राप्ताद में आम्रपाली को, वैशाली के हृष्म-सिहायन को महाराजी बना कर बैठा दिया है।'

‘... इयलिए कि जिसके गास सहक सुवर्ण मुद्रा हो, वही उसका क्षय कर ले ! और उसे अनजाहे भी बिक जाना पड़े। क्योंकि वह गणतंत्र की सम्पत्ति है। अमा करना देवानुप्रिय, हमने अमा को हृष्म-सिहायन पर नहीं रैउआ, हमारे भी को कोडे पर बैठाया है। यह हमारे गणतंत्र का गौरव नहीं, लज्जा है। और सौन्दर्य-पूजा में स्वामित्व का प्रश्न वाही से आ गया ? उसकी रूपनी पर अधिकार करने के लिए, हमारे बीच प्राणों की बाजियाँ लग गईं। खूनी प्रतिस्पर्धाएँ जारीं। हृष्म-पुढ़ लड़े गये। हमारी निर्बन्ध वासना की आग में वैशाली के भस्म हो जाने तक की घड़ी आ पहुँचीं। क्या यही हमारी सौन्दर्य-पूजा है ? ... हमारी रूप-तृष्णा जब किसी भी तरह काबू में न आ सकी, तो अम्बा ने अपने हृष्म को मसोस भार, औखों में आसू भर कर, वैशाली के गण-देवता की सत्यानाश की ज्वालाओं से बचाने के लिए, अपनी आत्माहृति दे दी। इसमें गौरव हमारा नहीं, उसका है जिसने हमारे पश्च को झोला, सहा और दुलारा है। माँ की जाति सदा से यही करसी आयी है। ... हम सबकी हूने के लिए अम्बा, एक दिन आम्रदन में आकाश से टपक पड़ी थी। अमातू-पितृजात, कुल, गोत्र, नाम से परे, वस तिरी अम्बा !'

'तो जगद्द्वा के दर्शन करने हीं सही, एक बार वैशाली आओ, काश्या !'

'माँ बुलायेंगी तो अहर आऊंगा। वर्ना जहाँ भी हूं, वहीं से उनकी करण-मुख्यभी को प्रलयक देख रहा हूं। मैं उनसे जारा भी दूर नहीं हूं। औखों से नहीं, अन्तर से ही उनका दर्शन किया जा सकता है। ... लिच्छवी-कुमारी से एक ही अनुरोध है आज मेरा, तुम्हारे नाम की तरंग इतनी, इतनी उदाग हो, कि पूर्णकाम होकर ही चैन पायें। आम्रपाली तब तुम में से हरेक की बहुत अपनी होगी। वैशाली का साग सुवर्ण-रस्त तब उमकी चरण-धूलि होकर रहेगा। और उसकी औखों की ममता तुम सबकी राह में बिछी होगी। ... पर जानता हूं, यह नहीं होगा। ... हो सका तो किसी दिन इतना समर्थ होकर वैशाली आऊंगा, कि तुम मेरी बात टाल न सको !'

सारे लिखते थे पुरा, सर कुकाये थे पुर हो रहे। अदिता की जातियाँ और चबल
मूँह ताक रहे थे उनका।

मैं सहसा ही उठ खड़ा हुआ। सबका अभिषादन कर चिंडा हो लिया। छोटे
अकम्पन भासा गले में हाथ ढाल कर बोले : 'वर्दमान, कौशाम्बी की कुमारिकाएँ
आज नृत्य करेंगी ? रंगाला में नहीं चलोगे . . . ?'

मैंने हँस कर कहा : 'वह तो अपने ही अन्त पुर की बाला के पास लौटना
चाहता है, भासा। फिर किसी दिन आँऊगा . . . !'

भासा खिलखिलाकर येरी जाती रीढ़ हेरते रह गये।

प्रथम लोक-यात्रा

ग्रियकारिणी त्रिशला देवी सबकी मनभावनी हैं। सारे भरत-खण्ड के शीर्षस्थ राज-अन्तःपुरों में उनकी बृआएँ, बहनें और भतीजियाँ बैठी हैं। सबकी सब इस मेले में आयी हैं। और वे उनसे इतनी धिरी हैं कि मैं स्वतंत्र कूट गया हूँ। पर उनके आदेश तले मेरी साल-सेमान, जसन-उपचार में कोई कमी नहीं आ पायी है। कभी मेरी ही ओर से है, कि ऐरे मैं मेरी सेवा के बे सारे स्नेहायोजन मुँह ताकते छड़े रह जाते हैं। उन्हें खेलने को वहाँ कोई नहीं होता। . . . महार्घ शंया की हिमोज्ज्वल चाँदनी अछूती ही रह जाती है। इन देवोपम भोगों का भोक्ता ऐसा अभागा है, कि उन्हें भोगने को वह कभी उपस्थित ही नहीं रहता। जाने कहीं थागा फिरता है।

इस मेले में आकर लोक-जीवन को यह गंगा-जमुनी धारा जब से देखी है, मेरी चेतना केन्द्र में बन्दी नहीं रह पायी है। बर्तुल है, विस्तार है, तभी तो केन्द्र की सार्थकता है। विश्व-तत्त्व की जिजासा ही अब तक मन में सर्वोपरि रही है। पर विश्व के विस्तार और वैविध्य से कट कर क्या तत्त्व अपने आप में ही कूटस्थ रह सकता है? नहीं, वह वस्तु-स्वरूप नहीं। वह सत्य नहीं। सत्ता परिणामी है, निरन्तर उसमें परिणाम उत्पन्न हो रहे हैं। वह ध्रुव और प्रवाही एक साथ है। परिणमन, परिणमन, परिणमन . . . 'यही क्या मेरा और सर्व का स्वभाव नहीं?' परिणमन है कि लोक का विस्तार संभव है, जीवन की लीला संभव है। जीवन . . . 'जीवन' . . . 'जीवन' . . . 'अनन्त जीवन, अविनाशी जीवनः' और उसका शाला, द्रष्टा, नाष्टा, भोक्ता मैः अनन्त अविनाशी पुरुष, जीवनेश्वर, जिनेश्वर !

पिपली-कानन के मेले में समझ लोकाल्मा का दर्शन हुआ। जीक से मिलन हुआ। दिगन्तों तक फैली जनगण की जीवन धाराएँ मुझे बेतहाशा खींचने लगी। मनुष्य : मानव की अनादिकालीन परम्परा। उसके संघर्षों और विजयों की अन्तहीन गाथा। मनुष्य से बढ़कर कुछ नहीं। मनुष्य की ममधारा में जो जीवन का भहोत्सव रचता है। काल के कराल पाणों में, जो मुक्ति का खेल खेलता है। स्वर्ण और तीरीस कोटि देवता जिसके सद्गुरुहान, सर्वजयी चरणों पर कुरते हैं। . . .

मनव्य की पुकार ने एक अपूर्व संवेदन से मुझे ऊँचाकिल कर दिया। अपने ही गमं रक्त की धारा को, पृथ्वी के आरयार बहते देखना चाहता हूँ। उसमें खुल कर अवगाहना और तंरना चाहता हूँ।

‘‘ओर मैं लोक-यात्रा पर निकल पड़ा। आसपास के ग्रामों और सभिवेशों में तो रथ पर ही चला जाता था। पर सीमा और योजना से चलना मेरा स्वभाव नहीं। एक महायोजना मेरे सीतर से आगोआग प्रकाशित हो रही है; और मेरे पश्चिमों में चक्रवर्ती का चक्रचिह्न है या नहीं, सो तो नैमित्तिक जाने, पर चंक्रमण करते ही मेरे नरण मातृगर्भ से बाहर आये हैं। यह मैं जानता हूँ। सो रथ की क्या विसात। मेरा सेन्ट्रल्यू अष्ट्र 'प्रब्रह्मान' ही इन दिनों मेरा एकमात्र संगी हो गया है। उसकी शुलगों और टापों पर ही, जैसे मेरी यात्रा के भूगोल अपने आप खुलते चले जा रहे हैं। सुदूर उत्तर के इस ओर से, दक्षिण में सुवर्ण-रेखा नदी को पार कर, सिंहभूमि तक यात्रा हुई है। पूर्व में चम्पा के महारथ्य को पार कर, विक्रमशिला के अंचलों में होकर, महानन्दा के हटों में चिचरा हूँ। पश्चिम में केसुत्त, कपासिय-वन होते हुए कर्मनाशा की प्रचण्ड लहरों पर घोड़ा फैका है।

नगरों से विशेष आकृष्ट न हो सका। ग्रामों के प्रांगण ही मुझे अधिक खींचते हैं। वहाँ निराकरण नगर भूमि है। मौ के आँचल हैं। दूध और धान्यों से उफनाते हुए। वहाँ भाटी भीजकर गर्भवती होती है। उसमें अकुर फूटते हैं। जीवन के सोते लरजाते हैं। सृष्टि की उत्पत्ति के बे उत्स हैं। उत्पादन की वह यज्ञभूमि है।

कृषकों के बांधनों में अतिथि हुआ हूँ। अपनी भूमि के बे स्वामी हैं, पर उपज के नहीं। क्योंकि बाणिज्य की चतुराई से बे भिज नहीं। उनके श्रेणिक-जेठु उनकी उपज को एकत्रित कर, बणिकों के साथ-साहों को बेचते हैं। बदले में जो भी कार्य-पण मिल जायें, उन्हीं से अन्य जीवन-साधन पा लेते हैं। घोड़ा पाकर ही संतुष्ट हो जाते हैं। अभाव नहीं, पर स्वभाव से ही दीन हो गये हैं बे। क्योंकि बे श्रमिक हैं, भोक्ता नहीं। भोक्ता हैं, चम्पा, राजमृही और वैशाली के बे ध्रेष्ठ, जो उनकी धान्य-वानियों में से सुवर्ण-मुद्राएँ तिकाल कर, अपने तहखंडों और भक्तों में सुवर्ण-रत्नों के कीष जमा करते हैं। भोक्ता हैं बे राजा, भूदेव और गण-राजा जो भूमि के श्रेष्ठ फलों से आने वैभव-विकास की मदिराएँ खींचते हैं। कृषक-ग्राम में एक कृषक के अंगन में अतिथि हुआ था। भृद्धिक बसन-अलंकार धारण नहीं करता है। उन्हीं की तरह काष्ठ-यादुकाणे फहमता है। पर मेरा स्वरूप धोखा दे जाता है। सो कृषक परिवार देखकर ही, सम्प्रसित चकित हो रहा। अपने सामने उनका यो छोटे पड़ जाना मुझे रुका नहीं। नवल धान्य की-सी कोमल, लाल मोटी

बोडी औरे एक कुमारिका ने मुझे दूष और भात का भोजन कदली-पत्र पर परोसा। मैंने कहा :

'भन्ते कुमारी, तुम्हारा गन्धशालि मधुपक्ष है। तुम्हारा दूष अमृत है।'

कृषक-बाला लज्जा से भूक, नमीभूत हो रही। कृषक आंकिचन्य से कातर हो आया।

'हम भन्ते कैसे, महाभाग ! हम लघुजनों को लफ्जित न करें, भन्ते ! आप आर्य हैं, प्रभु, धनिय हैं। हम भूमिहार अनार्य हैं। हम प्रजा हैं, आप प्रजापति !'

'पति यहीं कोई विभी का नहीं, भन्ते कृषक ! हम सब अपने-अपने पति हैं। और प्रजापति हम नहीं, तुम हो। क्योंकि तुम्हारे शम के बीच से धरित्री गर्भ धारण करती है। तुमसे उत्पन्न धान्य से प्रजाएँ जन्म लेती हैं, जीती हैं। आर्य और धनिय वंश से नहीं, कर्म से होते हैं, भन्ते कृषक ! जो अर्जन करे, वही आर्य ! जो गजाओं को जीवन दे, वही धनिय ! तुम्हीं सच्चे आर्य हो, धनिय हो, प्रजापति हो, भन्ते कृषक !'

'ये तन्दुल आपके योग्य नहीं, देव !'

'ये गन्धशालि हैं, भन्ते कृषक ! कुमुद-शालि हैं !'

'वह तो आपके प्रेम की सुगंध है, आर्य ! गन्धशालि हमारे पास कौन रहने देगा ! कुमुद-शालि हमारा खाद्य नहीं। वह तो वैशालकों और भागधीं का आहार है...' !'

'तुम उगाने हो, खाते वे हैं ? तुम नहीं ?'

'वह महादिकों के ही योग्य है, देव ! हम उन्हें खिला कर तुप्त होते हैं।'

मैं स्तब्ध और उद्घुक्ष हो रहा। पर कहीं मेरे गहरे में एक ऐसा आधात भी हृआ, जो मेरे हर रक्ताणु को बेघ गया।

....'काशी और कौशल के तन्तु-वाय-पामों में गया है। इन वस्त्र-शिल्पियों की कुटीर-लद्योग शालाएँ देखी हैं। इनकी उँगलियों और नखों में विश्वकर्मी बैठे हैं। अंगुकों में ही ये अपने हृदय की समस्त कोमलता बून देते हैं। इनकी युनी मुलायम और महीन मलमलें नींदनी बो माल करती हैं। पर ये मोटे-झोटे जीर्ण वस्त्र पहने रात-दिन अथक परिश्रम करते अपने ही भीतर से कर्णनाम की तरह वसनों के जाल बुनते चले जाते हैं। इनके छार निमित म्बर्ण-खचित कौशियों से कौशाम्बी, अवन्ती और वैशाली के राजपुरुष, श्रेष्ठ, भास्तव और सुन्दरियों की विलार-संध्याएँ जगमगाती हैं। इनकी मलमलें पारस्य

के उदानों, घ्रेनेस के महसों और नील नदी के तट-कुंजों में विहरते प्रणयीजनों का सम्मोहन-जाल बनता है। एक तन्तुवाय को लक्ष्य कर मैंने कहा :

'देवता, भोटा-ओटा पहन कर, किसके लिए ऐसा दारूण थम करते हो ?'

'देवता कहकर हमें लज्जित न करें, देवार्य ! हमीं देवता होंगे, तो हम किसे देवता कह कर धन्य होंगे ?'

'तुम भी देवता हो हो, भन्ते, सो चाहे तो मुझे भी कह लो। परस्पर देवोभव ! हम परस्पर, एक-दूसरे के देव ही हैं, शिल्पी ! मैं तो केवल विश्वद्रष्टा हो कर रह गया, तुम तो विश्वकर्मी हो। आपनी उंगलियों पर अह्याष्ठों के जाल बनते हो !'

शारे तन्तुवाय चक्रित-मूर्ख, प्राणिपात में छुक गये। उनका बोल न फूट गया। उन्होंने एक महार्थ स्वर्णसार कौशेय मुँझे मैंट किया। मैंने वह खोल कर उन्हीं सब पर डालते हुए कहा :

'महावीर बहुमान वसन से ऊब गया। वैशाली के राजकुमार को दस कीत अद्वार्देता से विरति हो गई है, शिल्पियो ! जिस दिन इनका बनकर उन्हें धारण करंगा, उसी दिन ये मेरा सम्मान हो सकेंगे !'

'देवार्य ! वैशालीपति ! जय हो, जय हो, धन्य धारण ! इधरे जन्म कुतार्थ हो गये !'

इस एक मुस्कान से उन शब का अभिषेक करता हुआ अपनी राह पर आगे बढ़ गया।

...दूर से ही बहला देने वाने घनों की आवाजें सुनकर, मैं एक काली घुँड़ाली लगती अस्ती की ओर बढ़ गया। यह कम्मारों का धाम था। ये लोह और फौलाद के शिल्पी थे। इनकी विशाल कम्भेजाला को देखकार में स्तम्भित रह गया। आग की छदानों जैसी वृहदाकार भट्टियों में, कई लगलपानी जीभों-भी ज्वालाएँ, होमाग्नियों को चुनौती देती-सी उठ रही थीं। कच्ची लोह-खट्टानों को इनमें गला-नाला कर, शिलाओं के बड़े-बड़े कुण्डों में ढूला जा रहा था। पर्वतों के कच्चे को अपने श्रम की धीर्घ से तपा कर, ये कम्मार उन्हें अपनी भीमाकार निहाइयों पर, लड़े-बड़े घनों से पीटकर शिष्टों और पतरों में मनचाहा गढ़ रहे थे। इनकी रक्तारण और्में जैसे चिनगारियों से ही बनी थीं, और इनकी स्वेद से नहायी पट्टेदार भुजाओं में जैसे पर्वतों ने आत्मापैण कर, यांडिन्य और लचाव का एक अद्भुत सम्मिलित स्वरूप स्थपस्थित किया था। फावड़े-कुदाली,

ताजे, तीर-कमान, तलवार-भाने, और बल्लभों से लगाकर, महाम-भवनों की छतों में लगने वाले त्रीम, दुगों के कपाटों की घुरियाँ और उनके कीलों तथा हाथियों को बांधने वाली सौकलों तक का निर्माण ये करते हैं। इन्हीं के द्वारा निर्मित ग्रस्तात्मों तथा दुगों के दुर्भेद कपाटों के बल पर सभाटों के सम्बान्ध बढ़ते हैं, और धनकुबेरों के तहखाने भुरखित हैं। इन्हीं की दाली सौकलों में बंध कर अवन्य हस्ती चक्रवर्णों के गोरवशाली वाहन बनते हैं।

पर नगरों से दूर इन वस्तियों के घुणे से कर्नीछे घरों वो, अनेक धारु द्रावक रसायनों की दुर्भान्धित नालियों को भी सहना होता है। पर वज्य के ये शिल्पी शुद्ध कहे जाते हैं। भद्र आयों के महात्मों और दुगों को देखने तक का इन्हें अवकाश नहीं। फटे-टूटे वस्त्रों और लंगोटियों पर भी इनके काले पश्चरीले शरीर मामों अहसान करते हैं।

‘‘बद्धि क बद्धियों के ग्रामों का आकरण भी कम नहीं। हिंस प्राणियों से भरे दुर्गम अरण्यों को भेद कर, ये अकाद्य फेडों के घड़ कट ताते हैं। उनमें से इनके बनाये घरों पर, बैलगाड़ियों से लगा कर भवाटों के रथ तक पृथ्वी की परकम्मा करते हैं। इनके द्वारा निर्मित महतीरों, द्वारों, छिड़कियों और रेसिगों से बने घरों और प्रसादों में मनुष्य प्रथम और भुखदा का कुम सुख अनुभव करते हैं। चन्दन, शीशम और महोगानी काढ़ों में ये अपनी कल्पना, कारीगरी और पस्तीकारी से सौन्दर्य के सुरम्य हर्म्य छोल देते हैं। पर इनके गड़े रथों पर चढ़ विश्वजय करने वालों, तथा इनकी निर्मित नावों पर चढ़कर देशान्तरों की धन-सम्पदा बटोरने वाले सार्थवाहों भी समाज-व्यवस्था में, ये शुद्ध हैं, समाज के पदतल में हैं।

‘‘राज-नगरों और ग्रामों से ही सटी हुई ऐसी कई चीरियाँ होती हैं, जिनमें श्लित शिल्पियों के आवास हैं। इनमें चित्रकार हैं, मूर्तिकार हैं, स्वर्णकार हैं, रत्न-मीनाकार हैं, हस्तिदन्तकार हैं। इनके द्वारा रचित चित्रपटों से राजकन्याएँ, राजपुत्र, श्रेष्ठ-कन्याएँ, दूर से अनदेखे ही परस्पर एक-दूसरे के सम्प्रोहन-प्राप्ति में बैध जाते हैं। इनकी सौन्दर्य-दृष्टि इननी पारदर्शी है, कि किसी अन्तःपुरिका के मुख-मण्डल को एक झलक में देखकर ही, अपने चित्रपट में ये उसके असूर्य-प्रवृत्त अंगों के गोपन चिह्न तक अंकित कर देते हैं। इनके रंगों में मानव भन के आकाश-विहारी स्वप्न ढलते हैं। इनके द्वारा अंकित भित्ति-चित्रों से महालयों में, अगुव भाव और कल्पना के सौन्दर्यलोक खुलते हैं। इनके द्वारा शिल्पित मूर्तियों में, पाषाण का काठिय, मुन्दरियों के ओष्ठ-कमल, उरोज-मंडल और उस्मों का मार्वंश बनकर, मनुष्य को मार्वंश-चेतना को लोकोत्तर बना देता है।

इन स्वर्णकारों और रत्न-सिंहियों के हारा तराशित, आङ्गत, रचित, खण्डित आश्रयों, पुकुट-कुण्डलों, मणि-दर्पणों, रत्नहारों और कला-बातायनों में मनुष्य की सौन्दर्य-चेतना दिव्य और अनौपीकिक के राज्य में अतिकाल्प हो जाती है। इन हस्तिदल्लकारों हारा निर्मित दीपार्ण दुर्भास मातायों, व्याघ्रों और दुर्जेय मुख्यरियों के मनों को वशीभूत कर लेती है। सआठों, श्रेष्ठियों, शीमन्तों और अभिजातों के ऐश्वर्य-स्वप्नों को ये रूपायित करते हैं। उनकी कल्पना में भी वा आ जैके, ऐसे सौन्दर्य के अब तक अचिन्त्य, अभावित प्रदेशों के हार अपनी सलिल कलाओं में ये अपनी अपूर्व कल्पना-शक्ति से मूल्त कर देते हैं। ये रक्त-मांस और दुर्गान्धित हाथ-चाम, श्लेष्म-मल से भरे मर्त्य नर-नारी के तन-मन और चेतन को अगम्य वैभव-विलास की अभरादती दी उत्तरता कर, उर्ध्व-शोद करते हैं। दिव्य रूपान्तरों के ये स्वप्न-स्वरूप कलाकार सेवक-जर्णी हैं, सम्पदों, समर्थों, राजेश्वरों और राजेश्वरियों के पौर-हार पर अपने अस्तित्व-राधन के थाचक हैं। साधारण प्राणिक वृत्तियों और मनोवासना से मनुष्य को भहाराव के रस-राज्य तक उठा देने की प्रतिभा-शक्ति के भनी ये कलाकार अपने अन्नदाताओं की निगाह में निरे कारीब हैं; रत्न-निवियों के स्वामी अभिजात वर्ग के ये छृष्टपात्र हैं, राज्याध्ययी हैं।

‘‘मैं गायकों, बादकों, नर्तकों की वसतिकार्ण भी देखती हूँ। मनुष्य के मावराज्य में ये सौन्दर्य, रति, काम, प्रीति, प्रकृति, अहतुबोध, वातावरण, ऐन्द्रिक संवेदन और अनुभूतियों की सूधमतम सीला-सरंग उठाते हैं। अपनी नाद-सिद्धि से असु-चक्र तक बदल देते हैं। अपने रागों से विलोक को सम्मोहित कर लेते हैं। अपनी मात्रिक स्वर-सिद्धि से एक ही क्षण में भोग और योग की संयुक्त सुखानुभूति करा देते हैं। दूरियों में रहकार भा असुर्येष्या अन्तःसुरिकाओं के तन-मनों को अपनी सारस्वत मोहिनी से विकल कर देते हैं। राजवालाओं के अंगुलि-पोरों में, अपने एक तंतु-दबाव से संवेदन और सौन्दर्य की नई रक्त लहर दौड़ा देते हैं, नवा रोमाचन सिहरा देते हैं। मानवीय संवेदन के ये तांत्रिक, सिंहासनों और मङ्गासनों के पाटप्रान्तों में कीर्ति, गुण-ग्राहकता और सुवर्ण-मुदाओं की सोकर्ते तोड़ देने के संघर्ष में ही दम तोड़ देते हैं।

‘‘मैं सुवर्ण भूमि और चण्डा के विस्तृत नदी-तटों में वसे मल्लाहों और धीरों के ग्रामों में भी घूमा। ये सुदूर यवन देशों, पूर्वीय महादेशों, नील और पारस्य के पर्ष्णों से, आर्यवर्त के महाराज्यों में, अपनी नाशों और पोतों पर लादकर महामृत्यु बहु-भास्मदाओं, और सुख-सामग्रियों का आयात-निर्यात करते हैं। इनके जल-विजयी अभियानों पर ही विश्व के बाणिज्य और राज्यत्व के उत्तरग्रासाद खड़े हैं। इन्हीं की बदौलत सुलेमान की सुवर्ण-खदानों के मुवर्ण से मगाश-

और अवन्ती की पट्ट-महिलियों की करधोनियाँ गढ़ी जाती हैं। कुर्दान्त महर-मत्स्यों का व्यवधारण कर उनके दूषप्रदों में घोरित अमृत्यु भुज्यतात्त्व और गिरिधी निकाल कर, ये उन्हें पृथ्वीनाथों को अपर्ण करके ही संतुष्ट हो लेने हैं। बदले में कुछ सुवर्ण मुद्राएँ कम नहीं प्राप्ति देती हैं। अधाह भस्त्रों और नदी-तापों में गोते लगा कर, ये मुक्ताफलों से भरी सीपियाँ निकाल लाते हैं। इनके मुज-दण्डों के पट्टों पर ही शृंगकच्छ, माहिषमती, अवन्ती और चमा के व्याणिज्यवाही नदी धाट और समुद्र-पत्तन गवे से इठला रहे हैं।

“ ये श्रीकर, ये मल्लाह समाज के पादवर्गीय शृंद हैं। अन्त्यज हैं। पौरव कुल की आद्या माता के बल स्वर्ण की अप्सरा उवंशी ही नहीं थी। आदी की सरस्वती और संस्कृति के उद्गम-मुख्य भगवान् कृष्ण द्वैषामन व्यास की जननी धीरह-कन्या मत्स्यगन्धा के गर्भ से ही महाभारती की वंशवेली पुनरुज्जीवित और पल्लवित हुई थी। महाभारत की उसी आद्या जनेता के बंशज हैं मे श्रीकर, ये मल्लाह। रक्त-शुद्धि के अभिमानी आर्य अपनी उस माँ को भ्रून कर, उसके रक्त-बीज को पददलित करने में किंचित् भी लज्जित नहीं हैं। आदी की समाज-व्यवस्था में ये आज भी अन्त्यज ही बने हुए हैं।

“ लोकालय से बहुत दूर, मैं चर्मकारों के ग्रामों में भी गया। मृत और आखेटित वन्य पशुओं और जलचरों की लाशों वाले लाकार, निर्बोद भाव से उनके दुर्गन्धित अस्थि-मास और अंतडियों को निकाल कर, ये तरह-तरह के चमों को छोड़ते और कमाते हैं। उनसे ढालें, चड़से, मशक्कें तथा नक्काढ़ों, ढोलों, मृदंगों के पृष्ठ और अनेक प्रकार के थैने, आर्य ऋषियों के लिए व्याघ्र-चम्प और मृक-चम्प के आसन प्रस्तुत करते हैं। मृदु सोमज शाशकों और मृगों की त्वचा के मुत्तर उपानह बनाते हैं। स्वर्णतारों, महार्घ मखफलों और ऊर्नों में स्वर्णतारों और रेशम से बूटेकारी करके राजसी उपानह प्रस्तुत करते हैं। इनके बनाये उपानहों से, यवनों और पारस्यों तक के उद्यानों और महसों की मर्मर भीड़ियों पर उतरते, राज-कन्याओं और राजियों के गौरथृतावी चरण-तल अभिनव शोभा से दीक्षित होते हैं। ऐसे कि मानो भारत का हस्त-शिल्प समुद्रों की लहरों पर भीनाकारी कर रहा हो। पर ऐसी शोभा के शिल्पी ये चर्मकार, अपनी मातृभूमि में गहिर चाण्डाल कहे जाते हैं। इन महार्घ उपानहों के निर्माताओं को, उनके समाज-विधाताओं ने उपानह धारण करने के अधिकार तक से बंधित रखा है। नंजे पैर चलना ही उनके इस काद-शिल्प का वंशानुगत पुरस्कार है।

और मैंने नगर-ग्रामों से और भी परे हट कर उन आखेटकों, बूचड़ों के पुरुष भी देखे, जो अपने जिह्वा-नोसुप शाहान, क्षत्रिय, वैश्य महाजनों की स्वाद-

निष्ठा को तुष्ट करने के लिए घने जंगलों में प्राणों की बाजी लगा कर प्राणियों का आखेट करते हैं। इनके दिव्य यज्ञों के लिए पश्चु बुदाते हैं। इनके लिए नव-नूतन मांस की धाली सजोते हैं। ये चाण्डालों में भी निम्नतर कोटि के चाण्डाल कहे जाते हैं। सबर्णी आयं इनका मृह तक देखने से परहेज करते हैं।

मैंने एक नदी-तट पर उनकी एक उबड़ती बस्ती को देखा। दीन-दरिद्र चाण्डाल राज्याधिकारी के चाबुकों की मार तले, दौड़-धूप कर, अपने नाकुछ सामान उठा-उठा कर अपनी बैलगाहियों में लाद रहे थे। पूछने पर पता चला कि एक चाण्डाल ने अपना बातून नदी में केंक दिया था, वह नदी की धारा में अगे कहीं म्नान करते एक श्रावण की शिखा में उलझ गया। सो सारा भाह्याणस्त्र कुपित होकर इस चाण्डाल बस्ती को भम्म करने पर तुल गया। राज्याधिकारियों ने गिरीं परहु, मूदेवं भो छ न्ह वर, याहोत्ता इन कस्तारों जो नदी से बहुत दूर, अरथ में स्थानान्तर करने को विवश किया।

क्या इन्हीं चाण्ड-कम्हियों, कामकरों, अभिकों, कृषकों, शिलियों की हड्डियों पर आगोंकर्ते की लोक-विश्रुत मम्यता-संस्कृति, धर्म, ज्ञान और वैभव का यह स्वरूपचूड़ प्रायाद नहीं खड़ा हुआ है? अपने शिल्प-विज्ञानों के देवता प्रभुओं, विश्वकर्माओं और अश्वनिकुमारों की पै आर्य क्या मात्र हवाई गुजा ही करते हैं? उन देवताओं के उत्तराधिकारियों को पै छर्मान्ध और स्वार्थान्ध आर्य अपनी चरण-धूलि बना कर रखते हैं। इनका मृह नदी देखते, इनकी काया से बचते हैं। उनके जानपदों और पौराणियों भी इनका प्रबोध निषिद्ध है। भड़ आयों के गुरुकलों और शालामों में, लक्ष्मिला, और वाराणसी के विश्व-विद्यालयों में गिरा पाने का अधिकार इन्हें नहीं। पीड़ी-दरम्याही इनकी मन्त्रानों को अशिक्षित और अज्ञानी रख कर, आत्म-दैन्य, दारिद्र्य और आत्महीनता का भाव इनकी भज्जाओं में बढ़मूल कर दिया गया है। कार्यापिण, दम्म और वस्त्र-छात्य का अभाव इन्हें नहीं। पर इन्हें आत्मभाव और प्रामुखिक गौरव से गदा के लिए बंचित कर दिया गया है।

पूरे आर्योंवर्त में केवल दस प्रतिशत लोग अभिजात, कुलीन आयं हैं, ऐसे अस्मी प्रतिशत प्रजा प्राय है, अभिक है, सेवक है, दास है, पदवलित और त्यक्त है। जहाँ कोटि-कोटि प्रजाओं की समूची जातियाँ और पीहियों, शताविदियों से अभिजात वर्गीय अद्वीं द्वारा। भोगित, निर्देशित और पोषित हैं, वहाँ के धर्म, तप, ज्ञान और दर्शन को जीवित कैसे मानूँ? क्या यह धर्म, ज्ञान और अध्यात्म, शोषक और अवकाशजीवी आयों का निषट बौद्धिक विकास ही नहीं है? उसे और जीवन

में एकता नहीं है। समत्व और सम्प्रदाय भीतर है, तो बाहर के जीवन और समाज में वह प्रकट क्यों नहीं होता? वह धर्म मतान के क्रियाकाण्ड के समान है, जो जीवन में प्रकाशित नहीं, मानव-सम्बन्धों में व्याप्त नहीं होता।

'जीवों जीवस्य जीवनं' की जंगली चेतना से वे महाजन और क्रष्ण-धर्म का तानि कभी उपर उठ सके हैं? क्या पश-जगत् और वर्षों की बलात्कारी शक्तिभूता ही, आज भी उनकी धार्मिक और सामाजिक व्यवस्था के मूल में अद्युत्ता रूप से जीवित नहीं है!

सहजाविद्यों के द्वारान जाने कितने ही मूल और कुलकर आये। कर्मभूमि के आदिक्षेत्रा तीर्थंकर कृष्णदेव ने शोगर्ग की मोहात्म लिमिर-गति को समाप्त कर कर्म, शिल्प, तप और ज्ञान की प्रश्नाओं में स्वत्त्वात्त्व का शलाका-न्याय किया। उनके पदानुग्रहण में युग-यगान्तरों में कितने ही तीर्थंकरों और शलाका-प्रश्नों ने, अभी कल के महाधर्मण पर्यावरण तक, सत्य, अहिमा, लक्षीय, अपरिश्रद्ध के चाल्याधि धर्म पर, बारम्बार मानव-कुलों को प्रतिष्ठित करने का महाप्रयत्न किया।

‘पर देख रहा है, कूले की दुम वहीं की वहीं पर है। बारम्बार ज्ञान जब निरा बुद्धि-मानसि विलास बना और वह ब्रह्मवानों के प्रमत्न शोषण का हथियाह बना, तो लोकशीर्ष पर महासूखों की तरह उदय होकर, कई महाधर्मणों ने अम और आल्मत्याग द्वारा, ज्ञान को प्रतिगत जीवनाच्छण में उतारने का महाप्रयात्र किया। केवल, मोक्ष, धर्म और तीर्थंकरों की जयजयकारों से आकाश धर्तये। पर लंका-जीवन की धारा में धरणों की आचार-संहिताएँ भी, निष्ट रुदिनालन होकर रह गयीं।

महाधर्मण पाष्ठों को हुए अभी कुल दाई भी वर्ष दीते। कहाँ गया उनका धर्म-ज़क्र प्रवर्तन। केवल कुछ चैत्यों में, अग्रहनों की रूप-प्रतिमाओं में जड़ोभूत होकर रह गया। बेशक वीशाली के चूड़ामणि लोकतंत्र में उन्हें धरण-धार्म की जयन्ताकाएँ आज भी उड़ रही हैं। अवन्ती, वैशाली, काशी-कोशल, चम्पा और भगवत् के जनपदों में अभी भी उनके अर्जत-मार्ग को अतेक स्वच्छन्द रूप देकर, कितने ही स्वत्तम-प्रन्य तीर्थंकर विनाश होते हैं। अतेक योद्धा, मामन्त, राजकुम और श्रेष्ठकुल उनके जिन-शासन के अनुयायी हैं। पर उनके बताये अनुदत्तों और महावतों के शोथे आचार-गमन के यिवाय, क्या उनके उज्ज्वल आल्मधर्म का आज के जीवन से कोई सबोच छोप रह गया है?

यदि वह धरण-धर्म उनके मुनि-संघों और शासकों में जीवित होता, तो क्या वर्तमान आर्यकर्ता के पौर्ण-पौर्व महाराज्यों में जिनेन्द्र-कन्याओं के बहुरानिर्व होते, यहाँ की समाज-व्यवस्था ऐसी बलात्कारी रह सकती थी?

क्या अर्थ के बीच निजी और वैयक्तिक वस्तु है? क्या वह निरे वैयक्तिक शोषणागं का साधक है? क्या परिवेश और समाज-समृद्धि से उसका कोई संबंध नहीं? सत्य, अहिंसा, अचौर्य और अपरिहरण का आचार-अर्थ क्या मूलतः ही विश्व-साधेक और समाज-सापेक्ष नहीं है? क्या परिवेशगत चराचर सृष्टि और जनसमृद्धि के साथ का व्यक्ति का संबंध-व्यवहार ही, उक्त धर्माचरणों की कसौटी नहीं है? क्या आत्म-शुद्धि, आत्मज्ञान और मोक्ष निरी व्यक्ति में दब्द वस्तुएँ हैं? ऐसा होता तो मन्त्र लोकाभ्युदय के लिए क्यों बार-बार तीर्थंकर जन्म लेते?

“महीं, आत्मघर्म को मैं लोक-भूमि से यों विच्छिन्न करके नहीं देख सकता। वह लम्बकृदर्शन नहीं, स्वार्थी मिथ्यादर्शन है। व्यक्ति में अहंत् तत्त्व प्रकाशित होगा, तो समाज में उसकी धात्सन्धि-भावी पुष्टि-प्रभा संचरित होगी ही। मुमुक्षु का मोक्षमार्ग, निश्चिल चराचर के मंगल-कल्याण के भीतर से ही गया है।

वैयक्तिक मुक्ति संभव है, तो लोक-मुक्ति भी अनिवार्यतः संभव है। जाने क्यों भैरा जी नहीं मानता, कि संसार को कुत्ते की दुम मान कर, अपने मुक्ति-मार्ग पर अकेला पलायन कर जाऊँ। समझ लोक-जीवन और निश्चिल चराचर को निर्देश, मुक्ति, सम्बादी, सुन्दर देखने की एक अनिवार्य आत्म-वेदना और अभी-सा ऐरे भीतर दिन-रात जल रही है। मैं नहीं मानता कि जो अब तक न हो सका, वह आगे भी न हो सकेगा। मैं अनादि-अनन्तकालीन जिनेश्वरों और कैवल्य-पुरुषों का बंशधर हूँ। जिन सौ आत्मजयी और सर्वजयी होते हैं। वे अनन्त ज्ञान, दर्शन, बीजे और मुख के अव्यावाष स्वाभी होते हैं। ऐसा क्या है, जो उनके द्वारा साध्य और उपलब्ध न हो? जिनेश्वर ऐसी पराजय भैसे स्वीकारे?

अहंत् के बली जिनों ने सदगूत पदार्थ को सीमित, कूटस्थ नहीं देखा, नहीं जाना। अपनी कैवल्य व्योति में उन्होंने सत्ता को, पठार्थ को, अनन्त गुण-पर्याय जाला साकार् किया है। यदि पदार्थ अनन्त गुण-पर्याय समावी है, तो विश्व तत्त्व अनन्त समावी है ही। तब, जो अब तक न हुआ, वह आगे भी न होगा, यह कथन मूँ जिन-ज्ञासन के विरुद्ध लगता है।”

सत्ता परम स्वतंत्र है। द्वय परम स्वतंत्र है। सौ भेरी आत्मा भी परम स्वतंत्र है। तब भेरा आत्मज्ञान किसी परम्परागत शास्त्र या शास्त्र-कथन के प्रति अतिवद्ध नहीं हो सकता। मैं अपनी सर्वथा मुक्त अन्तर्बदना, जिनासा, मुमुक्षा और अभीज्ञा की ज्वाला के भीतर से गुजर कर ही, अपने आत्म-स्वरूप का स्वरूप साकात्कार करूँगा। और उसी के प्रकाश में विश्व-तत्त्व को जान कर, निश्चिल विश्व के साथ एक अटूट सम्बादिता का संबंध हस्तापित करूँगा। उसके बिना सत्य, अद्विता, अचौर्य, अपरिहरण की कोई सार्थकता मुझे नहीं दीखती।

अपने आत्मिक मुक्तिमार्ग में मैं लोक से पलायन नहीं करूँगा। आत्म-मुक्ति और लोक-मुक्ति के बीच मेरे धर्म-शासन में अविनाशावी संबंध रहेगा। इसके लिए आवश्यक हुआ तो मैं ऐसी निदानण और दुर्दान्त तपश्चर्या करूँगा, जैसी इससे पूर्व शायद किसी पुरुष-पुण्य ने न की होगी। क्योंकि मेरा मोक्षकाम, लोक के एक-एक जीवाणु और परमाणु के परिणमन के साथ जुड़ा हुआ है। मैं ऐसी आत्म-हतिनी तपस्या करूँगा, कि निखिल चराचर महासत्ता के साथ तदाकार और एकाकार हो जाएँ। यद्यन्ते इन्होंने निराकार से प्रकट होती, वह केवल आत्मप्रकाशिनी नहीं, सर्वेप्रकाशिनी होगी; वह केवल आत्म-सम्बादिनी, सर्व-सम्बादिनी होगी।

यदि सत् निरन्तर परिणमनशील है, तो प्रगति और विकास है ही। अनन्त प्रगति और विकास साध्य है ही, आपने मैं भी, और सर्व में भी। वर्तमान समाज-व्यवस्था इध्य के इस स्वभावगत प्रगतिशील परिणमन पर आधारित नहीं। पाप और पुण्य की अन्ध भाग्यवादी व्याख्या स्थिति-पोषक ब्राह्मणों की देन है। आत्मा यदि कर्म बांधने को स्वतंत्र है, तो कर्म की निर्जारा करने को और भी अधिक स्वतंत्र है।

मैं अपनी पश्चात्यर केवल्य-ज्योति रो ज्ञान, दर्शन, सर्जन, मत्ता और जीवन का एक नया छूट रखा पित करूँगा। मेरे बाद फिर-फिर यह ज्योति अन्तरालों में लूप्त-गुप्त हो सकती है। पर उत्तरोत्तर ऊर्ध्व से ऊर्ध्वंतर ज्ञान-चेतन्य की शिथा-शक्ति को प्रवाचित करने वाले ज्ञान-योगीश्वर और कर्म-योगीश्वर जगत् में प्रकट होते जायेंगे। सत्ता अंतिम नहीं, ज्ञान अंतिम नहीं, तो मैं भी अंतिम अहंत ही नहीं। अहंत् कभी अंतिम नहीं हो सकते।

‘‘इस लोक-यात्रा और आत्म-मंथन में जाने कब पूरा पक महीना बीत गया, पता ही न चला। कातिक पूर्णिमा की पूर्ण चन्द्रोदयी सन्दर्भ में जब लौट कर आया तो मेरा अश्व अनायास ही मुझे इक्वावुओं की कुलबेवी अम्बा के मदिर की ओर ले गया। जयकारों से व्याकुल जन-गण की भीड़ में प्रवेश कर, मैंने भवगती का शत-शत दीप-शिखाओं से आलोकित परम कारुणिक, अति ललित भूखमण्डल देखा।

‘‘मझे तो वे अपने से बाहर कोई मिथ्या-पुजित देवता नहीं लगता। मैंने समस्त चैतन्य एक अभिन्न आत्मभाव से उनकी ओर उमड़ पड़ा। वे परम ललित-श्वरी माँ, और कोई नहीं, मेरी ही आत्म-मुक्ति का एक त्रिमूर्ति-मोहन स्पष्ट हैं। मेरी भवगती आत्मा ही उन परमा सुन्दरी माँ के स्पष्ट में वही विराज-मान दीखती।

‘‘महसा ही मेरे भोलग एक अगम्य रहस्य का अवगुणन-सा उठ गया। जबलन अनुभवि हुई कि मेरी आत्मा का नोकात्मा के साथ, एक नियंत्र सक्रिय योग-मिलन प्रटिष्ठ हुआ है।’’ बाहर निकल कर देखा, माँ के प्रायण में जन-गण के महसों नर-नारियों का समदाय कई विशाल वर्तुलों में, सण्डलाकार नृत्य-गान कर रहा है। जमद्वात्री की पूजा का यह पवित्र नृत्योत्सव था। दिगन्तों तक व्याप्त पूर्ण चम्भमंडल नौ चाँदनी में, नृत्यगान लीन लोक-सुन्दरियों के इस आनन्दोत्सव को देखा, तो आर्यावते के अधिजात राजवंशियों का वह उरु रख देखा शरदोत्सव मुझे कितना छूँछा और निष्प्राण लगा।

◆ ◆ ◆

अगले दिन कुण्डगुर सौटले हुए जान्न-वृन्दकार मैंने माँ के रथ में ही यात्रा करने का निष्पत्त घर लिया था। प्रात्माष्ट उन्होंने विषेष कोई नहीं की। उतना ही अनुनय भरे कण्ठ में बोली—‘मान, दूर-दूर से मारे ही परिजन-आत्मीय आये थे। तेरी मारी ही मैसिया और बहुनें आई थीं। गवुक्ष से मिलने को थोड़कृति थीं, कि मानो देव-दर्शन को आई हो तेरे देरे पर। किन्तु तुझे वहाँ कभी उपस्थित न पाकर इह दूर खिल और इनश लौट दहो।’’ जो गुरु छाड़ा जाए, वही कर। मैं तो कुछ कहूँगी नहीं। माँ के स्वर में कर्णा-कातर विवशता थी।

‘‘मैं मौन, निष्वल आत्म-मावित हो उनके समय मार्दव को आत्मसंरक्ष करता रहा।

इस परम्परा प्रतिब्रिंहित-से, निर्वाक ही याजनों में यात्रा करते चले थे। सौजन्यमती घेना में गंडकी नदि के एक प्रकात आज्ञावन की पीठिका में, पुरे आच-कानन को आयत्त करता हुआ, प्रतिपदा का विशाल मुवरणीम चम्भ-मण्डल उदय हो रहा था। पुरे वन को बलयित करता ऐसा विगाद् चन्द्रोदय इससे पुर्व मैंने कभी नहीं देखा था। उराक उस पीत-कोमल आमा-वन्य में मैंने अपने को माँ के साथ युगलित पाया।

‘‘एकांक माँ ने मेरे दग्धे पर झाथ रख दिया। उनके कंकण में नारी माँ की अंतिम ममता रणकार उठी।’’ और फिर दो अंैर्खों की गहरी कम्जल कोरे, इस पीनी चाँदनी के अद्योक्त में, आर-री-सी उजल उठीं।

‘‘मेरा माथा माँ के बक्ष पर निषेद्धि हो गया।



युगावतार का सिंहावलोकन

आज की भूवर्ण उषा में अचानक अपना कोई लोकोत्तर ऐसे सामने लड़ा देखा । ॥ जैसे हिमवान की किसी अल्परित चुड़ा से दूतर कर, गंगा की ऊर्जस्वला लहरों पर नल रहा है । और जाने कब रहस्य ही अपने को विषुलाचल के सूर्य-धण्डित शिखर पर खड़े पाया । कमर पर दीर्घी धाय धरे, लोकाकार दप्तरायभैरव हैं; और ये आदि के नामने आर्थिते की समृद्ध-कुसला पृथ्वी, निशावरण कुमारिका-र्मि गिरेदित हैं । सहस्राक्षिरों के आशपाश मनु-नृत्रों के नख-क्षतों से विदीर्ण उमका वधुस्थल, एवं मानवित्र की लरह में समझ बुल रहा है ।

पौरुष, मृजन और जान की असंख्य शलाकाओं ने युगान्तरों में, उस पर मन-माने नक्शे लेते हैं । आज फिर एक नक्शा सामने है । पर उसके नीचे, उमका मतीति, मृजे आज भी अजित, और अनधित दीख रहा है । कि जाहे तो मैं हम आद्या प्रकृति का अब तक अनावरित कोइ नया ही अचिल खसकाऊं । इसके भीतर अपने परम काम की गलाका रे अपनी पूर्णकाम्या को रखी, आकृत करें । ॥

भवि आ रहा है, मण्नातीत काम ये, मनुष के किसी आदि प्रात में आदि-बहुप्रकृति भद्रेक ने, निरे कामनाजीवी, भरण-धर्मा मानव-युगलों बो, मोग-युग की अन्धे कागा गे मुक्त करके, आत्मज्ञानी और ब्रह्म-स्वरूप पौरुष की दीक्षा प्रदान की थी । प्रकृति के गोहपाश में स्वयम् मुक्त होकर, उनके विजेता पुरुष का मोक्ष-मार्ग उन्होंने प्रस्तुत किया था । उन्द्रियज्ञ और मनोज्ञ करके, प्रकृति का पूर्णकाम भीक्षा होने की अनिकाम कला उन्होंने मनुष्य को दिखाई थी । धर्म, कर्म, काम और मोक्ष की उन्होंने मानवादी किया था । कामचक्र के अनेक विष्टवों और मन्दन्तरों में उनका वह कर्मयोगी विश्वान, बारबार प्रलय की लहरों में लील हो कर भी, नव-नृतन स्वरूपों में फिर-फिर प्रकट होता रहा । हर बार बोई नग तीर्थेकर आये और काम और कामातीत मुक्ति के समन्वय-स्वर साधे । उत्पाद और व्यय, उत्थान और पतन के इस अनिवार्य द्रव्य-परिणमन में, ध्रुव सत्ता का सुर्य बार-बार ओमल होकर भी, फिर-फिर मनुष्य के ऊर्जे जेतना-शीर्ष पर ददृश होता

रहा। ज्ञान और भाव की अनेक रूपिणी ज्ञानी आलोकित पुरुष ने बारम्बार उच्चारित की।

अब से इर्द्दी हजार कर्ष पूर्व दृसी शाकोवर्द के विश्वास। इर्द्दी शाकोवर्द ने अधिकारियों ने प्रकृति और पदार्थ के अनन्त-विवरण स्वरूप का साक्षात्कार किया। आनन्द के महाभाव में लत्सय होकर उन्होंने, एक बारगी ही रूपी और रूपातीत मौनिदर्य की संयुक्ति का यात्र अपनी ऋच्यवांओं में किया। प्रकृति और सृष्टि की समस्त कामनाकुल लीला में उन्होंने अपने सामग्रामीं द्वारा, महाभाव वा अमृत मिचित्र विद्या। पर मन और इन्द्रियों के अलिन्दों में उत्तर कर वह घारा अखण्ड न रह गई। शुद्ध कामना से स्वंदित होकर, वह सर्व भाटी वा विषय बन गई। तब कृष्ण-यजुर्वेद के मंत्र दृच्छरित हुए। 'अग्निमीले पुरोहितं' के गायक, स्वयम् अग्निन न रह गके, परव उसके विषय-नोक्तुप याजक हो रहे। आनन्द के आत्म-होता यज्ञ, अमल-ऋबा नहीं रहे। उनमें से अघम इन्द्रिय-लिप्ता और देहिक बभुवा का पश्च हृकारने जगा। मानव के भीतर का लोनुप पश्च ही सर्वोपरि हो उठा : यज्ञों के पश्चात्तिनाथ प्रजापति, स्वयम् पश्चभक्ती होने दिखाई पड़े। मरस्वती के अचल मरण का द्रुध, अपनी ही सत्ततियों के आत्मभक्ती रूपीर से आकर्ष कर उठा। यज्ञपूरुष भूत ही गये। अग्निहोत्र भ्राट ही गये। परब्रह्म के महाभाव गायक, यजुर्वेद के ऋषि-पुरुष, ऋष्यहुता होकर सर्वभक्ती और सर्वशोषक भोग की संस्कृति का जयगान बन्ने गये।

पश्च भीतर का स्वभाव से ही ऊर्ध्वेतता पुरुष अन्तम रूप से सो कैसे मर सकता था। वह फिर जागा : वह फिर आनं-भावित हुआ। और गंगा-यमुना के मर्केत-पञ्चलाय मैसियारण्य में आर्य ऋषि फिर से आत्म-साक्षात्कार की गहन समाधियों में ज्योतिर्मनि हुए। परान्यर परब्रह्म की द्रष्टा पराविद्या का फिर से आविष्कार हुआ। उपनिषद् के आत्म-ज्ञानी अन्तदृष्टाओं ने, यज्ञ का पाणव लिप्ता से मुक्त कर, आत्मकाम की सिद्धि का प्रतीक बनाया। पर दुर्दृन्त पशु सहज ही दमित न हो सका। भूषा और काम की कराल डाढ़ों में फिर भी, हिसा की तोड़वी जिह्वा लपलपाती रही। देवाहुति, विष्वामित्र, यज्ञवल्क्य के ज्ञान-सूर्य को बराबर ही पाणव यज्ञों का कालध्रुव प्रचलन करता रहा।

तब शत-सहस्र जिह्वाओं में लपलपाती यज्ञ की उन सर्वार्दी ज्वाला के शिखर पर उतरे भजायमण पाञ्चवनाथ। कसठ की अहंग्रस्त तपार्मि वो काल में से जीवित नाग-पृग्न प्रकट करके उन्होंने समस्त जागूद्धीप को अपने कैवल्य-सूर्य से भासवर कर दिया। यत्य, अहिमा, अचौर्य और अपरिव्रह का प्रकृत चतुर्यास धर्म उन्होंने उद्घाटित किया। तमाम सृष्टि के जड़-जंगम प्राणियों ने सीर्थकर के सर्व-वल्लभ श्रीचरणों में अभग्न शरण प्राप्त की। उपनिषद् के ऋषियों ने अपने आत्म-साधित

ब्रह्मान को उनमें भूतिमान देखा। क्योंकि महाश्वरण पाश्व ने सम्पूर्ण दर्शन और सम्पूर्ण ज्ञान को प्रतिपत्ति के जीवनाचरण में जीवन्त किया था। सो ब्रह्मियों ने उन्हीं के स्वर में स्वर मिला कर 'मा हिस्या' का मन्त्रोच्चार किया। 'आत्मनः प्रतिकूलानि परपान समाचरेत्' का भंश-दर्शन प्रजा को देकर, उन्होंने प्राणि भाव के लिए मुक्ति का भाग प्रशस्त किया।

परदाईसी वर्ष बीते न बीते कि तीर्थकर पाश्व की वह कैवल्य-प्रभा फिर अन्तर्धान हो गई। आज फिर मनुज पर दनुज की विजय-भैरों बज रही है। पश्चिमांचल के आर्य ब्राह्मण फिर उद्धण्ड हो उठे हैं। पाश्व की कैवल्य-ज्योति ने अस्तप्राय आलोक की शेष प्रभा के बल इस विपुलांचल के शिखरों पर स्तंभित होकर रह गई है। और लोकांचल में उनका चातुर्यमिथम-मार्ग कुछ राजकुलों और श्रेष्ठ श्रावकों का मूल और पालतु श्रावकरचार होकर रह गया है। उसमें प्राणि मात्र के प्रति आत्मभाव का जीवन्त संवेदन संवरित नहीं। उनके चैत्यों की रत्न-प्रतिमाओं में तीर्थकर उनके वैधव के बन्दी हो कर, मात्र उनकी जड़ चैत्यन्मूजा के उपकरण हो गये हैं।

अहिंसा और अपरिच्छह के तथाकथित धर्म-नालक मगध, अवनी और चम्पा के धनकुंडेर श्रेष्ठियों के क्षहरुओं से लोक का तमाम सुवर्ण-रत्न संग्रहीत है। कोटि-कोटि श्रमिक प्रजा इन राजपुरुषों और श्रेष्ठियों द्वारा अपहृत लोक-संपदा की कीत दास होकर, भजवूरी का जीवन बिता रही है। यह पाश्व का धर्म-साक्षात्कार्य नहीं, कुलीन ब्राह्मण-काशिय और वणिकों का काम-साक्षात्कार्य भाज के समस्त आर्यवित में व्याप्त है।

“एक विचित्र कौतूहल से देख रहा हूँ, कि मेरे ही मालुकुल का रक्त, इस काम-साक्षात्कार्य के सिंहासनों पर आसीन है। मेरी ही मौमियाँ, भारत के तमाम महाराज्यों के अन्तःगुरुओं में महाराजियाँ बनी बैठी हैं। विश्व-विश्रुति वैशाली गणतंत्र के गणपति मेरे मातामह चेटकराज की पाँच गुवियाँ, लोक-लक्ष्मी के पावन सिंहासन को अधिष्ठित किये हैं। आचुड़ आर्यवित में अपना एकछत्र साक्षात्कार्य स्थापित करने के महत्वकांकी महाराज श्रेणिक विशिष्टसार के हृदय-कमल पर बैठी है, मेरी परम रुद्रसी मौमी चैनना। अवन्तिनाय का वध करके, उनके दिनांकन को हाथिदा लेने वाले, उज्जनीपति चण्डप्रबोत की पट्टमहियों बनी हैं, मेरी मौसी शिवादेवी। शमवालीन विश्व की अप्रतिम चिलाम-नगरी फैशन्डी के अधीन्द्रियर महाराज शतानीक के झंक में आसीन हैं, मेरी मौसी मृगावती। उन्हीं की कोंब से जन्मा, प्रणय और परम्परा के सहस्र-रजनी-चरित्रों का भावक, वन्साक्ष उदयन मेरा मौसीरा भाई है। भारत के पश्चिमी तोन्नग पर, सिन्धु गीवीर के महाराज उदायन के बास कक्ष में सुशोभित हैं, गोरी मौसी प्रभावती। भारत के गुर्वीय समुद्र-द्वीपण चम्पा में, अंगराज दर्धवाहन की महारानी होकर, विराजित हैं मौसी

पद्मावती। देशांग शेष के अधिपति राजा दशरथ की प्राणेश्वरी हैं, मेरी मौसी सुप्रभा।

मैं नहीं जानता कि इसमें गणनन्त्राधिगति चेटकराज की कोई योजना-बढ़ राजनीति है, या यह मात्र संयोग है। अचेरज नहीं, कि इस तरह वैशाली गणतंत्र की स्थातन्त्र्याभिभासिनी बेटियों को अपनी अंकशायिनी बना कर, वे राजेश्वर अपने विजय-गर्व को तुष्ट करना चाहते हैं। असलिंगल जी भी हो, किन्तु यह एक प्रहट तथ्य है कि वैश्वलिकरण, इन राजनुसारों के भावों गिरामनघरों की भाताएँ बगी बैठी हैं। यह धटना इतनी उजागर है कि इसे मात्र संयोग बढ़ कर नहीं दाला जा सकता। सत्तानुरक्षा की राजनीति ही मुझे तो इसमें जानेआनन्दाने सक्रिय दीक्षिती है।

बड़ा रोचक है राजचक्र का यह चित्रपट। मेरी आँखों के सामने चक्रवर्ग शातरंज की एक अच्छी खासी बाजी जमी हुई है। हार-जात, भूरणा और अधिकार की यह चक्राकार फीड़ा गच्छभूमि देखने लाभक है।

शिशुनामचर्णी महाराज विभिन्नसार, मामध बृहदृथ और जगसध के बाद, अगर्यवती में एकराट् राजप्राज्य की स्थापना करने का मामना देख रहे हैं। उनकी महत्वाकांक्षा वा अन्त नहीं। योद्धा होने के साथ ही, वे ग्रेसों भी हैं। दुर्वान्त धीरूष की प्रतिमा होते हुए भी, अन्तःकरण से वे बहुत कोमल और स्पृण हैं। भावना, संवेदना, सौन्दर्य-पूजा, स्वप्नगीनता, विनामिता और बोलता का उनमें एक अनोदा समग्र है। दर्य और समर्पणीय ऐसी सुति मुश्किल है। एक भूगी की अंगूष्ठ का भोला सौन्दर्य देख कर वे पर्सीज सकते हैं; पर अगले ही क्षण उसका आग्नेय भी कर सकते हैं। मुग्ध होकर जिसे वे अपना कण्ठ-हार बना ले, उसे अगले ही क्षण शूली पर भी चढ़ा सकते हैं।

थेणिक के पिता मंगसेन्दर उपर्योगिक ने उत्तर यौवन में इम शतं पर एक भील-कन्या को द्याहा था कि उसी का पुत्र राजगद्वी का अंधिकारी होगा। भौ अवमानित होकर व्येणिक, निर्वासन में निरुत्त नहे। रथयाचर्त में भटकते हुए उन्होंने अपनी पुष्पप्रभा से राजपुराहित सौमशर्मी की सुन्दरी कल्पना नलद्वी का हृदय जीत कर उन्म व्याह लिया। उसी की कोख से जन्मा है अभय राजकुमार, जो आज विभिन्नसार का निजी मंत्री है और मामध-नामाज्य वा नोपन मर्तीश्वर है। वैशाली के किसी चित्राकार हाता अक्षित चेलना के चित्रपट को देखकर, मगधेश्वर वो रहते देखते हो चुके। तब कूट-कौशल में दध अभय राजकुमार नृपत राहों से चेलना तक जा पहुँचे। थेणिक का चित्र चेटक-नर्मिनों को दिखाकर उसे मोहाविष्ट कर दिया और उसका हरण कर लाये। चेलना को पट्ट महाद्वी बना कर विभिन्नसार

में एक भाष्य, लिच्छवि कुल का मानभंजन और सम्मान किया। महाराजनी-मौसी चेतना के पश्च-नख पर वैशाली और भगवद् की सन्धि ठहरी हुई है। पर गणध्रेष्वर में सौन्दर्य-लिप्ता और साम्राज्य-लिप्ता की जो बराबरी वो टक्कर है, उससे मेरी भीली मौसी अनभिज्ञ हैं।

मामने फिले नक्षे की तरह जो मह घटना-चक्र देख रहा हूँ, मह मेरी किसी तीसरी ही ओख का ब्रेल है। बचपन जो ही पाया है, कि जब भी देश-काल में कुछ आनने की जिगामा बहुत तीक्ष्ण हुई, तो मैं अवधि बीच कर, महज ही उसका जान कर लेता हूँ। आज वह अवधि-जान का अन्तचक्रु आपलक खुला रह गया है, और मैं बहुमार्गियों से इस ध्यान तक के देश, काल, घटना और व्यक्तियों के अन्तर्गतलों में आंक रहा हूँ।

और उससे सम्पूर्ण रहा हूँ, कि नाथराज धर्मिक इन सबके द्वारा बासमुद्र आपविनं पर अपनी साम्राज्य-न्यतावा कहरायेगा। पर आज का निष्पाप्तस्त और मोहरस्त यह राजा, कहीं भीतर मूदु, अकपट, उदार और अमार्गील है। इसके मादेव और आजेव से मैं आकृष्ट हूँ। अपनी मोह-गानि के छांत धार, उभे आत्म-आत बरता देख रहा हूँ। ' ' ' लोकन भूम्य में भी प्रतिक्रमणगील रहेगी उसकी चेतना। ' ' ' मागद्य, वर्दमान को तुम्हारी जरूरत है।

' ' ' देख रहा हूँ, भल्लों की कुशीनारा के उस पार काणी और कोसल का महाराज्य। तक्षशिला का स्नातक प्रसेनजित काण्डे के रिहासन पर बैठा है। उसकी भजधानी श्रावस्ती में सारे जभ्यूदीप के राज-पथों, लदी-न्यथों और गम्बुद-पथों को जोड़ने वाला, धारान्संगम है। इसी से भरतखण्ड और उससे परे के समुद्र-मार्गों से जुड़े ज्ञात-अज्ञात अनेक दण्डों और द्वीपों के सार्थ श्रावस्ती के पथों में उत्तरते हैं। इस तरह वर्तमान के तमाम गम्य विश्व की वस्तु-संपदा से श्रावस्ती के पाय, थोट-भहल और राजमहल भरे पड़े हैं। इसी के राज्य में रहता है वह महागृहपति थेंटि अनाथ-पिण्डक, जो अपनी सुवर्णराशि से कई राज्यों को खुशीद राकरता है। ऐसे विपुल वैभव-संपद राज्य का स्वामी यह प्रसेनजित, निकम्मा, कामुक और कापुरुष है। पर फिर भी वर्तमान के हींथंक और श्रस्ण उसे पुण्य-पुरुष कहते हैं।

मल्ल-गण के असाधारण योद्धा युदा वर्ष्यु मल्ल के धन और णस्त्र-कौशल का मल्लोंने उचित गम्मान न किया, तो वह स्वयम् ही आने गण-गत्या में निवर्तित हो गया। यह कथ्य मल्ल तक्षशिला में प्रसेनजित का भिन्न और सहपाठी था। रवदेश-न्याय के धार जब वह ध्वन-उधर भटक रहा था, तभी प्रसेनजित ने उसे सम्मानपूर्वक अपने राज्य में आमंत्रित किया। फिर प्रसेनजित के अनुरोध पर उसने

कोसल का सेनापतित्व स्वीकार लिया। उसी प्रदर्शन योद्धा बन्दू मल्ल के बल पर यह कामान्ध और अवार्षण्य प्रसेनजित भी गम्भीरत्व का सपना देख रहा है।

शावस्त्री की एक मालाकार-कल्या मत्तिका प्रसेनजित के मन हर कर, कोसल को पट्ट-चार्डियी लड़ी देनी चाही थी। लग गूह दुल की यह संवाद-वर्णिय कल्या उच्चात्मा है। काम के टस बेलि-सरोवर में भी वह परिव्रत कमला-सी अलिष्ट विराजित है। मनव्य के धारा आचरण से ही पुरे मनव्य का निर्णय संभव नहीं। विचिय विरोधी वृत्तियों का ममुच्चय होता है मनव्य। पाग के एक में भी जागृत उज्ज्वल आत्मा की चिन्तापणियाँ कही-कही लिपटी पड़ी हैं, सो वित्तन द्वारा देखा जाने हैं। मम्बक् चारित्य आत्म-शुद्धि का परिणाम ही हो सकता है। बाह्याचार में वाधित नहीं। राम्बक्-चारित्य आत्म-शुद्धि का परिणाम ही हो सकता है। बाह्यी प्रवृत्तियों में न इलकने पर भी, वह ठीक सभय आने पर आत्मा को अन्तर्गुह्त मात्र में परित का अनुभव करा देता है। यह मालाकार-कल्या मत्तिका ऐसी ही है। भव्यतमा है यह।

कांगलपति प्रसेनजित भी अपने आश्रिपत्य के शत्रुमय गणतंत्र की बेटी ब्याह कर, अपने राज्याभिमान को तुष्ट किया चाहते थे। भातहत शाक्य मने तो नहीं कर सके, पर उन्होंने ननुगाई बरती। उन्होंने महानाम शाक्य की दासी-पुत्री वायंभ-क्षत्रिया प्रसेनजित को ब्याह दी। शाक्य-पुत्री में उन्होंनि बड़े गौरव के साथ, राजपूत विद्वान् को उत्तम किया। विद्वान् एव बार मेहमान होकर, अपनी ननिहान्त कपिलवस्तु गया। शाक्यी ने उपर में भानजों का मम्मान किया, पर उसके जले ही, दासी-पुत्रीय भानिनेय के म्पण में अपवित्र हो गये अपने सथागार को धूलबाया। विद्वान् को एक अंगरेजक अपना बरसा संथागार में भूल आया था। वह जेने को वह बहाँ गया, तो पागः कि कुछ दारियाँ विद्वान् को गालियाँ देती हुई मथागार को धो रही थीं। विद्वान् एव रहस्य खुल गया कि वह शाक्यों की दासी-पुत्री का बेटा है। दोतूरफ़ा अपमान की आग में जलते हुए एक और तो वह अपने काम-निष्ठ जनकों का प्राणदोही ही उठा, ता दूसरी ओर उसने कपिलवस्तु की निष्ठाक्य बारने की भव्यानाफ़ी प्रतिश्लोकी ही है। अपने अंज से दासियों की कसल उगा कर, ये मम्मत्री और राजा भमान रुग्न से उन्हें अपने अहंकारों और सत्तामद का पांसा बनाये द्या है। ये अपनी माँओं और प्रियाओं बो गोट बना कर, अपनी रजनीति की घलनजें खेल रहे हैं।

“भूवनमोहन वन्मरुज उदयन पर अनुरक्त थी, गान्धारराज-नन्दिनी वर्णिगसोना। पर व्याप्त्याना के लाभार पतिर्षे प्रसेनजित को मह अमर्त्य हो गया। उग गान्धारी के नाबाय में हिन्दूकुण के अधियारे दर्द और परिचक्षी समुद्ध

भी उत्ताल तरंगें छलमला रही थीं। जम्बूदीप के केन्द्रीय राजनगर शावस्ती के अधिपति की हर इच्छा पूरी होकर ही रहती है। अपनी विश्व-व्यापारी केन्द्रीय शक्ति और अपने संबंधों के राजनीतिक आतंकों के बल पर, उसने गान्धारराज को विवश कर दिया। और गान्धार की स्वातंत्र्य बलि के रूप में कलिंगसेना स्वयम्भरिता होकर उन्हें समर्पित हो गयी। गान्धारी का उदात्त प्रेमी अजेय बाहुबलि उदयन, प्रिया के इंगित पर बुप रह गया। कलिंग ने अपने पैदिक गणतंत्र की बलिवेदी पर अपने हृदय को चढ़ा दिया। अपनी आत्मा उदयन को सौंप कर, गान्धार की उस परम रूपसी राजदाता ने अपनी देह को प्रसेनजित की चरणदासी बना दिया है। इस मोहान्ध नृपति के लिए मेरे मन में अपार करणा है। बहुत करुण होणा इस अन्धकार-रात्रि का अन्त ! और गान्धारी के समकक्ष ही मुझे याद आ रही हैं देवी आम्रपाली। अपने-अपने भणतंत्रों की रक्षावेदी पर उत्तरांगित दो बलि-कन्याएँ।

‘‘मुझे बहुत प्रिय लगता है, ‘मौसी मृगावती का भुवनमोहन पुत्र उदयन। अवन्तीनाथ चन्द्रप्रद्योत के प्रचण्ड छताप की चुनौती पर, वह उज्जनयी पर भ्रष्टमान होने को विवश हुआ। अपनी कुंजर-विमोहिनी विद्या और अमोघ कामचित्वन के बल पर वह अवन्ति की उर्वशी राजकन्या वासवदत्ता का हरण कर लाया। और उसे कौशाम्बी की सिहामनेश्वरी बना दिया। वासवदत्ता की हृषक्षी का गुणगान अन्तरिक्षों के गन्धर्व तक करते हैं। और उदयन की संगीत-भूर्णीबों पर विश्वरियाँ मण्डलाती रहती हैं। अपनी कुंजर-विमोहिनी वीणा के बादन से वह दुर्दान्त हस्तिवनों को वीलित कर देता है। सुनता हूँ, गन्धर्वराज चित्ररथ स्वयम् उसका वीणा बादन सुनने आते हैं, निस्तब्ध रात्रि के मध्य प्रहरी में। और वासवदत्ता की धोषा-वीणा के साथ जब उदयन अपनी कुंजर-विमोहिनी वीणा की युगलबन्धी करता है, तो सृष्टि का कण-कण एक भद्रामिलन के आनन्द में समाप्ति हो जाता है। सौन्दर्य, कला, विद्या, स्वप्न, शान और भावना का ऐसा समन्वय-युक्त समकालीन विश्व में शायद दूसरा नहीं है। कलाकार है उदयन। वह कविता और स्वप्न की जीता है। इसी से उसके प्रणय और विलास में भी चिद्रविलास की तन्मय गहराई और आभा है। भोग में आचूड़ दूधा होकर भी, वह सहज ही एक शशयोगी है, भावयोगी है, सौन्दर्य-योगी है। जानता हूँ, उदयन, तुम आओगे एक दिन मेरे पास ! तुम्हारी अविकल्प तन्मयता ने तुम्हें भोग में ही योग का अनुभव करा दिया है। फरापूर्व के राजयोगीश्वर भरत का स्मरण हो आया है। तुम्हारी स्वप्न-नगरी कौशाम्बी में आऊंगा एक दिन। तुम्हारे विलास-कक्ष की शिल्पित आल-भविकारे, उस शण चलायमान हो उठेंगी।

और भीसी पश्चाती, सुनो, अबे ही पूर्वीय समृद्ध की नहरें आज तुम्हारे कमल-रातुल चरणों में अठ-ईलियर्य कर रही हों। पर अंगराज दधिकाहन की चम्पा के सिन्धु-तोरण पर एक ज्ञाय समस्त आर्यवितं के राजमण्डल की भृद्ध-इष्टि लगी हुई है। सुनता हूँ, तुम्हारी बेटी और मेरी बहन शीलचंदना कर्षुर-वतिका की तरह उज्ज्वल, सुर्यसित और पवित्र हैं। पर मगध की नंगी तलवार उसके कुँवारे सीमन्त पर तुल रही है। काश, चम्पा के अतुल घनशासी निगंठोपासक आवक थेष्ठि, सारे मंसार के रत्न-सुवर्ण से अपने कोषागार न भरते, तो चम्पा में अरिहन्तों का जिन-शासन निरकान जीवन्त रह सकता ! उन्होंने धर्म की चिर प्रवाही धारा को छोड़ स्वर्ण-शिलाओं से पाट कर, सारी पृथ्वी पर अपनी सार्यदाह-याना का सुदृढ़ पुल चुन दिया है ।

भीसी प्रभावती के राजनगर वीतिभय के पत्तनथाट पर सोलोमन की खदानों का सुवर्ण उत्तरता है। और माहिष्मती और उज्जयनी के नदी-मार्गों से, वह कीशास्वी के धनुना तट को धन्य करता हुआ, चम्पा को खदानीरा वे पातियों पर झलमलाता हुआ ध्वावस्ती, काशी-कोशल, बैशाली तथा भल्लों और शाक्यों के सारे गणतंत्री गृहपतियों और राज-पुरुषों को धुरियों को हिलाता रहता है। और देख रहा हूँ, कि अन्ततः मगध के प्रचण्ड प्रतापी राजदण्ड के नीचे वह समर्पित हो जाता है। राजगृही के रत्न-सेतुओं के कोषागार में संचित होकर, वह समस्त आर्यवितं के राज-मुकुट, और महारानियों की कटि-मेखलाएँ गढ़ता है ।

इन महाराजों के सर पर स्वतंत्र हवा की तरह वह रहे नौ गण-तंत्रों को देख रहा हूँ। शाक्य, भग्न, बुलिय, कालाभ, कोलिय, भल्ल, मौय, विदेह और लिच्छवियों को गर्व है कि वे किसी एकराट् राजा के दास नहीं। कि उनका हर नागरिक उनके राजतंत्र के चालक संयागार, में अपने छन्द (मतदान) ढारा, शासन के हर मामले और निषेध में अपना दखल रखता है। कोई सर्वसत्ताधीश राजा नहीं, किन्तु वे स्वयं अपने भाग्य के निर्णयिक हैं। ये गणतंत्र साधारणतः अपनी संक्षामान्य हित रक्षा से प्रेरित हो कर ही एकता के मूल में बैठे हुए हैं। राजेश्वरों को उनकी सात्त्विक स्वतंत्रता असह्य है : उससे उन्हें ईर्ष्या है। बैशाली के बणेश्वर की पांच बेटियों का पाणिग्रहण करके मानो इन नृपतियों ने अपनी उस ईर्ष्या की जलन को किसी कदर मिटाया है, और अस्ते नरपतित्व को तृप्त किया है ।

... पर देखता हूँ, इन गणतंत्रों में भी पारस्परिक विश्रह दबे-छुपे चलते ही रहते हैं। एक छोटे-से खेत या भू-खण्ड को लेकर भी इनके बीच चाहे जब तलवारें तन जाती हैं। मानुषिक राय-द्वेष जब तक है, तब तक स्वतंत्रता का क्या अर्थ रह जाता है ? व्यष्टि अपने भीतर जब तक अपनी कषायों की दास है, तब तक समर्पित

की सच्ची स्वतंत्रता कैसे प्रकट हो सकती है ? अपने मुजबल और गम्भेयस से पढ़ौसी को सदा आसन्नित रख कर जो स्वतंत्रता बनी है, वह कब तक टिकी रह सकती है। कुणीनारा और पावा के मल्ल भी अपने ही में विभाजित हैं। लोकमाता अविरावती नदी का आचल, सदा ही अपनी संतानों की परस्पर विश्रही कृपाणों से कोपया रहता है। बजुल नदी जैसा जचि रुफ़ अजेय विक्रान्त बेटा स्वयम् मल्लों की ईर्ष्या का प्राप्त बना, और आखिर अपने ही स्वजनों की असत्त्व अवहेलना से आहव होकर स्वेच्छाचारी कोसलेन्द्र का सेनापति हो गया। बेशक इस रूप पर कि मल्लनगणतंत्र के विश्व उसकी तलवार नहीं उठेगी। इसमें दन्धुल का गोरव अवश्य है। पर मल्ल अपने ही कुलाधतंस के प्रताप से ईर्ष्या-द्विष्ट हो गये, यह एक कुरुप और कठोर सत्य है।

लिङ्छवियों के गगतंत्र की गोरवनाथा तो समुद्रों के पार कर सुदूर पारस्पर्य, भिल, महाचीन और यवन देशों तक के आकाशों में गूँज रही है। वैशाली के संथागार में उपस्थित होने के लिए जाने कितने ही दूर-देशान्तरों के यात्रियों ने दुर्गम पर्वत और दुस्तर समुद्र लाँधे हैं। उसके चौराहों और अन्तरामणों में, पृथ्वी की जाने कितनी ही जातियों के कन्धे टकराते हैं। उसके पथों में विश्व की दुर्लभतम बस्तु-संपदा विकने की आती है। संसार के चुनिन्दा पंडितों और मान-धूरत्थरों का संगम उसकी आन-ओष्ठियों में होता है। उसके उपवनों और चैत्यों में विश्व धर्मों और मत-सम्प्रदायों के उपदेष्टा तीर्थंक युक्त भाव से विचरते हैं। वे निर्विरोध अपने-अपने मतों का प्रवचन करते हैं।

तीर्थकर पाश्वनाथ की जिनेश्वरी परम्परा का सूयं लिङ्छवियों की वैशाली में ही आज सर्वाधिक उद्घोतमान है। उसके संथागार के शिखर पर आदि तीर्थकर वृषभ देव के विश्व-धर्म की, ऋषभ के चिह्न से अवित केशरिया धर्जा, बड़े गोरव से फूहा रही है। उसकी छाया में संथागार के शीतर उसके गणनायक के सिंहासन की गीठिका में सारे ही प्रवर्तमान धर्मों के विहळ समन्वित भाव से अंकित हैं। दुर्दृष्ट तपस्वी, इन्द्रियजेता थमणों के विहार और प्रवचन से वैशाली के बन-कानन सदा ही प्रकाशित और आप्लावित होते रहते हैं। अनेकान्त और अहिंसा की कल्याणी धर्मवाणी आज भी वहाँ, दूर-दूर के मानव-कुलों को आकृष्ट करती है। अधिकांश लिङ्छवि धर्मिय नित्य के आहार-विहार में भी आवक धर्म को आचरित करते हैं। उनकी महारानी-बेटियों ने भारत के पौच भहाराज्यों में अरिहन्तों के जिनधर्म की प्रतिष्ठा और प्रस्तापना भी की है।

पर ऐसा लगता है कि यहाँ भी धर्म भाव जीवन का एक विभाग होकर रह गया है। भद्रन के कई कालों में, एक वह भी है। फिर चाहे उसे शिखर-

कष्ट कह लो । आत्रक के नित्य के आवश्यक षट्कर्मों से अर्गे वह धर्म जाता नहीं दीख रहा । अपने ही धर्म को शिशुधर्म के आसन पर स्थापित कर, अन्य धर्मियों को ग्रानों वे अपना आश्रित मानते हैं । उन्हें आश्रह है कि उन्हीं का धर्म श्रेष्ठ है, अन्य भवा पाखण्ड और मिथ्यान्व है । अनेकान्त की जयकारी का अन्त नहीं । पर भीतर एकान्त का हठ पल रहा है । आश्रह जहाँ है, वहाँ परिश्रह है ही । परिश्रह जहाँ है, वहाँ विश्रह है ही । धर्म में ही, कि शासन में हो, कि सम्पदा में हो, मुझे द्विग्रह में ऊपर नहीं दीख रही है बैशाली । परम परमेष्ठिन् अरिहन्त, सुवर्ण, रत्न, पाषाण की प्रतिमा में सदा को निश्चल प्रतिष्ठित हो गये दीख रहे हैं । वे मुझे लोक-जीवन में प्रवाहित नहीं दीख रहे । अनेकान्त, अहिंसा, अपरिश्रह केवल प्रवचन तक सीमित है । जीवन में इन स्वयम्भू सत्य-धर्मों का प्रकाश मुझे कहीं नहीं दीख रहा है । जहाँ उच्च कुलों का वंशाभिमान है, जहाँ अष्टकुलक ही राजोपरि गाँगमा भे मडित है, जहाँ अचन्द्रीच, धनो-निधन, कुलीन-अल्यज के भेद और अन्तर-द्विग्रह द्वय-छुरों मौजूद है, जहाँ घरती माता की अपार मंपदा कुछ राजन्यों और कुबेरों के बोधागारों में एकत्रित और संचित है, वहाँ अनेकान्त, अहिंसा और अपरिश्रह वा, सिवाय मृत शब्दों के और क्या भूल्य रह जाता है !

धर्म में हो, कि शासन में हो, कि धन में हो, जब तक मवसे लगार हो रहने की वासना हममें बनी है, तब तक किसी भी स्वतंत्रता का क्या अर्थ रह जाता है । जिनेन्द्र ने वस्तु मात्र की स्वतंत्रता का उद्घोष किया है । उसी परम सत्य के आधार पर लोक में भज्ञी स्वतंत्रता स्थापित हो सकती है । जो वस्तु मूलतः अपनी स्वयम की है, वह जीवन में यदि का स्वतंत्र उपभोग्य ही हो सकती है । उस पर वैयक्तिक अधिकार की मोहर लगाना ही तो परिश्रह है । और परिश्रह मारे पापों का मूल महापाप है । परिश्रह का ऐसा दुर्मन्त रूप जब तक लोक में उज्जागर है, सब तक अनेकान्त और अहिंसा की निरी तत्त्व-चर्चा से क्या लाभ है ।

...इस संदर्भ में वैशाली की जगत-विस्तात मंगल-पुष्करिणी का स्थाल आ रहा है । यह सर्वत्र दल्ल-क्या वी वस्तु बनी हुई है । वैश्यसंघ के अष्ट-कुलोंमें को हम पर अहा गवे है । महाय देश के भास्तु पापाणों रो बने इसके धाट और सोपान स्वर्ग के कला-सरोवर की पार दिलाते हैं । इसके जल इतने पातुदर्शी हैं, कि तल में पहीं वस्तु भी ऊपर गे लाफ दीख जाती है । राष्ट्रीय पुराविष्णा एक सुर्दीध्र प्राचीर से परिवेषित है । इसकी मतह पहले लंबे की एक तिशाल-चमचमाती जाली से आच्छादित है । और उसके ऊपर फौलाद वी शलाका-जाली का प्रकाण्ड द्विवन्त लगा हुआ है । ताकि उसमें कोई पक्षी तक चंचु न मार सके । उसके भीतरी जलों को बढ़ ही जलन से छतना नियंत्र और निर्बाध रखा जाता है कि कोई जलनर जीव भी उसमें जल ले ही नहीं सकता । और इस महार्ष, तुर्लभ जलराशि की रक्षा के

लिए पुष्करिणी के द्वार पर अहनिश सगीन पहरा लगा रहता है। इसके जल से केवल साजसिलकोल्सव के समय बुल्लराजा या अमिष्यक हो सकता है। कुल-पुत्रों के अस्तिरिक्त जन-सामान्य सो शायद इसकी जलक 'भी भज्जी देख सकते। प्रवाही जल-तत्त्व का गेंसा बन्दी स्वरूप लोक में शायद ही अन्यत्र कही जाती है। यह जिसना ही दुर्लभ है, उसकी आवारण लोक में उतना ही दुर्बन्नित हो रहा।

कांसलेन्ड के दुर्वार पराक्रान्त सेनापति बन्धुन मल्ल की पत्नी मल्लिका अस्तिरिक्त जन-सी तेजस्विनी और सुन्दर है। गम्भेती होने पर उसे दोहृद पढ़ा कि वह लिच्छवियों की मंगल-पुष्करिणी में स्नान लगे। बन्धुन के लिए जगत में कुछ भी अलभ्य नहीं हो सकता। अकाट्य को काटने की धार उसकी तलबार में है। अपनी प्राण-दल्लभा को वक्षारुड कार घोड़ा दौड़ाता हुआ बन्धुन एक बड़ी भोर मंगल-पुष्करिणी पर आ पहुँचा। प्रहरी तो उसकी जहाजाती तरबार का लेज ऐखकर ही आग लें दें हुए। प्रिया को लेकर वह भीतर गया। अपने वज्रभेदी खड्ग के एक ही झटके से उसने पुष्करिणी की दोनों जानियाँ काट दीं। मल्लिका उसके भीतर उतर कर जी भर नहायी। और एक मारते में अपनी रानी का दोहृद पूरा कर, बन्धुन मल्ल हवाओं पर अस्वारोहण कर गया। वीरभोग्या बन्धुन के इस खतरनाक बेटे को मैं प्यार करता हूँ। वीर प्रगतिनी मल्लिका के इस जीखिम भरे दोहृद-स्नान का मैं अधितन्दन करता हूँ।

पता चलते ही, लिच्छवि शूरमा पीछा करते हुए, बन्धुन पर टूट पड़े। बात की बात में भयंकर रक्तपात हो गया। पर बन्धुन अपनी तलबार के कुछ ही बारों से, संकड़ों तरमुण्ड हवा में उछाल कर, विजनी की कीष की तरह लिच्छवियों के हाथ से साफ निकल गया।

जन-तत्त्व को जो इस तरह अपनी सत्ता के फौलादों में बांधेगा, उसे काटने वाला दूसरा फौलाद कहीं पैदा होगा ही। मैं गणतंत्र अपने आप में कितने स्वतंत्र हैं, इनमें जनगण कितना स्वतंत्र है, उनके पारस्परिक संबंधों में स्वतंत्रता की कितनी प्रतिष्ठा है, उसका परिचय तो इस घटना से स्पष्ट मिल ही जाता है। जल और जलचर की भी दया पाने वाने, और पानी को भी छान कर पीने वाले निर्णयी शावकों के यहीं स्वतंत्र जल-इच्छा को ऐसे कठोर कारागार में बन्दी देख कर भेरे आश्चर्य की सीमा नहीं है। और वह कुलीनों की महद्दिकता का दास होकर रह सकता है? और उसकी अभिजात्य-रक्षा के लिये, गम्भेती माँ पर लिच्छवि तलबार उठ सकती है, और संकड़ों निर्दोष सीनियों की दग्धि चढ़ायी जा सकती है? क्या पाश्व के अनुग्रामी अमण भगवन्तों का समर्थन और ज्ञानीर्वाद, लिच्छवियों के इस कुत्सित कुलाभिमान को चुपचाप प्राप्त है?

'गणतंत्री शाक्यों' का कुमारिभान और भी भयंकर है। कामलोलुप प्रसेनजित को कूटपूर्वक दासी-पृथी व्याह देना तो मैं समझ सकता हूँ। पर वासभन्धतिया के निर्दोष पुत्र और अपनी दासी-पृथी में जर्मे अपने ही रक्तांश भागिनेय का ऐसा अधिमान कि उसके पाद-स्पर्श से उनका संथागार अपावन हो गया? और उसके जाने पर 'उसे धूमवाला गया! क्या यही है शाक्यों की गणतंत्रिकता?' जिस पर उन्हें भयंकर अधिमान है? एक निर्दोष मानवी को पहले ही महानाम शहर में अपनी पाण्डव लिङ्गा की नृत्य का साधन बनाया। और फिर उससे जन्मी एक और निर्दोष कुमारिका को उन्होंने अपने दुर्मत रक्ताभिमान और अहंकार की रक्षा तथा राजनीतिक पड़मंत्र बढ़ावियार बनाया। क्या यही है इन गणतंत्रों में जनगण की स्वतंत्रता? उनके विधिकारों की रक्षा? क्या यही है गण की एक बेटी का सम्मान? भिवाय शासन-विश्वान के कुछ सतही स्वरूपों के, इन गणतंत्रों, और एकाधिकारी राजतंत्रों के बीच कोई मौलिक भेद मैं नहीं चीनह पा रहा हूँ।

'मत्ता और संपदा के इन भव्य दुर्गों की नींव एकाग्रक मेंटे सामने खुलने लगी। जैसे कोई घड़ी किया हुआ, नम्बा-चौड़ा चित्रपट खुल रहा है। छल, जल, नदी और समुद्र-कथों का एक जटिल-कुंचित जाल जैसे किसी बदूश्य मछियाँ ने आकाश और पृथ्वी के बीच पैला दिया।'

अनाथपिण्डक सुदूर और मृगार जैसे आर्यविर्त के धन-कुबेरों के सौ-सौ साथ, चारों दिशाओं में जाते-आते देख रहा है। ये केवल जम्बूदीप में ही नहीं, ताम्रनिपि के भाग से बंग देश की खाड़ी, और भूगुक्ल तथा शूर्पारिक से अरब-सागर को पार कर, सुदूर ढीपों और देशान्तरों में जाकर संपदा वा विम्तार कर रहे हैं। श्रावस्ती से प्रतिष्ठान तक का मार्ग भाहिष्मती, उज्जयिनी, गोनद, विदिशा और कोशाम्बी होकर जाता है। श्रावस्ती से राजगृह का मार्ग हिमवान की तराई में होकर गया है। इस मार्ग में सेतव्य, कपिलवरस्तु, कुमीनारा, पावा, हस्तीगाम, भण्डगाम, देशाली, पाटलीपुत्र और नासन्द गढ़ते हैं। पूर्व से पश्चिम का मार्ग प्रायः नदी-वात्रों से तथ होता है। गंगा में सहजाती और यमुना में कोशाम्बी तक बड़ी-बड़ी नावें और जलपोत चल रहे हैं। साधेवाह विदेह हो कर गोध्यार तक, और मगध होकर सौखीर तक, भरुकच्छ से बहुवेश तक, और दक्षिण होकर बाबूल तक, तथा चम्पा से महाचीन तक जाते हैं। मरुस्थलों में लोग रात को चलते हैं और पथ-प्रदेशक नक्षत्रों के सहारे मार्ग निर्णय करते हैं। सुवर्ण भूमि से लेकर यवद्वीप तक, तथा दक्षिण में ताम्रपवर्णी तक साथों के आवासमन का ताँता लगा हुआ है।'

अबलीनाथ चण्डप्रद्योत की उज्जयिनी समस्त जम्बूदीप का एक केन्द्रीय व्यापारिक राजनमर है। पश्चिमी समुद्र के पलनों से जो व्यापार उत्तराकर्ता में होता है, वह सब उज्जयिनी के रास्ते ही होता है। पश्चिमी समुद्र के पत्तनों से अबन्ती

के सार्थकाहों के जहाँ लाल मागर और नील नदी को पार करते हुए भूमध्य सागर सब पहुँच जाते हैं। पुर्वीय और पश्चिमी गोलांड की अकल्य और रहस्य भरी खनियाँ, भूमिज और जनज सम्पन्नियों का आदान-प्रदान इसी महा जलपथ से होता है। सिन्धु, सौकीर, और भरकल्लु के समृद्ध तीरणों पर पारस्य, भिस, बालुन और सुदूर श्येम तक की प्रजाओं और पदार्थ-सम्पन्नियों का संगम होता है। गान्धार में पुर्व और पश्चिम की रक्तधाराएँ और संस्कृतियाँ आविष्ट होती हैं। अकल्ती के पर्ष्णों और चतुष्पथों से गजर कर, आदान-प्रदान की यह धारा व्यापारिक सार्थकाहों के बरिये बौशास्त्री से गंगा-यमुना को पार करती हुई, चम्पा के नदी धाटों से उफरती है। चम्पा में पुर्वीय समुद्र को पार कर, सुवर्ण द्वीपों और महाचीन तक व्यापारी शिष्ठियों का यह महासाम्राज्य फैला हुआ है।

मनुष्य के आन्तर साम्राज्य को विस्तारित करने वाली विद्याएँ, कलाएँ, संस्कृतियाँ और भ्रम इन सार्थकाहों के हाथों में खेलते हैं।

इन व्यावसायिक महापथों और उन पर चलने वाले साथों पर ही, वार्षिकते के इन तमाम महाराज्यों और गणराज्यों की चतुरंग-चौपड़ बिछी हुई है। काभिनी और कांचन के कृटिक ताने-बानों से यह चौपड़ कितनई बुनी और उघेढी जा रही है। मेरी पांच राजेश्वरी मौमियाँ इस चौपड़ के केन्द्र में बैठी हुई हैं। आज वेद-वेदांग, धर्म, धज, अग्निहोत्र, अहंग्राम, तीर्थंकर, सारे बाहुबल, विक्रम, प्रताप, प्रेम-प्रणय, कनाएँ, विद्याएँ इस कामिनी-कांचन की महा-बनुरंग-चौपड़ के मुहरे बने हुए हैं।

‘‘और जैसे मेरे सामने खड़ी एक चूनीती, भूमध्य सागर की तरंग-चूड़ा पर मे नलकार रही है। कि जम्बूद्वीप की इस चौपड़ पर मुझे भी अपनी कोई मौलिक काल चलनी है।’’ चलूंगा, निश्चय चलूंगा एक अपूर्व चाल। लेकिन ‘‘लेकिन’’ ‘‘उससे पहले क्या इस भाजी को उलट देना होगा’’?

प्रमद-कक्ष की शिवानी

आभारी हैं प्रमद-कक्ष की उन प्रमदाओं का। उनकी केविन्टरेंग ने जाने के मुझे कपर उछाल कर, नंदा वर्तं के इस नवम् खण्ड पर ला बेठाया है। वहाँ वे सब इतनी पास थीं, और घिरी थीं, कि उन्हें समूर्ण देखना और जानना सम्भव नहीं हो रहा था। इस ऊँचाई और दूरी पर से पाता है कि वे अपनी जगह पर हैं, फिर भी समीपतम चली आई हैं। वहाँ उनमें से हर एक की इयत्ता और अस्मिता को जानने की भी सुविधा नहीं थी। यहाँ उनमें से प्रत्येक के विलक्षण सौन्दर्य का समग्र दर्शन सम्भव है। मैं भी वहाँ उनके हाथ खण्ड-खण्ड ही तो आता था। किसी के हाथ में केशों के साप ही रह गये थे, तो उसकी मृदुल बाहु को इस लेते थे। कोई मेरी आँखों की काजल-रात में ही लो रहती थी। कोई मेरे कन्धे पर छूल कर ही आपा बैठती थी। कोई केवल वक्ष में विलस रही, तो कोई कक्ष में बिछुड़ रही।

‘यहाँ देखता हूँ कि मैं अखण्ड भोक्ता हूँ। और उनमें से हरेक पूरी सुलभ है। और वे सब मिल कर, समय मेरी ही रही हैं। जानना और देखना यहाँ अविकल है। सो विकलता की दीस नहीं है। दशेन और जान यहाँ सम्यक् और समूचा है। सो योग भी सम्यक् और समीक्षीन है। यही तो सम्यक् चर्या है। यानी सम्यक् चारित्र्य। और जब ये तीनों एकाए और संयुक्त हुए, तो सारी मुन्दरियों के साथ योग और मिलन नित्य और अखण्ड हो गया। यहाँ निषेध की बाधा नहीं, सभी कुछ आपो आप बैध हो गया है। धैय और प्रेय का विरोध समाप्त ही गया है। रक्त-मांस की बाधा से परे, वह सौन्दर्य और प्रीति का पूर्ण आलिङ्गन है।’

नवम् खण्ड का मेरा यह कक्ष अट्टदल बम्ल के आकार का है। इसके बाहायन दसों दिशाओं पर खुलते हैं। हिमकाल की अदृश्य चोटियों की भुजील हिमानी आभा, इसकी दीवारों और ढारों पर खेलती रहती है। और दूरवर्ती पुष्पित बहुशाल वन की सुगन्ध सदा इस कक्ष में आयी रहती है। जिस लोकालय की परिकल्पा कर आया हूँ, उसकी कष्टा और उसके सुख-दुखों की यहाँ नलत भह-अनुभूति होती रहती है।

आज सबैरे ईशान के कोण-वातावरन पर खड़ा, किसी अलक्ष्य में आँख़ था कि अन्नाम क बारे में गुगलधों का ज्वार-सा आ गया। कई नूपुरों के रणन भैं मरा छ्यान-भंग हुआ। देखा, प्रमद-कक्ष की सारी बालाएँ दल बांध कर आयी हैं। हाथ बोड़ सब का स्वागत किया, तो वे राकुचा आईं। किर पंकितबद्ध प्रणिगात कर, अँड़े बर्तुल में हाउर बांध कर, स्फटिक के फ़ंगे पर ही बैठ गईं। मुझे उन्होंने अपने गाय नीचे न बैठने दिया। तो अपने मर्म-तन्त्र पर आसीन हो निया।

'तुम सब आई, कुतज्ज हुआ।'

चपाल मादिनी धोनी सब की ओर से :

'आपको तो अब हमारी याद ही नहीं आती। दर्शन दुर्लभ हो गये।'

'अरे याद की गुगाडण कहाँ है, मादिनी, जबकि सदा सब मेरे साथ रहती हो।'

'आपकी नीला अपरम्पार है, देव। हम अजानिनी, उसका पार कैसे पाये?'

'अपार को पा गई हीं, तभी तो ऐसे बोल रही हो। मुझे तो वह अपार तुम्हारी ओढ़नी की गाठ बैधा दीख रहा है।' 'मेरे कुतलों के संपत्तिये, जान फ़ड़ता है, अब तुम्हारी बाहु को बैध कर, यथ पर आलोड़ित है। क्या कमी रह गई!'

सब मजीरों-सी खिल-खिला आई। तब कीशाम्बी की बाला अनोमा बोली :

'कितने दिन हो गये, प्रमद-कक्ष के कमल-पवित्रे हर साँझ असृत ही कुम्हला जाने हैं। धोषा त्रीणा जाने कब से सूनी और निष्पंद नीरब पड़ी है। लगता है, देवता रुठ गये।'

'ऐसा यदि तुम्हें लगता है, तो मन्त्रमुच्च में अपराधी हैं। और तुम सबके थोक्य नहीं हैं।'

'हाय हाय, ऐसा न बाले प्रभु, हमें यो सटक कर दूर न करें।'

'मतनब, दूर पड़ गया हैं तुम से। कम पड़ गया हैं तुम्हारे लिए। तभी तो सुप कातर हो।'

'नहीं-नहीं, रंच भी कम नहीं हो हमारे लिए। बहुत पाम हो, और पूरी हमारे ही। किर भी आँखें ही सो ठहरी। दर्शन की आम इनका स्वभाव है न।'

'हीं-हीं, वह मैं समझ सकता हैं। पर जिस रूप को देख लेने पर आँखों की प्यास बनी ही रह जाये, तो मानता होगा, कि वह रूप कमतर है।'

'इतनी कसौटी न करें, प्रभु, हम अजानियों की। और कोई रूप देखने की इच्छा तो अब रही नहीं।'

'और कोशा, तुम्हारी घोषा वीणा तो अब हमारे भीतर निरन्तर बजती रहती है। कितनी अच्छी हो तुम, समूची भीतर आ चौंठी हो, और अपनी वीणा में मृगे ममूना बजाती रहती हो। अद्भूत है, वर्त्स देश की कल्या का नंगीत कौशल !'

वैशाली की गवाही उद्धकी डोरे के बोली :

'महादेवी का आदेश मिला है। हम सब अपने घर लौट रही हैं। विदा दें, अद्भुत कुमार, तो हम गव... ' 'जायें !'

उद्धकी का गवा भर आया था।

'विदा तो वर्द्धमान किसी को देता नहीं। क्योंकि विछोड़ उसके वश का नहीं। यह उसका स्वभाव नहीं !'

'आप कही चाहते हैं, कि हम सब यहाँ रहें। इसी से तो जाने की बात उठी है... !'

'मैंने कब कहा, कि तुम जाओ। अपनी बाल महादेवी जानें। चाहो तो सदा मेरे साथ रह सकती हो। उसमें यहाँ रहने या और कही रहने से क्या अल्प पड़ा है ?'

'आप अपने पास रखें, तो और कही क्यों जाएं हम ?'

'मेरे साथ कुमारियाँ ही रह सकती हैं। दिवाह की सीसा मृगे सहा नहीं। क्योंकि उसमें आखिर कहीं वियोग है ही। और वियोग मेरा स्वभाव नहीं। सोच लो तुम सब !'

सबकी सब आँखें झ़काये, चूप हो रहीं। कमरे में एक शहरा सशादा व्याप गया। तब सगध की मुवणी बोली-

'आप हमें रोकना नहीं चाहते न ?'

'रोकने वाला मैं कोन होता हूँ ? रहोगी तो अपने से, जाओगी तो अपने से। कोन किसी को यहाँ बौध कर रख सकता है, मुवणी !'

'और कोई बैधना ही चाहे तो ?'

'मोह की यह मधूर भ्राति सब ही बहुत भादक है। मगर, काण, मैं सुझें, तुम सब को बैध कर रख सकता, स्वयम् बैध कर रह सकता !'

'आप जाहें, तो वयो नहीं, देख !'

'जो स्वभाव नहीं, सत्य नहीं, वह कौसे चाहे ? मोह में पढ़ कर, तुम्हारा विछोड़ भोग, पह मेरा प्रेय नहीं !'

'तो हम सब जायें, महाराज ?'

'जाना-आना, कहा है, सुवर्ण ? अपने ही में तो यह सब घटित होता है। अपने में पूरी रहो, और मुझे पूरा अपना लो। तो फिर जाने-आने का असेका ही खला हो जाये !'

'कब लौटा लाओगे हमें फिर, अपने पास ?' दोली गांधारी शियांदा।

हाय, नारी की बैंधने की कात्र चाह का अन्त नहीं !

'नदी हो। समुद्र में से ही एक दिन उठकर, बादल बनी थी, म्यैच्छा की तरफ में। धूम-फिर कर, फिर एक दिन समुद्र में ही लौटीगी। फिर चिन्ता किस बात की, कल्याणी !'

'सब के भैहरों पर मैंने समाशन की पूजे आश्वस्ति देखी। समवेदना की बहुत महीन पानी ली गति में, वे उत्मुक्त, ऊमिला योगिनी ही लगी, दियोगिनी तो जरा भी नहीं लगी।

सब को सजन तथा एक साथ प्रणिपात में विनत देख कर, अनुभव किया, ये सब मेरी ही तो हैं, असेष मेरी। और मैं गमूचा इनका। चृपचार जाती उन सबके चरणों के मंजीरों में कैसी मधुर आगमनी बज रही है ! नदियों समुद्र में शिल्पे को दौड़ी आ रही है।

'सहसा ही देखा, बैनतेयी कक्ष में जरी आ रही है। सर्प-कन्चुक-सा महीन नीला उत्तरासंग धारण किये हैं। चेहरे को धेर कर, दोनों कन्धों पर हल्के उसके थने पूर्धराले कुन्तल उसका भामण्डल बन गये हैं। उज्ज्वल लिंगी फूलों की शोभा उसके मुख-मण्डल पर व्याप्त है। निस्पन्द, तम्बी, तन्दगी, संचारिणी दीप-शिखा-सी वह चली आ रही है।

'ओ, ... बैनतेयी, तुम कहा रह रहे थे ?'

'बाहर छत में थी।'

'सब से अलग ?'

'राज-कल्पाओं के बीच, मेरा क्या काम ?'

'तो तुम ... ?'

'दासी हूँ, देव ! दासी-मुन्ही भी !'

'अधिक बरणीया ही मेरे निकट ! बद्भान तुम्हारा अधिवेश करता है !'

'संकर हूँ, प्रभू ! इस योग्य कहा ?'

'सकर कल्या हो ? बहुत अच्छा ! तब तो शंकरी हो, वैना । शान्ति और सन्धी हो तुम, मानव-कुल की !'

'यह तो आर्य-पुत्र का अनुग्रह है !'

'बद्धमान कुलजात आर्य नहीं, आन्मजात आर्य है । वह तुम्हारे विशेष परिचय का प्रार्थी है ।'

वैननेथी, जुड़े जान्-युगल मोड़े, फर्श पर ईयत् छुकी कमलिनी-सी बैठी है । गणित्य की पृच्छा पर वह मौन रही और नम्रोभूत हो कर, अपने में सिमटी जा रही है ।

'मुकुल हाँओ, कल्याणी । और अधिकांश तोड़ कर, अपना हृदय खोलो । तुम्हारा परिचय पत्तकर धन्द होना चाहता हूँ ।'

'मेरी माँ एक गुन्दर यवन कुमारी थी । पर वह दासी थी । एक भारतीय व्यापारी सार्थ के साथ एथेस से दक्षिणायन के एक पत्तन पर आई थी । ... पांचाल के ब्राह्मण श्रेष्ठ ब्रकपाणि काल्यायन दक्षिण के अमणाचलम् में गारुड़ी साधना कर रहे थे, काम और मीक्ष की प्राप्ति के लिए । ... माँ को गामने पा कर उन्हें लगा, कि उनकी अधिष्ठात्री आ गई ।'

'क्या नाम था तुम्हारी माँ का, वैना ?'

'इफ्फीजीनिया !'

'जीनिया गे जन्मी तुम, नवमानव की जनेत्री ! फिर ... ?'

'मी एथेस को कभी भी भूल न सकी । पर ब्राह्मण पति में उन्हें सूर्य देखता अपोलो का दर्शन होता था । पति की माघना-संगिनी हो कर रही थे । पर अधिक जीवित न रह सकी । मैं मातृ वर्ष की थी । ... नव वे हमें छोड़ कर चली गई ...'

वैना का काण्डावरोध हो गया । उसकी अँखों में एक नदी ढबडबा आई । क्षणीक चूप रह कर, फिर मैंने कहा :

'मेरी ओर देखो, वैना, मैं हूँ त । जी खोलो !'

'माँ वैनिस को तरह सुन्दर हैं । अनक भर याद है उनकी ।'

'मो तो यह सन्मूल जेहरा साक्षी है ! फिर वैना ?'

'साक्षक पिता भभुद्र की तरह गम्भीर थे । बाढ़व अग्नि की तरह, अपनी वेदना को तह में भेंटे रहे । निश्चल माघना करते रहे । मैं उनकी सेवा में निरत रहती ।'

'ब्रकपाणि को मिदि मिली ?'

'मौ को पा कर उन्हें कामदेव सिद्ध हुए। मौ का विछोह होने पर, उनकी विरह बेदना में प्रज्ञा जागी, और उन्हें गच्छ दर्शन हुआ। मोक्ष के लिए, उन्होंने पृथ्वी-ल्याग न स्वीकारा। अद्यत रहे संकल्प पर, कि पृथा ही को पूर्णकाम होना पड़ेगा। तब उन पर शक्ति-संयुक्त शिव प्रसन्न हुए। शिवानी ने उन्हें गोद में धारण किया। ' ' और यह कल्य-दर्पण उन्हें प्रदान किया, जो भेरे पाय है ' ' ।'

'और तुम्हें ?'

'पितृदेव ने मुझे मन्त्र-दर्शन कराया। नासमझ थी। उसी अबोधता में भेरे कुमारी-हृदय में अपनी विद्या-सिद्धि को प्रतिष्ठित कर दिया।'

'तुमने काम, गच्छ और शिव का दर्शन पाथा ?'

'भेरे रोम-रोम में वे एकत्र संचारित हुए।'

'बन्ध हो चैना ! संकरी ही शंकरी हो सकती है। फिर ?'

'पितृदेव ने कहा था, कोमार्य के भीषर ही यह परम विद्या अद्युत्पा रह सकेगी। दैनन्दीयी नाम देकर उन्होंने मुझे प्रज्ञा के माध्यम से एक साथ काम और पराकाम शिव का दर्शन कराया था।'

'लोक में अनन्धा हो तुम, कल्याणी। फिर ?'

'एक दिन अचानक, पिता ने सावधान किया, कि उनका शरीरान्त निकट है। मुझे संकटों में अकेले जूझना होगा। पर विद्या सदा कवच हो रहेगी। प्राण-पृण से उसकी रक्षा करना। तब एक दिन परिवाता आयेंगे ' ' ।'

वैता की आखिं छृतशता के भार से झुक गई। उसका ढोल रुद्ध गया।

'तथास्तु चैना ' ' । फिर ?'

'अनाधिनी कन्या को संकर जान कर, ब्राह्मणों ने उसे अवमानित किया, उस पर अत्याचार हुए। ' ' यज्ञ की बलि बेदी, से कह माग छूटी। ' ' आश्रयदाता थेटी की मनोकामना को उसने छुकरा दिया। तब उज्जयिनी के पप्प में दासी-व्यापारी के हाथ वह विकी। उज्जयिनी की महारानी शिवा देवी, आएकी मौसी, एक दिन रथारुद्ध होकर राजमार्ग से जा रही थीं। उनकी निशाह उस पर पड़ गई। ' ' कृतज्ञ हैं उनकी, उन्होंने तल्काल मुझे क्रप कर लिया। उनकी सेवा में, मौ के आंचल-सा आश्रय मिला ' ' ।'

'शिवा मौसी का आभारी हैं, चैना ! फिर ?'

'अब तो समझ हूँ ही। प्रियकारिणी मौ ने मुझे देखा। परिचय पा कर वे अनु-कम्या से भर उठीं। महारानी शिवा देवी से अनुरोध कर यहाँ लिवा लाई।'

'किस लिए बैनतेयी ... ?'

'क्यों प्राप्त हो? ... ?'

'बद्धमान का हाल तो तुम देख ही रही हो?'

'सो तो देख रही हूँ, देख !'

'... क्या चाहती हो, उससे?'

सर्वोक्तुप हो रही थह। अगले भीड़र ढूब कर, जैसे निःशेष हो गई।

'बोलो, क्या चाहती हो मुझ से, शुभे?'

'कुछ नहीं ... !'

'तो अनचाहे ही, तुम्हारी हर चाह पूरी होगी !'

'वे गद तो गई। मूँझे भी जाना होया?'

'बैनतेयी क्यों जायेगी? वह शाश्वती कुमारी है!'

'मेरे परिवारा आ गये?'

'यो तो तुम जानो!'

'कैसे स्वामी के योग्य ही सकती है? क्या आदेश है बैना के लिए?'

'अपनी हर इच्छा की स्वामिनी होकर, निवारण में रही!'

'स्वामी ... !'

'और सुनो बैना, एक रहस्य जान लो। काम, गहर, शिव ये सब तुम्हारी अन्तर्बासिनी आत्मा ही है। भिन्न-भिन्न अन्य कोई नहीं। तुम स्वयम् तद्रूप हो। इसी भाव में निरन्तर रहो।'

'दासी को अपनी सेवा में नियुक्त करो, देवता!'

'दासी ... ? स्त्री, फिर भूल कर यह शब्द कभी भी मुँह पर न लाना। स्वामिनी होकर रहो अपनी, सो मेरी भी।'

'मैं दासी-पुत्री हूँ न नाथ, और उज्जयिनी के दासी-पृथ्य में कीता में शिवादेवी की दासी। इसे क्या कहोगे? इराका कोई निवारण?'

'निवारण? यही कि बद्धमान ने मुझे स्वामिनी स्वीकारा। वह पूर्णी पर से मानव के भूलगत दासत्व का उच्छरण करने आया है। ताकि मनुज ही क्यों, कण-कण स्वाधीन हो। अणु-अणु अपना स्वामी हा कर रहे।'

'आज्ञा दो, मैं कहाँ रहूँ? कैसे तुम्हारा प्रिय करूँ?'

'प्रमद-कक्ष में ही रहोगी तुम !'

'उस अपार वैभव के बीच, अकेली ?'

'साम्राजी अकेली ही रहती है !'

'और वहाँ दूर रह कर, स्वामी की कथा सेवा होगी मुझ से ?'

'कुछ न करो। वह रहो अपने में, नित्य सुन्दरी, और अपने सौन्दर्य को अधिकाधिक पहचानो। इससे बढ़ कर मेरी कोई सेवा नहीं। इससे अधिक कुछ करणीय नहीं !'

'दर्शन देते रहोगे न ? और अनुशा हो तो, दर्शन करने आ जाया करें !'

'अनावश्यक है वह, ऐसा, तुम्हारे लिए। इस दूरी रखदी है, तो आत्मजनन बनी रहेगी। अखिलों से देखने की प्यास, दूरी नहीं तो क्या है ?'

'नाथ ... !'

'सदा पास रहो, अपने, सो मेरे भी। तब, अनचाहे भी, आहे जब, मुझे सम्मुख पाओगो !'

'कृतार्थ हुई, देव !'

'और मुझो, तुम्हारे दर्पण में, अब शत-सहस्र विद्याएं प्रकट होंगी। निर्भय और अविकल्प उसमें निहारना। भीतर की सब ग्राहियाँ खुलती भली जायेंगी। मैं तुम्हें आर-पार प्रस्थक देख रहा हूँ, इस क्षण ... !'

'कौसी हूँ, ... 'नाथ ?'

'मुझ से क्यों पूछती हो ? अपने दर्पण से पूछो !'

'आप्यायित हुई, भगवन् !'

कुमारी की बे दोनों नीलोत्पला आँखें सजल ही, पूरी मुँह पर खुल आयीं। समुद्र-सतरण को आवाहन था उनमें। फिर अपने जानु-ग्राहित आसन से ही छुक कर उसने दोनों हाथ पक्षार कर, मेरे चरणों पर ढाल दिये। और चुपचाप उठ कर, घीरे-घीरे चली गई।

बैनतेयी, तुम्हारे रहस्य का पार नहीं। ...



अदिति, तुम्हारी कोँख से मेरा आदित्य जन्मे

सुनता हूँ, कि मेरे शैशव का पालना, जब नद्यावत-महल में भूला, तभी उसका राजद्वार, मुझ तक आने को, हर किसी के लिए खुल गया था। कोई ऐसी अलक्ष्य प्रेरणा काम कर रही थी, कि मेरे परिजनों से यही करते बना। और फिर अपनी आल्य-कीड़ों में स्वयम् मैंने ही, महल की मर्यादा अनायास खत्म कर दी थी। कुण्डपुर में, बाह्यण से लेकर कूट तक की गोद में, मैं अचानक बैठा दीख सकता था। किशोरावस्था को पार करते-करते, मैंने अपने को अधिक-अधिक अन्तर्मुख और स्वचिल होते गया। भरसक अकेले रहना ही मेरा स्वभाव हो चला। भीतर से आती थीं विवित पुकारें; और उनके आवेद में होती थीं निरहेष्य भटकनें और यात्राएँ। घर में रहूँ या बाहर, अकेला और स्वयम् को भी दुर्लभ हो चला था। सुनता था, मुझे लेकर, चारों ओर दूर देशान्तरों तक अनेक कहानियाँ चल पड़ी हैं।

इधर लोक-ध्यान का प्रसंग आया। तो प्रकट में आकर, मैंने सर्वत्र और श्री प्राण और उत्सुकता जगाई है। बिजली के बेंग से और कौध की तरह, जनगण में से गुच्छा हूँ। सब की आँखों का तारा और प्यारा हो गया हूँ। सुनता हूँ, सोग मुझे बहुत चाहते हैं, और बुलाते हैं। तो जाऊँगा ही सब के पास, ठीक समय आने पर। ... और वह ममय अब दूर नहीं दीखता।

इधर बाहर जो यह मेरा कैलना हुआ, तो कई दूर-पास के मुखागण मेरे पास आने-जाने लगे हैं। क्षक्षिय कुण्डपुर मुझ से खिल हुए हैं, क्योंकि उन्हें अपने मद का आभिजाल्य भूमि में नहीं मिला। उन्हें लगता है, मैं उनमें से एक नहीं हूँ। राजपुत्र ही कर भी, राजवेश, वैभव और कुल-मर्यादा के प्रति लापवैद्ह हूँ। गणतंत्रों के ये क्षक्षिय कुमार भूमि में अपना नेता खोज रहे हैं। पर मुकुट, महिमा, सुरा, सुन्दरी, ज्ञान, राजमौरद से रहित मुझे देख कर वे निराश हैं।

अनलबत्त: कुछ ब्राह्मण पुत्र या फिर शूद्र अनाथ और संकर युवा मुझ से अधिक आकृष्ट हैं। श्रोत्रियों को मैं प्रसन्न न कर सका, क्योंकि उनके याजिक विधि-विद्यानों और वर्णकाण्डों को मुझ से समर्थन न मिल सका। बल्कि उन्होंने मेरी भृकुठियाँ तनी और विप्लवी देखीं। तो सहमे, और मुझे ख़तरनाक मानने लगे हैं।

लेकिन ब्रह्मा-विद्योपासाक, कई ब्राह्मण-पुत्र मुझ से प्रसन्न और आकृष्ट हैं। क्योंकि वे भत्ता खोजी और प्रगतिशील हैं। वे मेरे पास खिच कर आते हैं। क्योंकि ब्राह्मण और अतिथि की सीमाएँ मुझ में दूरी हैं और दोनों मुझ में मिल कर, कोई तीसरा आयाम मुझ में खुला है, जिसकी उन्हें खोज है। अन्त्यज और संकर भी इसी से मेरे प्रेमी हैं; क्योंकि उनके चिर तिरस्कृत अस्तित्व को मैंने पूर्ण स्वीकृति दी है, और अतिथि-प्रेष्ठ इक्वाकु लिङ्गविकृत का एक राजपुत उन्हें मित्र और सखा की तरह समकक्ष सुलभ है।

वैश्य जैन श्रेष्ठी मुझ से नाराज हैं, क्योंकि मेरे कुलज्ञात जैनत्व से आकृष्ट होकर ही वे मेरे पास आये थे, पर जैनत्व का कोई पक्षपात उन्हें मुझ से न मिल सका। उनकी अतुल सम्पत्ति, दैशव, उनके अमूल्य रत्नाभरण मुझे किंचित् भी प्रभावित न कर सके, यह उन्हें विचित्र लगा। उनके चैत्यों के अकूल रत्न-निर्मित जिनदिनों के दर्शन करने तक की उत्सुकता भैं उन्हें विधायें। वे अद्वितीय और क्षुब्ध हैं यह देख कर। उन्हें मेरे प्रेम में दिलचस्पी नहीं; मेरा जैनत्व और राजत्व ही उनका प्रेय है। वह बैंधा-बैंधाया उन्हें मुझ में न मिला। सो सर्वाधिक निराम मुझ से बही हुए हैं।

एक ब्राह्मण युवक सोमेश्वर, मुझ से विशेष संलग्न हो गया है। दूर से वह भूमि कोई पलातक, रत्नदीपों में खोया, स्वप्निल राजपुत्र ही अधिक समझता था। क्योंकि मेरी विचित्र यात्राओं, और निरानन्द एकाकी जीवन की अजीब कहानियाँ उसने सुन रखी थीं। पर इधर मेरे लोक-भ्रमण में, मर्यादा-भंजन की जो जो भंगिमा उसने सुनी, तो वह मेरी तरफ बेतहासा चिचा। बहुत संकोच और पूर्वायि ह सेकर पहली बार आया था, डरते-डरते। मगर पास आकर, योद्धी देर में ही उसकी अंथिर्याँ यों गल रहीं कि, कहे बिना न रह सका कि बढ़मान, मुझे एक तुम्हारी ही तो तसाश थी; मैं उसके मुग्ध और विभोर भाव को देखता रह गया। एक ही तो ऐसा पूरब और मित्र पहली बार मेरे सामने आया है।

सोमेश्वर पितृपक्ष में माझबल्की शास्त्रा का ब्राह्मण है। पर माँ उसकी क्षत्राषी थी। पिता रोहिताश्व बान्तर अग्निहोत्र के साधक, दुर्लित ब्रह्मचारी थे। कल्बरेतस् तेज से जाज्वल्यमान। याज्वल्य से भी आगे आकर, नचिकेतस् के आराधक। पर बढ़ती ही लक्षिय प्रभुता को देख कर और लक्षियों की

अपने कुसज्जात विश्वामित्र, जैवनि और प्रतर्दन जैसे क्षत्रिय राजवियों के अभिमान से प्रमत और ब्राह्मणों के प्रति उनकी बहुती हुई तिरस्कार भावना को देख कर, रोहिताश्व का ब्रह्मतेज़ क्षुब्ध हो उठा। सो जान-दूष कार उन्होंने एक उच्च राजकुलीन, क्षत्रिय कन्या को मोहित किया और व्याहा, और मानो भावत्व को इस तरह चरणानन्त कर, उसमें अपने तेजस् को सौंचा। सोमेश्वर उसी बिंदोही ब्रह्मतेज़ की सत्तान है।

पिता कुटीरवासी, वशवासी, आत्मज्ञाणी थे, शाश्वतानन्ति पर गुहारा था। पिता की अन्तर्मुखता बहुती ही गई। उनसे पाया एकान्त आत्मज्ञान सोमेश्वर को तुप्त न कर सका। वह याजवल्क्य की तरह, भीतर-बाहर के समन्वय द्वारा दिव्य जीवन उपलब्ध करना चाहता था। वह ब्रह्मानन्द की ही जीवनानन्द बनाना चाहता था। ... सो अपने जीवन को उसने अपने हाथ में लिया; तीव्र शानपिपासा से बेचैन हो किसी तरह तक्षशिला जा पहुँचा। विश्वविद्यालय के नियमानुसार, वह निर्धन अन्तेवासी, 'धर्मन्तवासिक' हो कर रहा। यानी दिन भर गुहनेवा करके शुल्क चुकाता था, और रात को गुह-चरणों में विद्योगायन और निद्राजयी घनधोर अध्ययन। शास्त्र, शिल्प, शस्त्र तक की सारी विद्याओं पर उसने प्रभुता पायी है। वेद-वेदांग, उसकी सौसों में सहज उच्छृङ्खसित हैं। इस उज्ज्वल गौर, भव्य काय, ब्रह्म-क्षत्रिय युवा में एक निराले ही तेज, शांति और प्रज्ञा का समन्वय है। उसकी बड़ी-बड़ी पानीली आँखों में, एक रक्ताभ छुमारी है। जैसे सोम-मुरा पी कर ही वह जन्मा है। ऋष्वरेतस् का यह बिन्दु-पुत्र, लोक और लोकोत्तर का सञ्चिप्त-पुरुष लगता है। उसके उम्रत ललाट पर, चिन्तन की तीन समान्तर रेखाएँ, तेज की शताकाब्दों-सी पढ़ी हैं। जैसे निषुण्ड तिलक से 'अवित भाल लेकर ही वह जन्मा है।

... इधर बहुत दिनों से सोमेश्वर आया नहीं था। और मैं बल्कि प्रतीक्षा में था उसकी, जो मेरे स्वभाव में विरल ही है। आज आया तो अतिरिक्त आल्हाद था उसके चेहरे पर। आँखों की सोम-मुरा अधिक गहरायी हुई थी। और एक उन्मुक्त विस्तार की अंगिमा थी, उसके लहराते केशों में। बोला कि इधर बहुत भीतर ढूँढा-उत्तराया है, अपने और सृष्टि के रहस्य को आहने की उद्दरक्षा से व्याकुल हो कर। और एक कविता इस बाप्लाकन और मंथन में से उसने लिखी है, कोई तट पाने की विकलता में से। सोमेश्वर स्वभाव से ही कवि है, और उसका पूरा व्यक्तित्व कविता के लालित्य और तेजस्व से दीप्त है। उसकी देहरेखा में भाव और सौन्दर्य की एक बनोखी तरलता और प्रवाहिता है। मैंने उससे कविता सुनाने का अनुरोध किया। वह तो छसाछल भरा बैठा था,

सो यह आया । एक अजस्त स्वर-धारा में ऊर्ध्व, अतल, अनन्त के आयाम एक बारगी
द्वी कशमकश करते हुए सामन आने लगे । उसने पढ़ा :

‘देख रहा हूँ, परामूर्द्ध काल में कभी एक जलाप्लावन ।

सृष्टि उसमें ही भयी बिसर्जन ।

सो यहा था काल का मान, होने का मान ।

‘‘पता नहीं, कौन बचा, किसने क्या रचा । मुनता हूँ कुछ नाम :
वशी, अंगिरस, विश्व, विश्वामित्र, प्रचेतस्, मारहाण ।

आप ही अपने को करके सम्बोधन, इन आदि ऋषियों ने किया
ऋग्वेद का ऋचागान ।

उपास्य और उपासक के भंड से अतीत

यह था स्वचेतस्, स्व-संबोधित कवियों का आत्मगान ।

सम्मुख पा कर विराट् अनन्त प्रकृति को ये हुए मुख, स्मयमान ।

प्रबन्धायित होकर पुकार चढ़े थे : कहाँ से यह सब आ रहा है,

कहाँ को जा रहा है, कब से है यह और कौसे हुआ यह सब ?

ये सब कवि थे, उठानस् थे, सहज ही आवित थे,

तकतीत अपने को पहचानने की पीड़ा से थे ये आरमाकुल ।

‘‘प्रश्नों का प्रश्न एक गूँजा इन ऋषियों के मानस-मण्डल में :

कहाँ से हुआ है यह नित्यिल आविर्मान ?

प्रश्न उद्घोत हुआ : उत्तर में ऋचाएँ उद्घोत हुई : कविता अवतीर्ण हुई ।

जलाप्लावन से पूर्व कोई जातीय सूति इनकी थी नहीं :

सो इन जल-पुत्रों ने उत्तर में गाया : आदि में जल है,

केवल जल ‘‘जलजलान्त :

देख रहा हूँ, जाने किस अकात अन्धकार के विराट् गुम्बद में से

सहसा ही आदि जलस्रोत का उत्तरण :

एक विस्तार जलजलायमान !

‘‘यह जल कहाँ से आया ?

उत्तर में अघमरण को हुआ काल-मान :

काल-तत्व, सम्वत्सर, ऋतुवक्र में से जल हुआ है आविर्मान ।

‘‘बोले प्रजापति परमेष्ठिन् :

काल नहीं, आदि में काम था—वैश्विक काम ।

बोले हिरण्य-गर्भः नहीं, आदि में था हिरण्य-गर्भ, अपना ही बीज आय :

बोले नारायणः सृष्टि-पूर्व सूर्य थे, उत्तर में से जल आये,

जल में से फिर सूर्य आये : वही है आदि और अनन्तर ।
 अहुनस्पति बोले : जल आये शून्य में से, कुछ नहीं में से ।
 बोले अनिल : आदि में वायु थे, वायु से जल जन्मे ।
 ये हृशा काल-भान, तत्व-भान ।

‘‘किन्तु कौन किसमें से ? : प्रश्न का अन्त नहीं ॥

‘‘प्रश्न और मूर्दुदा : किस दृश्य कल में गे गंगे इन आङ्गूत हृषा ?
 दृश्यभान परिवर्तमान जगत में, प्रतीक्षमान भूयमान सृष्टि में
 कौन शक्ति है कारणमूर्त, कौन वह प्रचेतस् है ?

अधमर्थण और परमेष्ठिन् ने कहा : तपस् में से तार्जन है ।
 जल स्वतः उन्मेषित हुए तो तपस् जन्मे : उनमें से गमित काल ।
 वही रोहित सूर्य हो प्रकटे—आदि दैवत् सहस्राभ काल-दैव,
 अतु-चक्री, सप्त-किरण-बला, सप्ताश्व-रथ-आरोही ।
 काल ही आदि अहु, उनमें सब अस्तिमान गतिमान प्रगतिमान ।

‘‘प्रश्न और आगे गया : काल भी कहाँ से आया ?
 आदि में कुछ था या था ही नहीं ?

सत् में से सत् आया, कि असत् में से सत् आया ?
 ‘‘बोले परमेष्ठिन् : सत् मी नहीं, असत् मी नहीं :
 केवल जल, अनादि जल, अनन्त जल :

आदि तत्व अस्ति मी नहीं, नास्ति मी नहीं : वह केवल गृहन गमीर जल :
 आप अपने से इवसित् स्वधा संचालित, आप अपना उद्गम :
 उसमें से काल, सूर्य, अतुर्ए, परिवर्तन, आकार, विश्व स्वतः प्रवर्तमान :
 यदायं से भिन्न, उसका कर्ता चालक कोई नहीं :
 अपनी ही गति में से आप वह आविमनि, भूयमान, प्रवर्तमान ।

मनुज, दध्ना, सूर्य, मनस् से मी पुर्व, आप ही जलोभूदृत
 विश्व-तत्व अपना ही प्रवर्तक है ।

‘‘तथ आये अहुनस्पति, बोले : अनस्ति में से अस्ति हूई :
 शून्य में से सृष्टि हुई : असत् में से सत् हुआ :
 असत् ही कलादि अनन्त अदिति, जनेता सृष्टि की :
 वैदिक काम दक्षा में से जन्मी अदिति : अदिति में से फिर जन्मी दक्षा :

पर यह अदिति पृथ्वी के पार, आकाश-बहु, दिशा-बहु :

कितिज के अन्तहीन विस्तार में से उत्तानपाद द्वारा जन्मी है अदिति :
अनन्त होकर भी वह है सान्त, सान्त हो कर भी वह है अनन्त ।

‘‘ इस धरात अनुमति के परे नीर दुध गही ? ’’ अनुमति मनस् में है :
मनस् ही प्रजापति, विषाता भगवान् : मनस् में से ही सब कुछ आविर्भानि ।

‘‘ किर लौटे दीर्घंतमस, बोले : नहीं जानता वपना सत्य :
मैं हूँ बन्धन-प्रस्त, भटक रहा अपने ही मनस् के अंदरों में :
कहाचित् वह आदि तत्व है कोई अजन्मा, एकमेव, अष्टपद, रहस्यित,
ऋषा, स्वनिमंर, अमर –

जो सदा रहेगा अगम्य अज्ञय रहस्य ही :
उसी एक अगम, अज्ञय, अनिर्वच को
कई सद्विष्णु बहुधा कहते हैं :
मूल में वह है अमर्त्य, तूल में वही है मर्त्य :
मर्त्य-अमर्त्य दोनों ही हैं सहयोगि, सहजात :
मूल में वही है अक्षिय, प्रकट में वही है सक्षिय :
एक विश्व-कृश पर दो पंची : एक फल स्वाता है, दूसरा नहीं स्वाता,
केवल करता है चिन्तन चुपचाप :
आदि वही तो हैं मैं आप . . . !

‘‘ हिरण्यगर्भ हुए भाषाकुल : अपने से परे वह कौन,
जिसे जानकर जानूँ मैं अपने को ?

मेरा बाधार कौन ? मेरा सूजनहार कौन ?
प्रजापति से परे कौन ? : ‘कस्मै देवाय हविष्या विषेभ् ?’ :
‘‘ जल से कृष्णा, ऊर्मा से अग्नि, अग्नि से सूर्य, सूर्य से अग्नि :
दक्षा से अदिति, अदिति से दक्षा, अदिति से आदित्य –
सुवर्ण-बीज, अग्निगर्भ, हिरण्यगर्भ,, सुपर्ण-बीज !
‘‘ किन्तु इससे भी परे कौन तुम ? . . . कस्मै देवाय ?
‘‘ हाय रे चित को नहीं चेन, नहीं समाधान ! . . .

‘‘ तब आये विश्वकर्मा : उनकी दृष्टि शिल्प-चेतस् थी :
पृथ्वा उन्होने : किस बृह-वन में से यह विश्व
हुआ है विलिप्त, आकृत, मूर्तिमान ?

बोले कि मूळ कोन डेवर है, वही है प्रथम और अन्तिम;
वही है आदि मत्ता, वही है अस्ति; वही आदि वक्ष-वन :

यह साम विद्यु उसका पत्तयन :

वही एक-एव, वही अज, वही शक्ति-मनसु,
वही सर्वक, विसर्वक सर्वच्च सत्ता,
वही संजक, सूचक, व्याख्याता, परिवर्ता :
उसका यह नामा स्वपात्मक सृजन ही उसका आवरण :
माया का आल-जाल !

हृदय के गहन में लोन होकर, सर्व में करो एकात्म-बोध :
करो उस परमनम एकत्व का माक्षत्कार !

‘‘प्रझन नहीं हो सका समाप्ति। और आगे बढ़ा—
‘‘मैं कौन ? ‘‘वह कौन ? माना यह विश्वतत्व है भय,
पर इसका जाता-यह मैं कौन ?
इसके ओर मेरे दीन यह कौनी अनन्त विरह-शक्ति का प्रसार ?
अज्ञान, अज्ञेय, अनादि, अनन्त कह कर,
हाय, नहीं रे मेरे प्राणों के प्राण की वेदना से निरलार !
‘‘यज की वेदी पर धूप से बंधा मैं शुन शेष,
हाय, मैं आकृद कर पुकार रहा :
‘‘अरे कौन है देवो मैं ऐसा सामर्थ्यवान,
जो उस गोचर अनुभव, फिर मी अनन्त

अदिति माँ की भोद में सौटा दे मुझे,
जिससे मैं जन्मा हूँ : जो मेरा उद्गम सी, विस्तार भी;
जो मेरा अनन्त भी, सान्त भी :

ओ माँ अदिति, तुम्हें कही खोज़ मैं ?

‘‘नचिकेतम्, अमर द्वए तुम इह्य-परिनिवर्ण में ?
पता नहीं, मृत्यु से पार किसने देखा है तुम्हारा अमर-लोक ?
याज्ञवल्क्य को गार्गी नहीं, मैथियो अभीष्ट है। पर क्या वे उस पर रुक सके ?
‘‘मैथियो तुम कहाँ चली गयी ? मेरो एकमेव पित्रा !
कहाँ हो तुम, ओ अदिति, आत्म-रूपा, अनन्त-हृषा ?
‘‘तुम नहीं, तो मैं नहीं !

तुम्हें देखे बिना जाने बिना, आपने को जानना सम्भव नहीं,
और अपने को न पहचान, तो जीना सम्भव नहीं !

कौन जिये ? क्या जिये ? कहा जिये . . .
हाय, कैसे जिया जाये ?'

कविता समाप्त करते-करते, मैंने देखा, सोमेश्वर का सारा चेहरा, जैसे पारदर्श
अग्नि हो गया था । उस अग्नि में, लेकिन, बहुत गहरे कहीं, एक नीली, शीतल,
उमिल नदी थी । अपने भर हम पारश्वर एक-दूसरे को आग-पार देखने को
उत्साहित, चुप हो रहे ।

'सोमेश्वर, ऊपर से नीचे तक कवि हो । मैंने उग्रनभ् को देखा : मैंने उद्गीर्ण
को साक्षात् किया । अधिमर्ण से नचिकेतस् तक, ज्ञान की एक अनुष्ठित धारा को
प्रवाहित देखा । प्रश्नों और उत्तरों की एक अस्तहीन सरंग-माला । सृष्टि की आदि-
कालीन महावेदना में से प्रसूत वेद और उग्निष्ठद् के सूर्य-मुलणों को देखा । और
तुम भी उनमें से एक हो, पित्र ! तुम्हारी वेदना को समझ रहा हूँ । . . .'

'क्या उपाय है बद्धमान, जो है, वही तो रचा है । मैं नहीं रुक सका, महान्
याज्ञवल्य और नचिकेतस् पर भी । लेकिन आगे, पता नहीं . . . ?'

'हा, हा, ठीक है । क्यों रुका कहीं भी, जब तब समाधान अपना अन्यन्त निजी
न पा जाओ । व्यक्ति के होने का यही तो प्रयोगन है । सो अनुत्तर ज्ञान के
जिकायु का प्रश्न अन्यन्त निजी होशा ही । निजता बहुत महत्वपूर्ण है । उसी से
तो कवि हो तुम ।'

'चैन नहीं है, मान ! प्रश्न इतना तीखा हो उठा है, कि आपनी इमत्ता हाथ से
निकली जा रही है । एकोएक देह गायब होनी-सी लगती है । और भयभीत हो
जाता है ।'

'समझ रहा हूँ, सोम ! मूल्य की अनुभूति । यानी फिर गर्भ में लौटने की कामना ।
अच्छा यह बसाओ, आगे माँ की तुम्हें याद है ?'

'माँ को मैंने नहीं देखा । एक विचित्र स्थान जैसी रसूति है : एक सौन्दर्य की
नीला आमा-सी कहीं देखी है । तन्वंगी । और हमारे बुटीर के सामने मैं वहती
मुफ्ती नदी के प्रवाह पर कहीं, एक ऐसे वगना तागमी को दूर-दूर जाने देख
रहा हूँ । . . . वह ओझल हो गयी : मैं तट पर झकेला छुट गया हूँ । . . . पिता
इतने अन्तर्मुख थे, कि उनमें मेरा बालक कोई उत्तर कभी न पा सका । मैं
दो बरस का था, मुश्किल से . . .'

'समझ रहा हूँ सोम, कहा है तुम्हारी ग्रन्थि ! प्रजापाति पारमेण्ड्रन् की आदि भाता
अद्वितीय की तुमने ठीक पकड़ा है । वह अनन्त थी, भवं का उत्तम थी । लेकिन पृथ्वी
पार के आकाश और अन्तरिक्ष के दिनिज से परिवर्तित थी, वहाँ के लिए ।

द्यावा और पृथ्वी की मिलन-रेखा थी वह : देखों की आदि जनेत्री । सुन्दर है, सुखद है । पर गृह्णता हैं, उससे भी परे जाने में भय क्यों है ? एक और अद्वितीय । एक और । तब एक अनुत्तरा अद्वितीय । जहाँ फिर तुम स्वयम् ही हो, अपने लिए पर्याप्त । द्वितीय कोई अनावश्यक ।'

'लेकिन मैं कवि हूँ, मान ? सृष्टि से विराम या पलायन भेरा अभीष्ट नहीं । लोक से परे और अलग, कोई लोकोत्तर आत्म भूमि निःसार दीखता है । कल्पना मात्र ।'

'ठीक कहते हो । ऐसा कुछ लोकोत्तर है भी नहीं । क्योंकि जो सत् है, अस्ति है, वह लोकाकाश से परे कही नहीं । और आत्म यदि सत् है, तो वह लोकातीत कैसे हो सकता है ? पर अपने आप में वह निर्णय और अनन्त हो सकता है । एक शुद्ध और स्वतंत्र द्रव्य हो सकता है । एक सबं से अनिर्भर, स्वाधीन किया । । । नहीं तो अद्वितीय है ।'

'पर तुम पूछ रहे थे, मान, और भी परे जाने में भय क्यों है ? भय यों है, कि अबबोधन से परे, कोई अनन्त शून्य-कुछ नहीं : वह तो असह्य है । मैं अनन्त शून्य नहीं, अनन्त जीवन चाहता हूँ । समझ रहे हो न मेरी वेदना ?'

'चूद समझ रहा हूँ, सोम ! पर शुद्ध आत्म तत्त्व, कोई अपदार्थ शून्य नहीं । एक नितान्त द्रव्य, पदार्थ, सर्वेष मना है वह । वह एकदम श्राहा, भौम्य, स्वात्म है । एकदम तुम्हारी अपनी, तुम्हारे हाथ की वस्तु । गाढ़तम आनिंदित में आबद्ध प्रिया से भी अधिक सत्य, अविच्छेद्य, अविष्टुक्त, एकदम तुम्हारी, केवल तुम्हारी । अनन्त जीवन चाहते हीं न, तो उसके नित्य भौक्ता, जाता, द्रष्टा होने को स्वयम् अनन्त होता चाहोगे कि नहीं ?'

'सान्त से परे, अद्वितीय से परे का कोई अनन्त नहीं !'

'तुम्हारी आत्मा ही वह अद्वितीय है, सोम ! मान्त और अनन्त दोनों है वह, तुम्हारी चाह के अनुसार । काम तुम्हारा प्रकाश और आत्मवास हो, तो मां प्रिया, जिस रूप में चाहो, अद्वितीय तुम्हें सुलभ है । कभी वही तुम्हें अपने अनन्त गर्भ से जन्म देकर भान्त में लाती है । कभी वही मान्त प्रिया का आनिंदित बन, तुम्हें फिर अपने अनन्त गर्भ में मृक्त बार देती है । अनन्त और मान्त एक ही द्रव्य वस्तु के दो भाव हैं, दो परिणामन हैं । ऐसे अनन्त भाव एक साथ सम्भव हैं, आत्मा में और वस्तु में । वह सान्त भी है, अनन्त भी है । वह अनेकान्त है, सोम ! अनेक-स्वप्न है अनेक-भाविनी है । सो वह अनन्तिरी है । और जो अनन्त-संभव है, वह सान्त भी होने से कैसे इन्कार कर सकती है । एक खार परिश्रेष्ठ में, वह तद-रूप हमें सुलभ होती है । ऐसी मुलभला जहाँ है, वही भय कैसा, विरह कैसा ?'

'उद्देश्य हुआ, महार्वीर ! तुम अर्जीव हो । इतने खुले और मुक्त हो, कि कहीं कोई शब्द या भाव का घेरा तुम पर नहीं । जब जो जी चाहता है मेरा, वही तुम हो जाते हो मेरे लिए । मेरे हर प्रश्न के मनचाहे उत्तर तुम, अद्वितीय । तुम्हारी बातों से, वही सुरक्षा और ज़म्मा महसूस हो रही है ।'

'तो मेरा हीना कृतार्थ, सोम ! लेकिन माँ को जो तुमने नहीं देखा, नहीं पाया, वह बहुत महत्वपूर्ण है । सहायक है । तूलगत उस वियोग में से, मूलमत योग सम्भव है । यह विरहानुभूति, हर किसी छाटे छोर पर तुम्हें अटकने नहीं देगी । अनन्त हो कर ही चैन पाओगे ।'

'क्या सोचते हो वद्धेसान, याज्ञवल्क्य रामाधिष्ठ हुए, सम्पूर्ण हुए ?'

'निश्चय । योगीश्वर थे याज्ञवल्क्य । आगम-धारा से आमणी उत्तरकृ तक सारे ऋषि, मनीषी थे, चिन्तक थे, द्रष्टा थे । याज्ञवल्क्य साक्षात्कारी योगी थे । इसी से वे किसी एकान्त पर नहीं अटके । वे अनेकान्त-पुस्तक हैं । वेद और उपनिषद् के सारे ही ऋषियों का चिन्तन, उनके दर्शन में समन्वित हुआ । सब को पथा स्थान, सापेक्ष भाव से उन्होंने स्वीकारा ।'

'योग से तुम्हारा मनलब ... ?'

'विकल्पात्मक, क्रमिक चिन्तन नहीं । आत्म-ध्यान में एकाग्र, अविकल्प वस्तु-साक्षात्कार । गरुड चराचर वस्तु-जगत को उन्होंने अपने आत्म-ज्ञान के प्रकाश में, प्रत्यक्ष परिणमनशील देखा । वस्तु के अनन्त स्वरूप के साथ, वे देश-काल के ऐश से परे नद्वीप हो गये । देखना, सोचना समाप्त हो गया । जो है, वह प्रतिक्षण अनुभव्य, भोग्य, संवेद्य हो गया ।'

'उन्होंने एक नहीं, दो स्त्रियों के साथ विवाह किया, थोगी हो कर ! मौजी की उन्हें अंगक्षा थी, नहीं ?'

'वी और नहीं भी । उनकी पत्नियाँ उनके योग में साधक ही हुईं, बाधक नहीं । अल्यजा काल्यायनी उनकी भार्या हो रही । उनकी देह का भार उसने वहन किया । विज्ञा मेंवेदी उनकी आया हो रही, उनकी प्रज्ञा उसमें प्रकट हुई । शिल्पित और साकार हुईं । जो पूर्ण थोगी है, वह विधि-निवेद से बाधित नहीं । अपनी आत्मरिक आवश्यकतानुसार वह जो चाहे ले, जो चाहे न ले । वह स्वाधीन होता है, अपने नाम में भी, कामना में भी । क्योंकि वह अपना स्वामी होता है ।'

'तो क्या याज्ञवल्क्य जन्मना मांगी थे ?'

'निश्चय ! नहीं तो मैं सूर्यत्व को सिद्धि एक जन्म में सम्भव न होती । और जिसने जड़ गुरु-परम्परा तोड़ कर, सोधे सूर्य से गुरुकल यजुर्वेद विद्या प्राप्त की, वह तो जन्मजात थोगी था ही ।'

'तो फिर उनके जीवन में, बाहर से इन स्थिरों की अनिवार्यता समझ न सका।'

'अन्तः बाहर-भीतर जैसा कुछ ही ही नहीं। सत्ता के भीतर जो स्वतःस्फूर्ति परिणमन है, उसी का रूपात्मक परिणाम जीवन है। भीतर के उपादान से ही ये स्थिरों उनके जीवन में आयी थीं।'

'उपादान किसे कहते हो ?'

'भीतर की स्वतन्त्र चित्त-शक्ति। भीतर की अनन्त-सम्भावी आत्मशक्ति। स्वयंप्रज्ञ, स्वयं-प्रचेतनस् सत्ता। वही अन्तः निषण्यिक है।'

'यह तो कुछ ईश्वरी-शक्ति जैसा हुआ ?'

'शब्द पर मैं नहीं अटकता। भाविक जिसे ईश्वर कहने को चिन्हण है, तात्त्विक उसी को शुद्ध परम सत्ता कहता है।'

'तो तुम ईश्वर-कर्ता त्वं पर पहुँचे ?'

'हाँ, और नहीं भी।' कहीं कोई हम से अलग, वस्तु से अलग, कर्ता ईश्वर है, ऐसा नहीं। वस्तु मात्र के भीतर जो उसकी ज्ञाता, द्रष्टा, स्वयं-संचालिका, स्वधा, स्वयम्भू प्रजा है, वही ईश्वरी शक्ति है। सत्ता, उपादान, परिणमन, की जो शुद्ध क्रिया, वही ईश्वरी शक्ति। भक्त के भाव में वही भगवद्-तत्त्व है, ज्ञानी के ज्ञान में वही शुद्ध सत्-तत्त्व है।'

'तो कहना चाहते हो, विद्याज्ञवल्क्य के जीवन में ये स्थिरों उनकी कामना से न आई, उनकी अन्तःसत्ता या उपादान के निर्णय से आई ?'

'निश्चय। भीतर का नो आरम्भ है न, वही अपने रूपात्मक परिणमन में आत्म-काम होता है। कामना उनमें हुई नारी की। तो इस परिणमन के भीतर से ही। वह निरी लिप्सा नहीं, अभीप्सा थी, उच्चतर में सकान्त होने की।'

'तो इन स्थिरों को पाना, उनकी आत्म-परिष्पूर्ति में अनिवार्य था ?'

'हो सकता है। उनका जीवन हसका प्रमाण है। मार्ग का त्यागनी और जाया मैत्रेयी विधायिक शक्तियों के रूप में दीखती है। ये संम्यापक यानी द्वादी शक्तियाँ हैं। गार्गी प्रतिवादी शक्ति थी। उसके प्रतिवाद से वे और भी प्रबुद्ध और चैताम्य हुए। तब द्वादी और प्रतिवादी शक्तियों के संघात से, संवाद रिद्ध हुआ उनके जीवन में। वे समरम और प्रगत हुए।'

'प्रगत में भगवत् ?'

'पूर्णत्व वी दिशा में आगे बढ़े।'

'नारी का ल्याग करके, या उसे ले कर के !'

'अतिकान्त करके, जिसमें ल्याग और श्रहण का भेद नहीं । तब जो बाहर है, उसकी स्थिति बाहर अनिवार्य नहीं रहती, भीतर स्थिरत, आत्मगत हो जाती है ।'

'संन्यास के रामब वे मैत्रेयी को ल्याग तो गये ही ।'

'त्यग नहीं गये, आत्मसात् कर गये । बाहरी सम्बन्ध अनिवार्य न रहा । अहंकाम, आत्मकाम हो गया, आप्तकाम हो गया ।'

'समझा नहीं ।'

'याज्ञवल्क्य ने उस क्षण जो आत्म-निरुपण मैत्रेयी के समझ किया, उससे वह स्पष्ट है । प्रायगिक अवस्था में, जीवन में सौन्दर्य, प्रेम, दाम्पत्य, घर, सन्तान, स्वजन-बाध्य, देवी-देवता, समाज, राष्ट्र, परोपकार, विश्व-सेवा आदि में जो हमारा अनुराग है, वह अपने आत्म को लेकर है, उन वस्तुओं या व्यक्तियों को लेकर नहीं । उनमें हम अपने ही को प्रेम करते हैं । उन्होंने अनुभव में इस अहंकाम का भिन्नात्व साक्षात् होने लगता है । प्रत्यय होता है, कि प्रेम अन्ततः आत्मगत है, परंगत नहीं । हम सबमें अपने ही को प्रेम करते हैं, उनको नहीं । क्रमशः निष्ठान्त होकर, यही अहंकाम, शुद्ध आत्मकाम हो जाता है । यह अहम् ही सोहम् हो जाता है । अहंकार संवर्कित हो जाता है । समता, समता हो जाती है । स्वार्थ ही पराकोटि पर पहुँच कर परमार्थ हो जाता है । तब बाहर के सर्व में आसक्ति नहीं, स्वार्थ नहीं, परमार्थ भाव हो जाता है ।

'याज्ञवल्क्य की यह विशेषता रही, सोम, कि उन्होंने आत्मा के विकास-क्रम में, जीवन की हर चीज को, सम्बन्ध को विधायक स्वीकृति दी है । पथास्थान स्त्री-कारा है । विकास में आपां आप ही, आज का अहंकाम प्रेम, पथाक्रम शुद्ध आत्मकाम हो रहे गए । उन्होंने अहंगत आत्मकाम और सर्वगत आत्मकाम में, प्रकार-भेद नहीं देखा, केवल मुण्ड-भेद देखा है । विशेष या विसर्गात नहीं देखी । सामंजस्य, संरक्षि, सम्बाद देखा है । ल्याग और श्रहण, भोग और योग का उनके यहाँ महज समन्वय हुआ है । उनकी उपलब्धि सर्व-समावेशी, अविरोधी और विधायक है । इसी से मैं उनको पूण्योग्यि मानता हूँ । लोक और नोकोत्तर, प्रम और कर्म, स्व और पर के, सम्यक् गवर्णर और सम्बन्ध का उन्होंने माझारकार कर नियाथा । इसी से वे वीरीक्षवर थे । परापूर्वकाल में राजपूत भरत ऐसे ही एक पूर्ण शंगीक्षवर हो गये । उनकी योग्यिक स्थिति, स्वयम् परगवान ऋषभदेव से उच्चतर कक्षा की थी । स्वयम् लोर्यकर पिता कृष्ण ने भरत की इस महिमा को स्वीकारा था ।'

'समाधीत हुआ, वर्दमान ! लेकिन यह जो 'नेति-नेति' याज्ञवल्क्य ने कहा, तो इसमें नकार नहीं है क्या ?'

'नकार नहीं, यह पूर्ण स्वीकार का अनेकान्तिक रास्ता है, सीमा में से भूमा में जाने की एक सहज कुंजी है यह। पूर्ण अखण्ड तक पहुँचने के लिए, यह खण्ड अपूर्ण से निष्क्रमण का चौतक है। यही नहीं, यही नहीं, और भी है। इतना ही नहीं, इतना ही नहीं, और भी है। इति यही नहीं, इति यही नहीं, और भी है। अन्त यही नहीं, अन्त यही नहीं, और भी है। यानी इदम् से तदम् तक, सान्त से अनन्त तक, क्रमणः सम्बादी रूप से, महज पहुँचने की कुंजी है—यह याजावन्वय का नेति-नेति।'

'तुम किनना साक और आर-पार देखते हो, काश्यव ! अद्भूत ! अच्छा, यह जो तुम सत्ता कहते हो न, वह बहुत धुश्ली लगती है। परिभाषा उसकी सम्भव है क्या ?'

'अन्तिम सत्ता, सत्, अपरिभाषिय है, अनिर्वच है। वह अनेकान्त है, अनन्त है। अनन्त और अनेकान्त कथ्य नहीं। कथन भाव संपेक्ष ही ही सकता है।'

'तुमने कहा कि ईश्वर कर्त्तृत्व है भी, नहीं भी। क्या कोई एकमेवाऽद्वितीय, सर्वव्याप्त, अद्वैत परमह्य, कर्ता ईश्वर तुम्हें दीखता है कही ?'

'मैंने कहा न, भाविक उस परमार्थिक सत्ता को भगवान् कहता है, तात्त्विक उसी को केवल परम तत्त्व, परम सत्ता। यह केवल दृष्टि-भेद है। सत् अनेकान्त है, तो उसके ज्ञाता-द्वयाओं की दृष्टि में भेद हो ही सकता है। आत्मा, परमात्मा, विश्वात्मा, विश्व, वस्तु, में जो अभेद है देखते हैं, वह महासत्ता की अपेक्षा। जो भेद देखते हैं, वह अबान्तर सत्ता की अपेक्षा। भेद-अभेद, द्वैत-अद्वैत ये सब बौद्धिक ज्ञान से उपजी संजाए हैं। परम तत्त्व द्विगम्य नहीं, बोध-गम्य है, केवल्य गम्य है। भेद-विज्ञान बौद्धिक अपरा विद्या है। अभेदज्ञान आनुभूतिक परा विद्या है। वह पारमार्थिक सत्ता, भेद-अभेद, द्वैत-अद्वैत, भाव-विभाव, नित्य-अनित्य के सारे भेदज्ञान से परे है।'

'इसका कारण यह है, सोम, कि शुद्ध सत्ता अत्यन्त मुनम्य, प्रवाही, अनन्त परिणामी है। जो जिस रूप में उसे पाना चाहता है, उसी रूप में उसे वह उपलब्ध हो जाती है। क्योंकि वह अनेकान्त और अनन्त है। जिसने उसे ईश्वर रूप में पाने की अभीष्टा की, उसी रूप में उसने पूर्ण साक्षात्कार कराया। जिसने उसका शुद्ध अत्यं-प्राक्षात्कार या तत्त्व-साक्षात्कार पाना चाहा, उसको उसी रूप में वह उपलब्ध हुई। अब जो अकथ और अनन्त है, उस में असम्भव क्या है, और उसको लेकार दृष्टि विशेष का कोई भी मत या सम्प्रदाय बनेगा, तो वह मिथ्यादृष्टि ही हो सकता है। विरोधी आग्रह मात्र मिथ्यात्व है। सब के प्रति स्वीकारात्मक समर्पण, समर्पण ही एकमात्र सम्बूद्ध सम्पदशेन कहा जा सकता

है। सत्ता के परिणामन अनेक भावों में हैं। सो हरेक को वह स्व-भावानुसार भासती है। उसको लेकर जो अगड़े में पढ़े हैं, वे एकान्ती और अज्ञानी हैं।

'लेकिन बद्धमान, देख तो रहे हो, वैदिक अग्निहोत्रियों की भी कई शाखाएँ हैं। उपनिषद् के अहमानी ऋषियों के भी कई सम्प्रदाय हैं, शाखाएँ हैं। और तुम लोगों का कुल पाश्वर्णयायी है। उनका मिदान्त अलग है। वे अपने को जैन आवाक कहते हैं। उनके मुनि, ऋषि नहीं, श्रमण कहलाते हैं। सब में विवाद है, कियह है। तुम भी तो जैन ही हो न, बद्धमान ?'

'नहीं, मैं जैन नहीं, सोमेश्वर। जिन होना चाहता हूँ, तो जैन हो कर कैसे रह सकता हूँ ? अपने को जैन कहूँगा तो सम्प्रदायी, विवादी हो जाऊँगा। एकान्त-वादी हो जाऊँगा। और जो एकान्तवादी है, वह सम्प्रदायिकृष्टि कैसे हो सकता है। वह तो मिथ्यादृष्टि ही हो सकता है। मैं अनेकान्ती हूँ, सो जैन नहीं हो सकता, किसी परम्परा का सम्प्रदाय का अनुयायी नहीं हो सकता। मात्र आत्मदर्शी, आत्मानुयायी, स्वयम् आप हो सकता हूँ। जो जिन है, वही बह्य है। ऋषि प्रायः सत् और ऋत् का केवल जाता-ज्ञाता होता है : अमण में वही शुद्ध दर्शन-ज्ञान तपस्-युक्त होकर आचार बनता है। राजषि जैवलि, राजषि अजात-शनु, राजषि प्रतदेन में, द्राह्यण उत्तरोत्तर श्रमण भी होता गया। याज्वल्यम् में इनका उदात्त सर्वतोमुखी समन्वय प्रकट हुआ। नचिकेतस् में वह और भी उत्कान्त हुआ। महाश्रमण पाश्वर्णवाथ में सत्, ऋत् और तपस् की यह संयुति अपने चूडान्त उत्कर्ष दर पहुँची। '

'फिर तुम्हें अपने को उनका अनुयायी कहने में संकोच क्यों ?'

'मेरे मन हर अनुगमन, एक हृद के बाद मिथ्या दर्शन हो ही जाता है। अनुयायी एकान्तवादी हुए बिना रह नहीं सकता। शुद्ध सत्यार्थी, अनुयायी और स्त्विति-पोषक हो नहीं सकता। सत्य और मुक्ति के मार्ग की कोई पक्की सङ्क नहीं बन सकती। हर परम सत्य के खोजी को, अपने स्वभाव और स्वधर्म के अनुसार, एक कुंवारा जंगल चौर कर, अपनी मुक्ति का मार्ग स्वयम् पा लेना होता है। पाश्वर्णवाथ पर मैं समाप्त कैसे हो सकता हूँ ! मेरी खोज उनसे आये भी तो जा सकती है। सत्ता यदि अनन्त है, तो जीवन में, व्यक्ति में, उसकी सम्भावना भी तो अनन्त है। सो मैं जैन नहीं सोम, निरन्तर बद्धमान महावीर हूँ। स्वयम् आप हूँ।'

'साधु, साधु, मित्र ! तुम तो सचमुच अपने नाम के अनुरूप ही निरन्तर बद्धमान हो। तो तुम मानते हो, कि विकास-प्रगति जैसा कुछ है ?'

'सत्ता अनन्त है, और निरन्तर परिणामी है, तो विकास-प्रगति है ही। पर कह सीधी रेखा में नहीं, चक्रवर्ती है।'

'तो तुम आदि वैदिक ऋषियों से लगाकर, इन बतौमान के संजय बेसट्टी-पृथ आदि तथाकथित तीर्थकों तक कोई विकास की एक अटूट धारा देखते हो ... ?'

'निश्चय ही। वेद ही क्यों, जाने किस अनादिकाल से ज्ञान की एक अविच्छिन्न धारा चली आ रही है। और युगयुगान्तर में, देश-कालानुरूप विश्व और मानव की नित-नृत्य रचनाएँ हुई हैं। और जैसे इस क्षेय विश्व और हसके ज्ञान की एक सुभूत्यविस धारा है, वैसे ही इसके विभिन्न पृणीत परम ज्ञानियों की भी एक अटूट धारा है। ज्योतिर्धर्मों की एक जुड़ी हुई ज्ञानवल्पमान परम्परा है। बाद, प्रतिकाद और फिर सम्बाद के अनेकान्तिक चक्रवर्तीन में होकर, विकास-प्रगति की यह परम्परा अनन्त में गतिमान है। जोत से जोत जलती जा रही है, सोमेश्वर !'

'तो तुम नहीं मानते कि वैदिक और जैन, ब्राह्मण और थ्रमण की धाराएँ सर्वथा अलग, विशिष्ट और समानान्तर हैं ?'

'भेद यात्र अन्तर या अवान्तर धाराएँ हैं। भगवान्नारा केवल एक है। जैसे भगवान्नता केवल एक है। उसी के अनेकान्तिक रूप हैं, ये विभिन्न मत, सम्प्रदाय, धर्म, दर्शन। और वे धारा गहरी हैं या दीपे से दीर्घ, अहं भी एक मण्डल में आगो-पीछा देखने जैसा ही आमक है। ज्ञाना, क्षेय और ज्ञान का एक अन्तहीन चक्राकार परिणमन है, जो अनन्त आपामी है। उसमें पूर्वापर, आगे-पीछे और ऊपर-नीचे आंकना भी एक अपूर्ण दर्शन का अज्ञान ही कहा जा सकता है।'

'तुम तो ऐसे सभीचीन और समझ बोल रहे हो, काश्यप, कि अनुग्रहे भी अनेक प्रश्न उसमें उत्तरित हो जाते हैं। ऋग्वेद के आदि इष्टा अधर्मर्ण से आज तक के स्वतन्त्र विचारकों के बीच का तारतम्य, मेरे हित, खोलने का कष्ट करोगे, भाई !'

'तुम्हारी कविता में उसकी भावात्मक सामासिकता है तो। वही अभीष्ट है, और पर्याप्त भी।'

'लेकिन यह जो चक्रवर्ती विकास की बात कही न तुमने। उस शृंखला की कहियो थार रपष्ट करो तो ... !'

'द्विंशी सोम, आदि और अन्त, न त्रुद्धि से बनता है, न बोध से वह ग्राह्य है। अनादि और अनन्त स्वीकारने में ही समाधान है। ऋग्वेद के ऋषियों की ठीक पिछली जातीय मृद्गि जलाप्लावन की है। सो आपनी प्रत्यभिज्ञा में वे लीट कार, आदि में जल ही देख पाते हैं। ऋग्वेद काल की चेतना सामुदायिक है, और धर्मसुख भी, सो उसकी वाणी भी वैयक्तिक नहीं, सामृहिक है। अधर्मर्ण, प्रजापति परमेष्ठिन्, ब्रह्मनस्थिति, हिरण्यगर्भ, विश्वकर्मा-ये व्यक्ति नहीं, प्रतीक पुरुष हैं। कई अज्ञात नाम ऋषियों ने मिलकर उद्गीय रचे, और इन प्रतीक पुरुषों के मुह

में रख दिये। उनमें अपने नाम का समर्पण नहीं, केवल समर्पण गान का उल्लास था। ये आदि मन्त्र-देष्टा कवि थे। अनन्त विराट् प्रकृति के विविध सौभयों से भावित ही कर इन्होंने अपने उद्गीयों में एक समग्रात्मक बोध व्यक्त किया। मह प्राण-नुश्चय का उद्गायन है। कमशः इनमें प्राण से मनस् की ओर विकास दीखता है।

'अधमर्ण' को आरम्भ में, केवल एक अज्ञात घटाटोप तमस में से, जल का आविभाव होता दीखा। जल के विविध वस्तु-रूपों में प्राकृत्य का कारण खोजते, वे काल-बोध तक पहुँचे : सम्बद्धसर, कृतु, मास। वैविध्य और परिवर्तन के कारण की खोज में, वे तपस् पर पहुँचे। यों जल में से अग्नि, और अग्नि में से गूर्ज तक आये। सम्बद्धसर पर पहुँचे तो उन्हें लगा कि उसी से यथाक्रम-सूर्य, चन्द्रमा, द्यावा, पृथ्वी, आकाश, प्रकाश आविभूत हुए। दिन-रात हुए। उस काल पुरुष में से ही जीवन और मृत्यु भी आये। इस तरह काल तक पहुँच, उनके हाथ कृत् भी लगा। अर्थात् उन्हें विश्व-प्राकृत्य में कोई निश्चित् अधिनियम और क्रम भी काम करने दीखा।

'प्रजापति परमेष्ठिन्' की जिज्ञासा ने आगे बढ़ कर प्रश्न उठाया कि—सत्, सत् में से आया है कि असत् में से ? सत्ता के पूर्व शायद कुछ न रहा हो, शुभ्य ही रहा हो। वे चक्कर खाकर यही आये कि आदि में न सत् था, न असत्, न अस्ति। 'बस, जाने कहाँ से 'गहनस् मंभीरम्' जल उमड़ता दीखता है। है न यह कृदि निरा कवि, सोम ? केवल एक प्रत्यक्ष बोध से भावित। इस जल में ही स्वतः स्फूर्त काम उत्पन्न हुआ। ऐस अकारण आदिम ईहा में से ही उनके हाथ मनस् आया। और इस मनस् में से उन्हें आद्य चैतन्य झांकता दीखा। सो आदि कारण में इस प्रकार चैतन्य की परिकल्पना विकसती दीखती है।'

'ब्रह्मनस्पति ने इस आदि ईहा या काम को अनन्त देखा, सो उसके कवि ने उसे अदिति कहा : आद्य माँ। देख रहे हो न, भटकते पुरुष ने किसी अलक्ष्य माँ में शरण खोजी। यहीं कहीं, निरी प्रकृत ईहा या काम, प्रेम की उदात्त माय-चेतना में विकृमित होता दीखता है।' 'फिर अदिति में से दक्षा जन्मी : दक्षा में से अदिति जन्मी ; देखा न, उद्गम और विकास सपाट रेखा में हाथ नहीं आते ; चक्रकार परिणमन में परिभाषित होते हैं। ब्रह्मनस्पति ने अदिति यानी अनन्त को पृथ्वी से पार के आकाश में अवश्य देखा ; भगव दिवा, शितिज और काल में बढ़ देखा। प्रत्यक्ष ऐनिक अनुभव से परेछस आद्य अनन्तनी को उन्होंने अमर, अविनाशी कहा। अमरत्व की प्यास जागी। और उसे विश्वाधार मान कर, जीवन गन्तव्य में भी उन्हें अमृत दीखा।'

'आगे दीर्घतमस् अन्ततः किसी एकमेव, अखण्ड, सम्पूर्ण, स्वाधारित, स्वनिर्भर तत्त्व तक पहुँचे। जो अक्षय भावित का खोत है, अनन्त, अमर, अदिनाशी है।'

तमाम वस्तुएँ इसी एकमेव में से निष्पन्न, परस्परापेक्षी, स्वधा, सद-संबलित हैं। अपने में स्वधा और स्ववर्गम् हो कर भी, वे उस परम एक में से ही उद्भूत हैं। देख रहे हो न, अमेद महासत्ता और भेदात्मक अवान्तर सत्ता तक ये पहुँच गये। यानी अनेकान्त इनके किन्तन् में स्पष्ट जालकता है। ब्रह्मनस्पति ने स्पष्ट कहा : 'एकम् सद् विश्वा बहुधा बदन्ति'। फिर 'अमत्यो मत्येन सहयोनि' कह कर इन्होंने सत्ता की द्व्याधिक अनश्वरता और पर्यायिक तश्वरता को भी ठीक पकड़ लिया। अगे बढ़ने पर हिरण्यगर्भ भगवत्ता से भावित दीखते हैं। किस परात्पर, परमतम को पूजें ? 'कस्मै देवाय हविष्या विषेम् ?' प्रजापति की भौतिक देवमूर्ति काफी नहीं दीखी। उससे परे, पराभौतिक परमात्मा की ओर खोज बढ़ रही है। लेकिन विश्व-कर्मा फिर चक्र में लौट कर, मूर्त जगत के उद्गम में, मूर्त आद्यार खोजते हैं। किस कृक्ष-वन में से विश्व आकृत है ? और फिर नीचे को अपने में समेट कर ऊपर की ओर लौट कर, सर्वव्यापी, सर्वाणितभान, सर्वज्ञ, एकमेव ईश्वर पर पहुँचते हैं। वह अदृश्य है, इन्द्रियातीत है। बीच का जगत, उन्होंने से उत्पन्न जगत, उनके हमारे बीच माया का आवरण है। जगदीश्वर जगत-स्वरूप भी है, उससे अतीत भी। देखा न, सत्ता अनेकान्तिक ही हाथ आई यही भी। हैत भी, अहैत भी। नित्य भी, अनित्य भी। मूल द्व्य भी, अमत्य भी, पर्याय में मर्त्य भी।

'सोमिष्वर, इसी विन्दु पर मानव का दर्शन-ज्ञान अन्तर्मुख हो गया : पराभौतिक आध्यात्म का सूत्रपात छुआ। यह वैदिक युग का अन्तिम चरण है। इसके ठीक बाद एक संक्रान्तिकाल आता है। ब्राह्मणों की वर्ण-व्यवस्था भंग हो गई। विकिष्ट कुलों में रक्त-मिश्रण हुआ। एक प्रचण्ड प्रतिकादी शक्ति यहीं सक्रिय दीखती है। जिस में से महाकान्ति होती है। एक और रक्तशुद्धि, वर्णशुद्धि के आग्रही ब्राह्मण प्रतिगामी ही कर, सत्ता और लालसा से प्रमत्त हुए। पुरोहितों ने वेदों पर क्राह्मण रक्त कर अपने स्वार्थी के पोषक कर्मकाण्डी यज्ञों के विधान किये। यह ब्राह्मणत्व के पतन और अदाजकता का युग है। इसके संघरण में से ज्ञान की प्रगतिशील विद्वोही प्रतिकादी शक्तियाँ उदय में आयीं। प्रबुद्ध ऋषियों ने रक्त-शुद्धी की मिथ्या मर्यादाएँ कांपाइ कर तोड़ दीं। चाण्डाल, शूद्र और दासी स्त्रियों में भी उन्होंने सन्तानें उत्पन्न कीं। ये संकर सन्तानें मौलिक ज्ञान के पूरन्धर सूर्यों की तरह उदय हुईं। आत्म-ज्ञान की एकाग्र जिज्ञासा के फलस्वरूप, मनुष्य का विकास, सामुदायिक से वैयक्तिक चेतना-स्तर पर संकाल्प हुआ। इस वेदोत्तर आध्यात्मिक चेतना का आदि पुरस्कर्ता हुआ महीदास ऐतरेय। ब्राह्मण ऋषि की सर्वर्णी से इतर, यानी 'इतर' शूद्र पत्नी की कोंख से जन्मा यह पुत्र, सर्वर्णी पत्नियों से जन्मे शूद्र ब्राह्मण-पुत्रों के समय, पिता द्वारा उपेष्ठित, अपमानित हुआ। इसी धायल आत्माभिमान के जब्त में से आगामी उपनिषद् युग के अपराजेय आदित्य की तरह उदय हुआ महीदास ऐतरेय।' मैं कौन

‘इन्होंने ही का सुनीही एवं अधिक इन ईसी ने उठाया। ब्रह्मज्ञान का आदि जनक यही शूद्र-नक्षत्रा इतरा का पुत्र महीदास ऐतरेय था। इसके अनुसरण में सत्यकाम जाचालि आते दिखायी पड़ते हैं। उनकी माँ जाचाला को नहीं पता था कि किस ऋषि ने उसके गर्भ में सत्यकाम को जन्म दिया। पहली बार एक आर्य-पुत्र, माँ के नामन्योग से प्रसिद्ध हुआ। अज्ञात-पितृजात, ईश जारज मनु-युध ने उपनिषद्-युग में विकास का एक और संशक्त चरण भरा।’

‘और सोमेश्वर, इसी सन्धि-मुहूर्त में सत्ता-प्रमत्त, वासना-प्रमत्त, लालसा-लम्पट छापट ब्राह्मणत्व से टक्कर से बार, आयी की प्रबण्ड नदोन्मेषी प्रकाश्यारा को उत्तरोत्तर आगे ले जाने को, योद्धा क्षत्रिय राजा और राजपुत्र, एक हाथ में शस्त्र और दूसरे में शास्त्र लेकर, वाधुनिक भारतीय पुनरुत्थान का नेतृत्व करने लगे। इन्होंने अपने बाहुबल को आत्म-बल में परिणत कर दिया। अपनी लोहे की तलवार की अपने तपतेज में गला कर, उसमें से इन्होंने ज्ञानतेज की तयी और अभोध तलवार ढाली। सुन रहे हो, सोमेश्वर, प्रकारान्तर से तुम इन्हीं ब्रह्म-तेजस्वी क्षमियों के वंशधर हो।’

‘इस धारा में पांचाल के अद्यीश्वर राज्यि प्रब्रह्म जैवलि ने सर्वप्रथम, निरे द्वाष्टा ब्राह्मणों के लक्षणान को, आचार और पुरुषार्थ की कस्ती पर उतारा। पंचामि-सिद्धान्त रच कर, इन्होंने अभ्यन्तर-पाश्वर के आगामी चतुर्वर्षी भौंवर की नींव डाली, और परापूर्व के तीर्थकर ऋषभदेव के महाव्रती धर्म का अनजाने हुी पुनरुत्थान किया। देख रहे हो न, सत्ता की चक्रवर्ती विकास-धारा।’

‘आगे फिर ब्राह्मण ऋषि गग्यायन ने इसी जमीन पर, लट्टुरपंथी ईदिक ब्राह्मणों के कर्मकाण्डों और कामलिप्सु यज्ञों का विरोध किया। कहा कि लक्ष्य, भेदाभेद से परे निरुपाधिक शुद्ध ब्रह्म का साक्षात्कार करना है। इन्होंने सौपाधिक और निरुपाधिक, दो ब्रह्म-स्वरूपों का निरूपण कर, भौतिक और आत्मिक, अगत और जगदीश्वर में सम्बाद स्थापित किया।’

‘इसके अनन्तर आये एक और क्षत्रिय योद्धा, काशीराज विवोदास के पुत्र राज्यि प्रतदेन। उन्होंने भी ईदिक और पारस्लौकिक कामना प्रेरित ब्रह्म यज्ञों का प्रबण्ड विरोध कर, आन्तरिक अमिन्होत्र का तपत्त्वर्या-मार्ग प्रशस्त किया। वे बोले कि : उत्तरोत्तर अपनी ही ईदिक, ईद्रिक, प्राणिक, मानसिक सत्ताओं की, अपनी आन्तरिक ज्ञानाग्नि में आहुति दें कर, हमें परात्पर ब्रह्म तक पहुँचना होगा। उसे मात्र ज्ञान तक सीमित न रख कर, जीवन में और आचार में अवलरित करना होगा।’

'इसके अनन्तर उदालक आरुणी और उनके गुव श्वेतबेन्दु, इन तपःपूत राजिणीयों में, जीवन्त ब्रह्म-विद्या प्राप्त कर महान श्रुतिषि हुए। छान्दोग्य-उपनिषद् में उन्होंने एक अखण्ड प्रवाही सत्ता के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की। नाना पदार्थों की स्वसम्बन्ध गुणात्मक सत्ता होते हुए भी, इस विद्याद् विश्व-सत्त्व में वे समष्टि रूप में अखण्ड प्रवाहित हैं। देख रहे हो, सोमेश्वर, अमैकान्तो दृष्टि फिर प्रकाशित हुई। महासत्ता, विश्व प्रदाह में अभेद, अखण्ड प्रवहमान है। पर अबान्तर रूप में हर पदार्थ की अपनी गुणात्मक अस्तित्व भी है ही। यसनी द्वैत भी, अहैत भी। देख रहे हो न, ऐनैकान्तिक चक्रावर्ती विकास-अम। तुनशावर्तन, प्रलयावर्तन, और तब उत्कान्त परावर्तन। . . .

'फिर पांचाल के ब्राह्मण-पुत्र बालाकि को, विदेह के राजवंशी राजपि अजात-शशु ने, सत्ता के भीतिक, दैहिक, प्राणिक, तेंद्रिक, मानसिक, सारे चेतना-स्तरों को अतिक्रमत कर अपनी वहाँतर हजार नाड़ियों के भीतर पर्यंवसान पा कर, अन्ततः सुषुम्ना की राह सहजार में परब्रह्म के साथ तदाकादिता उपलब्ध करने की एक वैआनिक, क्रियायोगी विद्या प्रदान की। यहाँ से योग का सूत्रपात्र हुआ। योग ढारा ही ब्रह्म को अधिवन-मुक्ति और परा मुक्ति में उपलब्ध करने की विद्या को सिद्ध होना था। . . .

'योगीश्वर याज्वल्यम् में आकर वह पूर्णयोग सिद्ध हुआ। अपने मामा-गुरु से प्राप्त, रुक्षि और जड़ कर्मकाण्ड प्रधान कृष्ण यजुर्वेद-विद्या का त्याग कर, दुर्दर्श तपस्या ढारा इस महाब्राह्मण ने सीधे सूर्य से शूवल यजुर्वेद-विद्या प्राप्त की। फिर कैसे उसके ढारा इस महायोगी ने परात्पर कैवल्य-विद्या और बोधि-मूलक ब्रह्मयोग को अपने जीवन में उपलब्ध किया, चरितार्थे किया: कैसे उसके मर्वार्गिण, संक्षेत्रोमुखी योग में परापूर्व से तत्त्वाल तक की सारी मानवीय ज्ञान की उपलब्धियाँ समर्पित और सम्वादी हुईं, वह मैं तुम्हें बता ही चुका हूँ। . . .

'इन्हीं की परम्परा में मांडूक्य और मिष्पलाद भी सिद्ध योगी हुए। उन्होंने ब्रह्मलाभ के सक्रिय योग की गोपन कृजियाँ मांडूक्य और कठोपनिषद् में प्रदान की। . . .

'काशी के राजपुत तीर्थकर पाञ्चनाथ के रूप में, फिर इसी परम्परा में एक और महामूर्य राजपि उठा। उसने दिग्म्बर अवधूत हो कर, सम्मेद शिखर एवं तक के नूडान्त पर, घनधोर कायोत्सर्ग की तपोसाधना की। फलतः त्रिलोक और श्रिकालवर्ती निखिल पदार्थ-जगत के, एक-एक अणु-परमाणु का अनुत्तर साक्षात्कार

करने वाली केवलज्ञान-विद्या उन्होंने उपलब्ध की । पार्षद के आगे अभी ज्ञान नहीं जा सका है, सोमेश्वर । । ।

'इस बीच फिर एक विच्छेद और मुयस्ति का अन्तराल देख रहा है, सोमेश्वर ! अत्रिय और ब्राह्मण दोनों ही ब्रह्म-विद्या की उस नेजोमान परम्परा से विच्छुत दीख रहे हैं । ब्राह्मण पतन की पराकाण्डा पर पहुँच कर, हिसक पशुमेष्य यज्ञों द्वारा, कापुरुष और हततेज सिंहासनधरों को ऐहिक धन-सत्ता और पारलौकिक स्वर्ण-प्राप्ति का आश्वासन देने के लिए, घनघोर कर्मकाण्डों में डूब गये हैं । ब्राह्मण और अत्रिय परस्पर एक-दूसरे के स्थिति-प्रोष्टक होकर अधिकाधिक पतन के महागति में गिरते जा रहे हैं । इस बीच वैश्यों ने अपने दुर्दृष्ट वाणिज्य के पुरुषार्थ से, अस्तित्व के आधारभूत सुवर्ण-सम्पदा के क्षेत्र पर पूर्ण वर्चस्व जमा कर, इन ब्राह्मणों और अत्रियों को अपने हाथों का खिलौना बना लिया है । आज आर्यवित् का भास्य, शुद्ध सुवर्ण-जीवी वणिकों के हाथों में खेल रहा है, सोमेश्वर । 'हिरण्मयेण पात्रेण सत्यस्पापि हितंमुख' : 'अरे सत्य का मुख भी सुवर्ण के पात्र में ढैंग गया है ।' ब्रह्मतेज और क्षत्रियतेज एक बारगी ही बुझ गया है । । ।

। । । जानावसान की इस रात्रि में संजय बेलद्विपुष्प आदि तीर्थक् तपश्चर्यापूर्वक, फिर से आर्यवित् के उस अस्तंगत ज्ञान-सूर्य की खोज में झटक रहे हैं । ये सच्चे हैं, जिज्ञासु हैं, मुमुक्षु हैं, प्रखर और पराक्रमी हैं । दीर्घ तपस्या के पथचारी हैं । पर बीदिका चेतना से आगे इनकी गति नहीं । परब्राह्मी सत्ता के उपरिभानसिक ऊर्ध्व चेतनान्स्तरों की विद्या इन्हें सुलभ नहीं । सो ये बुद्धि के कुतर्की अस्त्र लिये, बंजर धरती में, कुजान की खेती कर रहे हैं । नड़ा ही पीड़क और कषण है यह दृश्य, सोमेश्वर ! आर्यवित् की इस अवसान-सन्ध्या के तट पर, मेरा मन बहुत उदास है : पर उदय भी कम नहीं । । ।

'वद्ममान, इम सन्ध्या में क्या किसी नई स्वर्ण उपा की आशा तुम नहीं देख पा रहे ?'

। । । मैं सहमा ही रुतध्य, अबाक्, अन्तर्लीन हो रहा । और फिर जैसे किसी परावाव् तृतीय पुरुष को अपने में से बोलते सुना :

'सोमेश्वर, नूतन युग का यज्ञपुरुष अवतीर्ण हो चुका है । उसमें संयुक्त रूप से ब्रह्मतेज और क्षत्रियतेज, आर्यवित् की धरती पर मूर्तिमान विचरण करेगा । उस कंचल्य सूर्य की प्रतीक्षा करो, सोमेश्वर !'

'वद्ममान । । । न् न् न् । । ।'

वह स्तब्ध, मुर्ध, एक अग्रवंते जोदमासित दृष्टि से मुझे एक टक देख रहा था। मैं प्रीति और प्रतीति की उस उचलन्त व्यधक दृष्टि को जैसे सह न पाया।

मैंने कहा :

'सोमेश्वर, कल फिर आ सकोगे, एक बार...' ?'

'तुम जो चाहोगे, वह होगा ही, मान ! निर्णय तुम्हारा है, मेरा नहीं !'

और चुपचाप हमने समानान्तर चलते हुए, छात पार की। मैं कब सोमेश्वर से बिदा हो लौट आया, पूरा ही न चल सका। . . .

* * *

आगले दिन सबैके

'आ गये, सोमेश्वर ? काल तुम व्यथित, फिर भी उद्दीप्त आये थे। कविला में अपनी व्यथा को बहा लाये थे न। . . पर शायद तुम्हें मुक्त न कर सका, व्यथित ही लौटा दिया। इसी से . . . !'

'व्यथित नहीं, समाधीत लौटा मैं, बद्धमान !'

'हाँ, विस्तार में गये हम, इतिहास में फैले हम। व्यष्टि और समष्टि के प्रबल संघात से गुज़रे हम। तो उसमें व्यष्टि की व्यथा का ध्यानिक उन्मोचन तो होता ही है। पर केन्द्र में जो कसक है न, वह और भी तीव्र नहीं हुई क्या ? . . कल रात साना विरह में हुआ, कि मिलन में . . . ?'

'बद्धमान, मेरी तहों के एार चले आ रहे हो तुम ! . . मैं लज्जित हूँ !'

'लज्जित क्यों होओ, सोम ? स्वभागवगत और सत्य है तुम्हारी व्यथा। वह गर्भजली और चिन्मती है। समष्टि में खोकर मृक्षि सम्भव नहीं। केन्द्र व्यष्टि में है। जहाँ मैं विश्व और इतिहास प्रबाहित है। व्यष्टि के केन्द्रस्थ और आत्मस्थ हुए चिना, समष्टि, विश्व और इतिहास के साथ उम्मका पूर्ण तादात्म्य सम्भव नहीं।'

'कसक अदि अदि भी बना है, मान, तो क्या उसी के लिए नहीं है ?'

'मौ तो है। पर कसका मैं कहीं अदिति का विरह है, उसकी याद दिला रहा है। . . .'

'बद्धमान ! ! खोनो मुझे मननाहा। बालो, क्या कहना चाहते हो ?'

'यह बताओ, सोम, लड़कियों से मिलते हो कि नहीं . . . ?'

साम किचित् लजा आया । चेहरे पर उसके रक्ताभा अलक उठी । वह चुप रहा, मैं उसे देखता रहा । वह बोला, कुछ लेखा-सा :

'लड़कियों की क्या कमी है, वर्दमान ! सब जगह बैह हैं, और सामने आसी ही हैं...' ।'

'देखता हूँ, उनसे बच रहे हो । किसी खास लड़की की खोज में हो क्या ?'

'मान...' ।'

'मतलब, किसी अदिति की खोज में ?'

'खोज कर क्या होगा, कहीं होगी तो आयेगी ही ।'

'वह तो जब आनी होगी, तब आ जायेगी । तब तक यों विमुख और बच कर चलोगे, तो उलझन बढ़ेगी और अदिति उसमें लुप्त हो रहेगी । ... तुम तो ढार बन्द करके बैठे दीखते हो !'

'वहाँचर्य के अतिरिक्त, मुझे मिलन कही दीखता नहीं, वर्दमान !'

'लेकिन सुम्हारी कविता में जो अदिति की पुकार है, उसे क्या कहोगे ?' ... स्त्री से तुम्हारा सरोकार मूलगामी है । ... तब भी तुम समझने हो कि स्त्री से मूँह फेर कर ही बहु में चर्चा संभव है ? स्त्री में इहा - देख देखो, तो उससे निस्तार काहूँ ?'

'इहा तो सचेत है, मान । पर उसमें चर्चा तो भीतर अन्तर्मुख रह कर ही सम्भव है न । बहिर्मुख होकर तो वासना-तृष्णा का अन्त नहीं दीखता मुझे । और उसमें प्राप्ति कही ... ?'

'अन्तर्मुख होकर, कोई विमुख कैसे रह सकता है ? जो उन्मुख नहीं, वह अन्तर्मुख नहीं, अधोमुख लगता है मुझे । शुतुरमुण्ड की तरह । स्त्री को सन्मुख लोगे, तो वह अनायास भीतर समा जायेगी, और रिक्त भरकर मुक्त कर देगी । जीवन की अभिव्यक्ति में 'वह एक' ही तो दो, और फिर बहु हुआ है । रिक्त और विरह, भीतर दिया गया है, कि जीवन उस व्यथा में से रस छीनकर वर्दमान हो । विरह जहाँ तीव्रतम है, वहीं पूर्णतम मिलन सम्भव है । ... नारी को सामने पाकर, शायद तुम भूल जाते हो कि 'वह एक' ही तो दो हुआ है : नर और नारी । तब इनमें से केवल एक यानी अद्वीत पर ही निशाह रख कर, उसकी जो उत्तरांशिनी बाहर चली आयी है जीवन की लोला के लिए, उसे अन्य या पर समझ कर उससे विमुख होओगे, तो अद्वण्ड और पूर्ण कैसे हो सकोगे ?

सम्बुद्ध होकर ही तो वह समूति समझता है। ब्रह्मचर्य और किसे कहते हैं? तुम अब्द्य हो, तो नारी उसकी चर्चा है, कहें कि ब्रह्मा की चर्चा उसी में हो कर समझव है। वह तुम्हारे ब्रह्मचर्य की भूमि और कसौटी एक साथ है। जब तक नारी तुम्हारी दृष्टि में अन्य है, द्वितीय पुरुष है, तब तक ब्रह्मचर्य नहीं, अब्रह्मचर्य ही बना रहता है। इसी से कहता है, जब तक उससे बचोगे, वह बाधा ही बनी रहेगी। तब एकमेव ब्रह्म में चर्चा जो भी मिलन के समझव होगी।

'बचता है, ऐसा तो नहीं लगता। जब तक नारी बाहर है, वह पर और दूर ही नहीं है क्या? और भीतर क्या उसे बाहर की शह लिया जा सकेगा? ऐसा हो, तो किस अब्रह्म भान्द किसे कहेंगे?'

'मुझो साम, उम अनन्य एक पर निगाह रहे, तो बाहर की नारी में अन्य और पर देखने की आत्मा ही पैदा न हो। वह आत्मा बनी हुई है, कि ब्रह्मचर्य भंग हुआ है। उन अपर और उत्तरांशिती देखो, ब्रह्मिणीती देखो, तो मिश्रमेव टूटेगा और मिलन अनायस होता रहेगा। मन्मुख होकर ही तो वह मिलन और समूति समझव है। विमुख रहकर, विरह और अन्तहीन बासना के सिवाय और क्या पाओगे?'

'... माँ का वह अनदेखा बेहरा मुझे भीतर छीचता है, मान! बाहर का हर स्त्री-मुख उस विरह को उभार देता है। ... और मैं भीतर के अंतर में जैसे माँ का ढोहता चला जाता हूँ। ...'

'बाहर के हर स्त्री-मुख से शंकित और भयभीत हो कर ही न? - कि नहीं, ... यह अन्य है, अनन्य मेरी नहीं। ... ठीक कहता हूँ न?'

'बद्मान, अन्योंकी तो तुम कभी भी कहते ही नहीं। मेरी गोपन से गोपन पीड़ा में, जैसे सहभागी हो तुम। ... आश्चर्य!'

'मुझो साम, एक लड़की से मिलोगे? बही है वह, अभी आती ही होगी। ... लो, वह चली तो आ रही है। ...'

गुलाबी उषा के रंग का उत्तरासंग धारण किये, नीली लहर-सी सहज बैठतेपी चली आ रही है।

'आओ कल्याणी, प्रत्याशित भी तुम। ठीक मुहूर्त-शण में आइ। ... इनसे मिलो, ये मेरे मित्र मोमेश्वर याशवल्की। आचूड़ कवि हैं। सो तो तुम देख ही रही हो, यह भाव-भूति। ब्राह्मण-ओजस्क और क्षत्रिय-रुजस्क हैं ये, कहो कि

शहृ-आत्रिय । लेकिन संकर तुम दोनों ही नहीं, मैं भी हूँ । ॥ हाँ, तो ये तक्ष-
शिला से सारी वेद-वेदाग किद्याओं में पारंगत होकर आये हैं । पर बड़ी बात यह
कि महाभाष-राज्य के स्वैर-विहारी कवि हैं सोमेश्वर !'

सोमेश्वर सहज लभ्जानत और्खों से, सत्स्वत वेदतेयी को देखते रहे ।
पर आदत के अनुभार आज और्खों नीची न कर सके ।

'और ये वैनतेयी चक्रपाणि हैं, सोमेश्वर । यूनानी माँ की यह जाया, भारत के
ब्रह्मतेज की बेटी है । पूर्व और पश्चिम की मूनीला मन्त्रि है वैनतेयी ! ॥ तुम्हारी
अद्विति इसके पास है । वह अनन्तिनी इसमें सान्त हुई है । जो आपार आकाशों
के भी पार है न, वह इसमें रूप घर कर आ भयी है, कवि के लिए, तन्द्यावर्त
में ॥ ॥ ॥

'और वैना, ये तुम्हारे कवि है । तुम स्वयम् कविला हो, दिति और अद्विति
एक साथ हो । ये तुम्हारे उभ संयुक्त अन्तःसौन्दर्य के गायक, कवि हैं ।'

'आद्र-ओष्ठ सोमेश्वर से मिल कर मैं आप्यायित हुई । अहोभाग्य मेरा !'

और वैना ने हाथ -जोड़, नतमाथ हो कर प्रणाम किया सोमेश्वर को ।

'तुम्हें प्रमद-कक्ष में बहुत अकेलापन लगता है न, वैना ? मेरे कवि-मित्र ने
कृपा की मुङ्ग पर । आ गये तुम्हारा साथ देने ।'

'नहीं, अब मुझे अकेलापन नहीं लगता, प्रभु !'

'पर सोमेश्वर को लगता है । और तुम्हें अब नहीं लगता, तो वह विद्वा मेरे
इस मित्र को भी सिखा देना । ॥ ॥ ॥

'और सोमिश्वर, जब चाहो निःभंकोच प्रमद-कक्ष में वैना के पास आ जाया
करो । अम्य भाव की शंका न रहे । अनन्य और आश्वस्त्र भाव से आओ ।
वैना अचूक है ।'

क्षण भर एक गहन शान्ति व्याप रही । ॥ ॥ ॥

'अच्छा तो, वैना, लिवा ले जाओ सोमेश्वर को । और दिवाप्री इन्हें अपने
अनेक ऐश्वर्य-कक्ष । मैं अब आज्ञा नहीं तुम लोगों गे ।'

कह कर मैं डढ़ खड़ा हुआ । सोमेश्वर कॉठगार्ड और अमेजम में था ।
बहुत भर आपा-भा दीखा कवि । मुझे छोड़ कर जाते में उसे आज मालो
कर्म हो रहा था । मैंने कहा :

सोम, फिर जल्दी ही आ गये। जब चाहो, आ जाना। समझे...! उधर देखो वातायन में। हिमवान का कोई गिर्वार जैसे नीलिया में उभर रहा है...!

'मोमिन्द्र किञ्चित् खोया-गा वातायन की ओर बढ़ गया। देना ने झुक कर, अंदर मेरे चरण-नट को तरन कर दिया। पद-नस्त्र को दूसरे मृदु ओठ छुहरा गये।

'देना, अनन्य रहो मेरे।'

'मैं भी हूँ ही, वह। लिश्चल रहो, और मेरे कवि-मित्र को मृश में अन्य न समझो। जानोगी।'

'मोमिन्द्र, वैततयी तुम्हारा प्रतीक्षा में है।'

मोमेन्द्र चंका और देना के साथ ही लिया। मैंने उच्छ्र भाय, नमकळा जाने देना। मन ही मन कहा मैंने:

'गलि, तुम्हारे कोइ से पेरा अपित्त रहें।'

जब पुकारोगी, आऊंगा

जब से नन्दिवतं महल के इस नवम खण्ड में आ जासा हूँ, माँ के दर्शन नहीं हुए। शायद वे मुझ से नाराज हों। उनका चाहा मैं न कर सका। मेरा दुर्भाग्य। आर्यवतं के राजकुलों की चुनित्वा सुन्दरियाँ वे मेरे लिए नाथीं, पर मैं उनमें से एक को भी न चुन सका। इस या उस बाका को चुनूँ, तो शेष की अवज्ञा होती ही। यह मेरे बाज का नहीं था : क्योंकि मैं उन सब को निःशेष ही ले सकता था। और कई दिन साथ रह कर, वह सुख उन्होंने मुझे दिया ही। मैं संपूर्णता हुआ। उन सब का कितना कुतश हूँ !

विशिष्ट का चुनाव जो मैं न कर पाया, यह मेरी ही मर्यादा रही। या कह नीजे अ-मर्यादा। उनमें तो कोई कमी थी नहीं। कमी मेरी ही रही कि मैं विवाह के धोग्य अपने को मिछ न कर सका। विवाह से परे वे मुझे पा यकीं या नहीं, तो वे जानें। मैं, ब्रेशक, उन सब को इतना समय पा गया, कि विवाह के द्वारा उस समूर्ण प्राप्ति को खंडित करने को जो न चाहा। और जब वे गयीं, तो निराश या लिफ्ल तो रंच भी नहीं दीखीं। लगा था, जैसे भरी-पूरी जा रही है। और मेरे घन में भी कहीं ऐसा बोध किचिन् भी नहीं है, कि वे खोट कर चली गयी हैं।

पर पता चला है, कि इन दिनों वैनतेयी की माल-सम्भाल में माँ स्वयम् ही लगी रहती है। मुझ पर से हट कर, उनका रागा जाइ-दुलार उस संकर दासी-पुत्री पर केन्द्रित हो गया है; क्योंकि वह शाश्वत कीमार्य-दती बाजा मेरे ब्रति समर्पित है। जान पड़ता है, जो मैं उन्हें न दे पाया, उसे बैना मेरे पा गया है। इससे बहुत राहत महसूस होती है।

आज सबैरे सहसा ही माँ द्वार मे बड़ी दिखायी पड़ीं। उनका यह अतिषिर रूप अपूर्व सुन्दर और प्रियंकर लगा। मैं देखता ही रह गया। ऐसा भूला उस रूप

में, कि अमर में विषय बारने तक का भान रहा। एकाग्र उन्हें निहार रहा था, कि सुनायी पड़ा :

'सुनता है मान, वैषाली में चन्दना आयी है। तेरी छोटी मौसी चन्दन !'

'बहुत अच्छा !'

'तुमसे मिलना चाहती है !'

'कौन मैं ?'

'कहा न, चन्दना !'

'ये कौन हैं, मैं ?'

'कहा म तेरी चन्दन मौसी !' कितनी ही बार तो तुझे उमके विषय में बताया है !'

'अच्छा-अच्छा ! ही ही ही ! तो ये कहीं से आयी हैं ?'

'तू तो कभी कोई बात पूरी सुनता नहीं। कहा न, वैषाली में आयी है !'

'बहुत अच्छा !'

'हर बात का एक ही उत्तर है नरे पास—बहुत अच्छा !'

'मो तो मत्र अच्छा है ही, मौ ! हे, कि नहीं ? अपल में आज तुम कितनी अच्छी लग रही हो, यही देख रहा था !'

धण भर एक सभर मौन हमारी परम्पर अबलोकनी अंगों के बीच छापा रहा। उसमें से उद्धरती-मी वे बोली :

'तो लिवा लाऊँ चन्दना को, यहीं तेरे पास ?'

'अ ! ही, वे आये। अनुभवि मे क्यों, अधिकार से आये। मुझे पराया समझती है ?—दूर मानती है क्या ?'

'घर तू किसका अपेना है, और किससे दूर नहीं है, यह तो आज तक कोई जान नहीं पाया !'

'बहुत अच्छा ! तुम्हारे मिथाय यह कौन जान सकता है, अमरा ? ! ही, ती आज दो मौ !'

'तो लिवा लाऊँ चन्दना को ?'

'अरे तुम क्यों कप्ट करोगी मौ ! बस, वही आ जाए !'

ओर मौ एक निशाह, मुझे ताक कर चली गयी।

‘हाँ, माँ मेरे सुनता रहा हूँ, मबसे छोटी बद्दन मौसी है, वैशाली में। कि स्वभाव में वे ठीक मौसी सगी बहन हैं। न किसी ने खास मेल-जोल, न बोल-चाल। बस, अपने में अकेनी, और बेपता रहती है। और यह भी कि मझे बहुत याद करती है। नहीं तो किसी को याद करना उनकी आदत में नहीं। अहोभाष्य मेरा !

‘अचानक ही कथा देखता हूँ कि हिमवान की ओर अगोचर चूँड़ा। जैसे चन्द्रावती की छत पर, निघरी-खी खली आ रही है। नीला-उजली-सी एक इकहरी लड़की। हमके पद्मराग अंशुक के कोशेय में, वैदिक कृषि की उषा को जैसे यहाँ महामा शकट देखा। एकत्रित घना केश-धार, जरा वंकिम ग्रीष्मा के पाण और से पुरा बधाई वो अतिकान्त करता, चरण चूमने को आकुल है।

‘पूरा आसपास मानो बदली-बदली जिगाहों में देख उठा।’

‘आओ बद्दन मौसी, बद्दमान प्रणाम करता है।’

‘अरे बद्दन, कितना बड़ा हो गया रे ! पहली बार तुम्हे देख रही हूँ।’

‘और मैं भी तो तुम्हें पहली बार देख रहा हूँ, मौसी !’

‘सो तो है ही ! तुम्हे तो हमारी पढ़ी नहीं। वैशाली जैसे तीन लोक से पार हो कहीं।’

‘तुम बही रहती हो, तो हूँ ही।’

‘मेरी बात छोड़, पर अपनों में, परिवारों में कभी कहीं दीखा है तू ? कितना तरसते हैं सब तुम्हे देखने को। मगध, उज्जयिनी, कौशांबी, चम्पा, सौकीर में जाने कितने उत्सव-विवाह प्रमंग आये होंगे। पैर तेरे दर्शन दुर्लभ। अपनों से, आत्मीयों में तुम्हे लनिवा भी ममता नहीं क्या ?’

‘हाँ-हाँ, है क्यों नहीं ! सब और स्वजन, परिवार ही तो हैं, मौसी। और उत्सव भी, देवों न, यदा चारों ओर है। अब अलग-अलग कहाँ-कहाँ जाऊँ।’

‘और सुनता हूँ मौसी, तुम भी तो खास कहीं जातो-आती नहीं। आरोपी मैं अकेना नहीं हूँ।’

‘देख न, मैं आयी हूँ कि नहीं !’

‘सो तो देख रहा हूँ ! मेरे पास आयो हो न, मेरा अहोभाष्य ! लकिन और भी सब जगह जाती हो क्या ?’

‘वैशाली में ही आ जाती है मेरी सारी दीदियाँ। छोटी हूँ न, सबकी लाडली, को मेरा मान रख लेती है।’

'तो छीक है, मेरा मान तुमने रख लिया। किसी का लाड़िला तो मैं भी हो ही सकता हूँ।'

'पागल कहीं का...! उच्च में तुमसे छोटी हूँ तो क्या हुआ? मौसी हूँ तेरी, तो बड़ी ही हूँ तुम से। है कि नहीं...?'

'बड़ी तो तुम आदिकाल से हो मेरी। यह छत्र-छाया सदा बनाये रखना मुझ पर, तो किसी दिन इस दुनिया के सामना ही जाऊँ।'

एक टक मुझे देखती, वे ममतायित हो आयीं।

'मुमती हूँ, जगलो-भृगुओं की खाक छानता फिरता है। पर न अपने से कोई सरोकार, न अपनों से। किसी से कोई ममता-माया नहीं रही क्या?'

'देखो मैं मौसीं, सबसे ममता हो गई हूँ, तो क्या कहें। अलग से फिर किसी से ममता या सरोकार रखने की अवकाश कहीं रह गया!'

'सो तो पता है मुझे, तू किसी का नहीं। अपनी जनेता माँ का ही नहीं रहा!... जीजी की आँखें भर-भर आती हैं...'

'तो प्रकट है कि उनका भी हो ही। पर उन्हीं का नहीं हूँ, सबकां हूँ, तो यह तो सद्भाव है मेरा। इसमें मेरा क्या बश है, मौसी!'

'मान...!'

आगे चन्दना से बोला न गया। डबडबायी आँखों से मुझे यों देखती रह गयीं, जैसे मैं अगम्य हूँ। पर उनकी वे आँखें भी कहीं गम्य थीं!

'तुम्हें अपने से ही सरोकार नहीं रहा, तब औरों की क्या बात!'

'तुम हो न!... फिर मुझे अपनी क्या चिन्ता?'

'मेरी और किसी की भी चिन्ता का, तेरे मन क्या मूल्य है, मान?'

'मूल्य यह क्या कम है, कि तुम हो... मेरे लिए!'

'सो तो देख रही हूँ।... यह हाल जो तुमने बता रखना है अपना!...'

'जैसे...?'

'इस कक्ष में कोई शैया तो दीखती नहीं। पता नहीं कहीं सोते हो? सोते भी हो कि नहीं?'

'शैया तो, मौसी, जहाँ सोना चाहता हूँ, हो जाती है। कोई एक खास शैया हो जाए, तो सोना भी पराधीन हो जाए। सोना तो मुकित के लिए होता है न!... पराधीन शैया भेरी कैसे हो सकती है...?'

'प्रछती हैं, कहाँ रोता है... ?'

'देख तो रही हो, वह मर्सर का उज्ज्वल सिहासन, जिस पर बैठा हैं। महावीर का सोना अपने मिहासन पर ही हो सकता है ! तो क्या तुम खुश नहीं हो इससे ?'

'इस टाङ्डे शिला-तल्प पर ? ... न गढ़ा, न उपधान ! इस सीतलपाठी पर ? ... ठीक है न ?'

'गढ़े पर सोऊँ, तो अपने ही मार्दव से बचित हो जाऊँ'। गढ़े की नरमी और गरमी मुझे बहुत ठण्डी लगती है, मौसी ! अपनी ही नरमी और गरमी मेरे लिए काफी है ! ... 'खाधीन !'

'ठीक है, तब उपधान का तो प्रश्न ही कहाँ उठता है... ?'

'रुई, रेणु और परों के उपधान मुझे सहारा नहीं दे गाते, मौसी ! प्रिया की गोद हो, या फिर उसकी बाहुओं ! ... जब उपधान पर क्या सर ढालना !'

चन्दना को बरबस ही हँसी आ गयी। कुछ आश्वरत होती-सी बे बोली :

'नो क्या वह प्रिया रात को आरमान से उत्तर आती है ?'

'यह मेरी बाहु देखो, मौसी ! किस कामिनी की बाहु इससे अधिक कोमल और कमनीय होमी ? अपनी प्रिया को अपनी इस बाहु से अलग तो मैं कभी रखता नहीं। जब बाहु, वह मेरे सोने को गोद, या बाहु ढाल देती है। मुझ से अन्य कोई भी प्रिया, पहले अपने मन की होगी, पिर मेरी। उसका मन न हो, तो अपना मन मारना पड़े। उसके भरोसे रहें, तो ठीक से सोना या चैत नसीब ही न हो ... !'

सामने स्फटिक के भद्रासन पर बैठी चन्दना के जेहरे पर एक गहरी जल-भरी बदली-सी लग गयी। मेरे सामने देखना उसे दूषर ही गया। ... उसकी अुकी आँखों ने सहसा ही तैर कर, अपनी पर्चिनी लगड़ुओं को एक निगाह देंदी। अपने ही जानुओं में सिमटी गोद को निहारा। ...

'नो फिर मेरी क्या ज़रूरत तुझे ... ?'

उस आवाज में जन-कर्मन-सद था। वहाँ मुद्रित, मुकुलित इस कमलिनी का समय बोध पाया भैने।

'ओह चन्दन, ... तुम कितनी भुव्वर हो ! ... मुझे पता न था ... !'

एक अषाह शून्य हमारे बीच लगा गया। चन्दना की पत्नी के मुद गयी। जानू पर दृलकी हथेली पर, अँगूठे और मध्यमा उंगली के पाँर जुड़ कर, एक

जैनुली की मुद्रा-सी बहाँ बन आयी । . . . फिर कुछ आगे में आ कर वह बोली :

'मान, तू व्याह कर्यां नहीं करता ? अब तो बड़ा हो गया है तू । जीजी का मन कितना कातर है, तेरी इस हठ से ! . . . '

'ओ . . . व्याह ? हाँ-हाँ-हाँ । लेकिन सुनो मौसी, तुम इतनी सुन्दर हो, फिर मैं व्याह कैसे करूँ ? . . . '

अन्तिम गूढ़ लाज का एक अच्छ चन्दना की वरौनियों से ब्रेल गया । और नेहरे पर एक सहीत रखताभा । सम्महल कर बोली :

'मेरे सौन्दर्य का नेरे विवाह से क्या सम्बन्ध, मान ?'

'तुम्हारा ही नहीं, मौसी, ऐसा सौन्दर्य जगत् में कहीं भी हो, तो विवाह मेरे लिए अनावश्यक है !'

'मतलब . . . ?'

'विवाह, तब, मेरी अन्तस्-तृप्ति को भंग करता है ।'

चन्दना के मर्म में उत्तर कर लुफ्त और गुत्त हो रही थहरी बात । डुबकी खा कर ऊपर आती-सी वे बोलीं :

'मान, मैं तो हूँ ही, कहों जाने वाली हूँ . . . !'

'तब मैं कहीं और क्यों बैधू ? तुम हो ही मेरे लिए, यह क्या कम है ? . . . '

'पागल कहीं का ! वह तो चाहिये न !'

'नहीं, बल्लभा चाहिये मुझे ।'

'समझी नहीं . . . ?'

'जो आत्मवत् लभ् हो, वही बल्लभा ।'

'सो तो बहू हांगी ही ।'

'नहीं, बल्लभा और बात है, बैदेही !'

'तो उसे कहीं और सोजेगा क्या ?'

'द्वोजने नहीं जाना पड़ा । . . . मूँझे पता था, वही आयेगी एक दिन मेरे द्वार पर ।'

'कब आयेगी ?'

'आ गयी . . . !'

'कब, कहाँ . . . ?'

'अभी, यहाँ !'

एक टक प्रणत भाव से मैं चन्दना को देखता रह गया। चहुँ और से लज्जा-वेष्टित, वह अपने में तन्मय, मुकुलित, मौन हो रही। मौन नौड़ा पुरुष ने :

'अच्छा मौसी, तुम विवाह कब करोगी ?'

'पहले तेरा, फिर मेरा। मैं छोटी हूँ कि नहीं तुश्शे ?'

'एक साथ ही हो जाए, तो क्या होते हैं ?'

'मतलब . . . ?'

'यही कि तुम करो व्याह, तो मैं अभी तैयार हूँ . . . !'

चप रह कर चन्दना, नमित नीचन, चट्ठी डॉगली चबाती रही। फिर सहसा ही बड़ी-बड़ी उज्ज्वल आँखें उचका कर दीली :

'और माननो, मैं व्याह कर्णे ही नहीं ?'

'तो मौसी, जान लो, कि मैं भी नहीं करूँगा।'

'ये तो कोई बात न हुई !'

'बस, यही तो एक मात्र बात है, चन्दन !'

'अच्छा, बचन देती हूँ, मैं विवाह करूँगी। तू भी बचन दे।'

'बद्धमान भविष्य में नहीं जीता। वह सदा बद्धमान में जीता है। इसी क्षण वह प्रस्तुत है। वह कहता नहीं, बस करता है।'

'बद्धमान . . . !'

'चन्दन . . . !'

एक अधिंग विराट् मौन कक्ष में जाने कब तक व्याप्त रहा। काल वहाँ अनु-परिष्ठित था। चन्दना उठ कर खड़ी हो गयी। फिर भेरे समुख निश्चल अबलोकती रह गयी।

'' और अगले ही क्षण, उसने माथे पर आँचल ओढ़, झुक कर महावीर के चरण छू लिये।

'कब मिलोगे फिर ?'

'जब चाहोगी। . . . जब तुम पुकारोगी, आऊँगा।'

और माथे पर ओढ़े पल्ले वगे दोनों कोरों को, चिमटी से चिकुक पर कसती-सी चन्दना धीर गति से चलती हुई, कक्ष की सीमा से निष्काल्प हो गई।

कैवल्य-सूर्य की पूर्वभा

मुझे याद नहीं आता, कि पिता के और मेरे बीच कभी सम्बाद रहा हो। बचपन में उनकी बोहों और गोदी में खेलते और दुलार पाने अपने को देखा है। लड़कपन में बेपता रहने चाहा था। किर भी कभी-कभी मेरी टांह में बै आते थे। बहुत ऊधम किये चैने। राजोगवन का प्राणि-उद्यान ही पूरा उजाड़ दिया। पर मुझे सामने पा कर, नाराज़ न हो सके। मेरे गालों और माथे पर हाथ फेर कर इतना ही कहा: 'बेटा, यह क्या किया तुमने?' उत्तर में केवल मैं नीरव उन्हें देखता रहा। वे मानो समझ गये, और चुप हो रहे। मानो कि मेरा उत्पात उन्हें स्वीकार है। गलत मैं जैसे कुछ कर ही नहीं सकता। अब युधा हो कर, जो स्वप्नहाल और खृतदलक ध्यमण पर निकल पड़ता रहा है, उसकी कहानियाँ तो भारे जमूदीप और यक्षन समुद्रों तक फैली हैं। माँ से उन्हें सुन कर वे स्तम्भित हुए हैं, पर होक-टोक उनके दश की बाल न हो सकी। मेरे धर्मशान की रात, माँ को जो सोलह सपने आये थे, उनका मम उन्हीं के मुख से तो सबेरे चुला था। उन सपनों की राह जिस बेटे को आते देखा था, उस पर प्रश्न उठाने का साहस ही उन्हें कभी नहीं हुआ। इस बीच कुल की, राज्य की, परम्परागति धर्म और समाज की अनेक मर्यादाएँ मुझ से दूरी हैं, वे गुन कर परेशान भी हुए हैं; पर चुप रह गये। माँ से केवल इतना ही कहा: 'देखती रहो, क्या होता है। इस बेटे को क्या केवल गर्भज मान कर, इसे अपने आँखों के दूध से कातर कर सकती हो? असम्भव त्रिशला!'

माँ से ही अपने प्रति, पिता के इस मज़्बु को जानता-सुनता रहा है। उन्हीं के माध्यम और परामर्श से, वे मुझे पुत्र रूप में सुलभ और स्थापित देखने के प्रासंगिक प्रथल करते रहे हैं। मम्मूज्ज वे कभी न आये: मानो उन्हें साहस ही न हुआ। इतनी समता है उनकी मुझ पर, कि छितीय गुरुप के रूप में वे मुझे मानो देख ही नहीं पते। जो, जैसा है, जो भी करता है, उसे अपनी ही अभिव्यक्ति समझ, अपने में बने रहते हैं। सुनता हूँ, राज्य में भी बहुत रुचि नहीं उनकी। कर्तव्य और

परम्परा का निर्वाह भर होता है। भगवान् पाश्वनाथ के निर्बोधोपासक आवक हैं वे। सामाजिक और धर्मेचर्या में ही अधिकतर सबलीन रहते हैं।

बरसों बाद आज मेरे अचानक ही नवम स्वर्ण में आ पहुँचे। पैर छूने को छुका ही था, कि स्वयम् उठा कर मुझे मेरे मर्मर के सिंहासन पर बैठा दिया। तत्काल प्रयोजन की बात कही : 'बेटा, तुम नहीं गये बैशाली, तो तुम्हारे मातामह, बैशाली के गणाधिपति चेटकराज स्वयं ही तुम से मिलने आये हैं। कब मिलना चाहोगे ?'

'बहोभाष्य मेरे ! . . . आज तीसरे पहर तात ?'

'मही आये हम कि मंत्रणा-कक्ष में आओगे ?'

'महाराज चेटक के योग्य तो वही होंगा। यही कहो !' और मिलने की भूमि ही आना चाहिये न !'

'साधु पुत्र ! . . .'

एक निमाह काष भर कक्ष में चढ़ूँ और देखा। बैधव, सुख-साधन, साज-सज्जा से गूँप्य इस कक्ष को देख उनकी अखिं जैसे गुमसुम हो रही। कुछ पूछा नहीं। चलती बेर, मेरे कन्धे पर हाथ रख, गहरी दृष्टि से मेरी अंखों में देख, बोले : 'बेटा, हमें तुम्हारी ज़रूरत है ! . . .'। 'तो प्रस्तुत हैं ही, तात !' . . . और काष मात्र में ही वे अचल पग लौट गये।

'इधर बराबर ही बैशाली से रथ और सवार मुझे बुलाने को दोड़े हैं। समझ रहा हूँ, कुछ अनिवार्य मुझे कहीं बुला रहा है। पर कहीं भी जाना-जाना, बाहरी प्रसंग या पुकार से, मैं वहीं कर पाता। वह मेरा स्वभाव नहीं। अकारण, अचानक और अतिथि साक से हीं कहीं जा पाता है। यहाँ से चार योजन पर जो बैशाली है, वहीं बब तक न जा सका तो इसी बजह से, कि भीतर से कोई निर्देश नहीं मिला। आखिर मातामह को स्वयम् आना पड़ा, मेरी दोह में। तो मेरी यह कुतक्तुपता, शायद कुछ अर्थ रखती है। माँ से अनेक बार मातामह के विषय में सुना है। उच्च गुणस्थान के जिनघर्मी और सुदृढ़ व्रतनिष्ठ आवक है। उन्हीं की धर्मशक्ति के प्रभाव से, बैशाली में जिनेश्वरी का धर्म-शासन आज सिंहासनासीन है। बैशाली के संधागार के गुम्बद पर फहराता बूषभ-ध्वज, आज के तमाम विश्व की राज्य-पतोकाओं में शिरोमणि माना जाता है। और आर्यवितं के सारे ही शीर्षस्थ राज्य-कुलों में मेरी मौसियों की कोख ढारा जिन-धर्म संचरित हुआ है। अपने उन धर्मात्मा मातामह के आज दर्शन कर सकूँगा : मेरा सौभाष्य।'

‘महार्थ कम्लगी से गुवानित मंत्रणा-गृह का ऐश्वर्य सम्भवित कर देने चाना है। खिर्दीकरों पर भी रत्न-अणियों से जूँगे भारी पदे पड़े हैं। उनकी मार्तियों की जालरी और पत्ते के हरियाले रत्नदीपों की विधा से कक्ष में गहरी शीतलता बढ़ात है। प्रवेश करते ही एक मिनग्ध प्रधानि से मन विश्वव्य हो जाता है। यही पहली ही बार आया हूँ। इससे पहले बुलाने पर भी, आना न हो सका था। विदेशी ने तरह जूपचाप छान्दो एवं और छड़ा ही दुआ है, कि मख्सस अल्कीश था पर्दी छटा कर चेटकराज आये, और उनके पीछे महाराज मिठार्थ। परं दून को बढ़ा ही था कि वैशालीष्ठि ने मुझे भूजाओं में भर गाड़ आलिंगन में बोध किया। उनकी मुंदी अंखों में उमड़ने म्लेहाश्वुओं में मेरे गाल गिरे ही गये। मेरा यह उस वात्सल्य की उमड़न से लण-भर को ही सही, अचूता न रह सका।

‘यह क्या देख रहा है, कि भातामह ने मुझे अपनी जाहों से मुक्त करते हुए, संधि शीर्ष पर बिल्ले राजसिंहासन पर स्थापित कर दिया। जान ही न पाया कि कहाँ बिठाया जा रहा हूँ : सो संकोच को अवसर ही न मिला। बैठ जाने पर देखा, कि दोनों राजपुरुष अगल-बगल लगे भद्रासनों पर बैठ गये हैं। अपनी इस स्थिति को देख कर, केवल स्तब्ध हो रहा। विकल्प न कर सका। अपने को बहु बैठे, बस देखा। और स्थिति को समझना चाहा।

‘रौशन के बाद आज ही तुम्हें देखना नसीब हो सका, बेटा। तुम्हें किसी भी तरह बैशाली में भही पाया जा सका। न रहा गया, सो स्वयं ही चला आया, तुम्हें देखने।’

‘मेरे सौभाग्य की सीमा नहीं, तात। गणनाथ के इस अनुगृह के प्रति नतमाथ हूँ।’

‘अब तुम वयस्क और योग्य हुए, बेटा। तुम्हारे विक्रम और प्रलाप की गाथाएँ, समागम पूर्वी पर मूँज रही हैं। अपने ऐसे बैशालतंस् को देखने को बेचैन हो उठा।’

‘मुझ एकलचारी को कौन जानता है, महाराज। जैसे लोक से बाहर कहीं, खड़ा हैं।’

‘इसी से तो अधूर्व और अलग दीखें, सो पहचान लिये गये। पिष्पली-कानन के भेले से लौट कर, लिच्छवि-कुमार तुम्हारा गुणवान करते थकते नहीं। और मुना, विदेह, मगध, कौशल, काशी, अंग-बंग तक के सारे सत्रिवेशों की प्रजाओं के बीच तुम प्रकाश की तरह घूम गये। तब से बैशाली के राजकुमार को देखने

के लिए और उसे अपने बीच पाने के लिए सारे आर्थिकों के जनशण तरस रहे हैं। गणतन्त्र के योग्य बेटे की इससे बड़ी पहचान और क्या हो सकती है ?

‘लोक ने मुझे अपनाया। मेरा होता कृतार्थ हुआ।’

‘अब समय आ गया है, कि जनशण के शिष्टाचारी बनो सुम। वैशाली की मंगल-पुष्करिणी तुम्हारे राज्याभिषेक की प्रतीक्षा में है।’

‘वही मंगल-पुष्करिणी, तात, जहाँ मुक्त जल-तत्त्व बन्दी है? और राज्य पदि मेरा कोई हो, तो उसे मैं वैशाली तक सीमित नहीं देख पाता। लगता है कि, मेरा राज्य असीम का ही ही भक्ता है। और ऐसा राजा यदि मैं हूँ, तो मंगल-पुष्पकरिणी का कंदी जल नहीं, आकाश से वरगती हुई मुक्त वृद्धिधारा ही मेरा राज्याभिषेक कर सकती है।’

‘साधु-साधु बड़ेमान ! ! ! सबसूच, हम तुम्हारे उसी साम्राज्य का सपना देख रहे हैं। मंगल-पुष्करिणी तुम्हारे चरणों का प्रक्षालन कर, अभयदान पाना चाहती है। उसे अपने मुक्तिदाता की प्रतीक्षा है।’

‘जल-तत्त्व अपने स्वभाव से ही स्वतंत्र है; मेरे चरण-प्रक्षालन पर उसका स्वतंत्र्य निर्भर नहीं। उसे मैं सर पर ही धारण कर सकता हूँ। क्या ताले और पहरे में रक्षा कर, आप सोचते हैं, आग उसकी रक्षा कर सकते हैं?’

‘पुष्करिणी हमारे पूर्वजों के अंग-स्पर्श से पावन है। उसमें राज्याभिषेक प्राप्त कर, हमारे बंधुद्वारा अपनी देह में, अपनी परम्परा की रक्तधारा को अटूट अनुभव करने हैं। उसकी रक्षा ! ! !’

‘उसकी रक्षा, आपके और मेरे वश की नहीं, तात! अपनी रक्षा करने में वह आप समर्थ है। उसकी पवित्रता, आपके और मेरे पूर्वजों के अंग-स्पर्श और राज्याभिषेक की क्षायल नहीं। जल अपने निज रूप में ही पवित्र है। आपके परकोटों, फौनाडों, पहरों और तालों को तोड़ कर बंधुल मल्ल अपनी प्रिया मन्त्रिका को उसमें नहला गया। क्या आप का तमाम इन्तजाम भी उसकी रक्षा कर सकते?’

गणाधिपति का चेहरा तमतमा आया।

‘वह बलात्कारी था। . . . अत्याचारी! इसी से तो . . .’

‘हमने उसे बलात्कारी होने को विवश किया, महाराज। क्योंकि उससे पहले हम जल-तत्त्व के बलात्कारी थे। असत्य और हिंसा के इस कुवृत्त में, किसे अपराधी कहें और किसे नहीं? मुझे तो ऐसा लगा कि बन्धुल की वज्रमेंदी तलबोर और

मत्स्यकार के दोहद-स्नान से, मंगल-पुष्करिणी के चिर बन्दी जल मुक्त और पवित्र हो गये ।

चटकराज की मुकुटियाँ टेढ़ी हो गईं। पिता सहम आये।

'बद्मान, तुम एक अत्याचारी को समर्थन दे रहे हो ! हत्यारे और डाकू का पक्ष ले रहे हो ! हमारे शत्रु को तुमने अपने मर पर चढ़ा लिया ।'

'अत्याचारी, हत्यारा, डाकू शायद हमने ही उसे बनाया। स्वतन्त्र जल-नल्ल पर अपना एकाधिकार स्थापित करके, उसे दुर्लभ बना कर। और ऐसी प्रमत्त हृदय हमारी यह अधिकार-वासना कि उसकी रक्षा के नाम पर, गर्भवती मत्स्यका पर भी, निच्छुवियों की तनबारें तमने से बाज़ न आयीं। कुलगर्व की तुष्टि के लिए सेकड़ों मानवों का खून बह गया। कौन निर्णय करे कि चोरी, हत्या, बलात्कार, शत्रुघ्न का बीज कहाँ था ? और मैं तो अपना शत्रु अपने से बाहर, देख ही नहीं पाता। राजन् ।'

'बद्मान, तुम कौन हो ? तुम्हें पहचान नहीं पा रहा मैं ? तुम्हें समझना मेरी बुद्धि के बाहे का नहीं । । । ।'

'बुद्धि कब कुछ समझ पाती है, बापू ! ब्रह्म का केवल खण्ड ज्ञान ही वह बेचारी कर सकती है। अखण्ड सत्य का ग्रहण हृदय से ही सम्भव है। आपके बेटे का निवेदन वही में आ रहा है।'

'आयुष्मान्, सारे देवश कहते हैं कि बद्मानकुमार के पातल चक्र-चिङ्ग से अंकित हैं। मैं जन्मजात चक्रवर्ती हूँ। समुद्र-पर्यंत पृथ्वी पर होगा उनका साम्राज्य।'

'बटखण्ड पृथ्वी जील कर, वृषभगिरि पर्वत की विक्रम-शिला पर अपना हस्ताक्षर करनेवाला चक्रवर्ती ? जो वहाँ जा कर देखता है कि ऐसे असंख्य चक्रवर्ती पहले ही चुके हैं, और शिला पर नाम लिखने की जगह नहीं है ? तब अपने मे पिछले वा नाम मिटा कर, वह अपनी हाँके हस्ताक्षर कर देता है : और पराजित होकर बौद्ध आता है। हाँके हस्ताक्षर करने वाला ऐसा चक्रवर्ती मैं नहीं, तात ! वह तो मैं पहले कभी ही चुका। उसे मैं पीछे छोड़ आया ।'

'तो क्या ये देवज्ञ शूठ कहते हैं ? क्या तुम जन्मजात चक्रवर्ती नहीं ?'

'निश्चय ही ऐसा सनाम चक्रवर्ती मैं नहीं हो सकता, जिसके नाम को आँखिर मिट जाना पड़े। मैं अनाम चक्रवर्ती ही हो सकता हूँ, जिसकी अस्मिता को कोई मिटा नहीं सकता ।'

'मैं समझा नहीं, बेटा ?'

'रूप और नामधारी चक्रवर्तित्व, अहंकार का होता है। अहं मिथ्या है, और उसका मिट जाना अनिवार्य है। अगर मैं हो सकता हूँ, तो सौहम् का चक्रवर्ती, जो नाम-रूप से परे, स्व-निर्भर आत्म-स्वामी होता है। जिसकी सत्ता बटखण्ड पृथ्वी की विजय से सीमित नहीं और विक्रम-शिला की कायल नहीं। उस नामातीत की सत्ता, स्वायत्त होती है। उसका कोई प्रसिद्धिर्धी सम्बन्ध नहीं। सो उसे कोई हरा और मिटा नहीं सकता। ऐसा कोई अजातशत्रु चक्रवर्तित्व हो, तो वह मेरा हो सकता है।'

'तो फिर ससागरा पृथ्वी अनाय और व्राणहीन ही रहेगी? उस पर शासन कौन करे? उसका परिचालन और परिषाप्त कौन करे?'

'उसका सच्चा परिचालक, शासक और व्राता वही हो सकता है, जो पहले अपना पूर्ण स्वामी हो। जो पहले अपना स्वतन्त्र परिचालक और परिषाप्त हो!'

'वह कौन बर्तमान?'

'वह जिसका चक्रदर्हित्व पृथ्वी और समुद्र वी सीमाओं से बाधित नहीं। जो देश और काल के सीमान्तरों वो अनिष्टभृत करे। देश और काल, माझ जिसके चक्र के आरे होकर रह जायें।'

'और उसका माझाज्या...?'

'उसका साम्राज्य वर्ण-कण, शण-क्षण और जन-जन के हृदय पर होता है। शिकालवर्ती जड़ और चेतन, हर पदार्थ के स्वभाव को वह पूरा जाता है, और समझता है। इसी से वह शिलोक के सकल चराचर का पूर्ण प्रेमी होता है। सो उनका अखण्ड जेता, जाता और शास्ता होता है। जो सर्व का जाता हो, जिसकी आत्मा सर्व की वेदना से संवेदित हो, वही सर्व का स्वजन और प्रेमी, सर्वजयी और सर्व का शास्ता होकर रह सकता है।'

'तो बर्तमान लोक और काल में, तुम्हारे चक्रवर्तित्व का स्वरूप क्या हो सकता है?'

'सच्चा चक्रवर्ती वह, जो अहं और राग-द्वेष के अनादिकालीन दुष्कर का भेदन करे, उसे चलाए दे। जो वैर-विहेष के इस दुर्भृत से बाहर खड़ा हो सके, वही इसको तोड़ सकता है, इसका भेदन कर सकता है। जो पहल कर सके, उपोद्घात कर सके, नमी शूलआत कर सके, जो सृष्टि के इस आदि-मुरातन दुष्कर को चूर-चूर करके, बस्तु और व्यक्ति मात्र को अपना स्वमावगत स्वराज्य प्रदान कर सके; जो स्वार्थ और अहम् पर आधारित

झूठे राज्या, वाणिज्यों, धर्मस्थाओं और प्रतिष्ठाओं के तहत उलट कर, काण्ड-कण और जन-जन के स्वाधीन आत्मराज्य की स्पाईना कर सके। जो जड़ी-भूत, गड़ी-गली वर्तमान विश्व-व्यवस्था में आमूल-चूल अतिक्रान्ति करके, बरतु और व्यक्ति के स्वतन्त्र सत्य के आधार पर, कोई सर्वोदयी, समवादी और सम्वादी राज और समाज रच सके, ऐसा ही लक्ष्कर्ती वर्द्धमान महार्वीर हो सकता है, महाराज ! और किसी रुद्ध, पराम्परागत, ऐतिहासिक चक्र-वर्तित्व की आसा आप उससे न करें, देव ! करें तो आप को निराश होना पड़ेगा ।

'इतिहास से बाहर का यह चक्रवर्तित्व तो मेरी समझ में नहीं आता, बेटा ! इतिहास और लोक से परे और बाहर कौन हो सकता है ?'

'भन्ते मातामह, जरा इतिहास पर दृष्टिपात करें आप । उसमें आदिकाल से आज तक, राग-द्वेष, अहंकार-ममकार, जय-पराजय, मान और मानभंग के दुष्प्रकों का अन्त नहीं । उनके बरते कथ, लोक भू कम्भी कोई ध्यानी मुख-शांति का राज्य स्थापित हो सका ? यह चक्र विकासमान, प्रगतिशील और अम्बुद्यकारी नहीं । यह चिर प्रतिक्रियाशील और प्रतिगामी है । जड़ राग-द्वेष जनित प्रतिक्रियाओं की इस अर्धी शृंखला का नाम ही इतिहास है । एक ऐसा अन्धा चक्र, जो अपने में ही शूमसा है, अपने को ही दोहराता है, जो आगे नहीं जाता । लोक और इतिहास से परे जा कर, उससे ऊपर उठ कर या उसके केन्द्र में खड़ा हो कर, जो इस प्रतिक्रिया की धारा का अपने आत्मबल से प्रतिबाद करे, इसे प्रतिरोद देकर तोड़ दे; जो इतिहास की इस जड़ रुद्ध और अन्ध गतिभृता को छिप-भिप कर दे; वही इतिहास की बदल सकता है, वही लोक के हृदय में एक आमूल-चूल अतिक्रान्ति उपस्थित कर सकता है । जो देशकाल का अतिक्रमण कर, अपने पराएतिहासिक आत्म-स्वरूप में आत्मस्थ होकर, इतिहास के इस दुष्वचकी और प्रतिगामी प्रबाह को उलट सकता है; ऐसा सम्वादी, समवादी और प्रयतिवादी बना सकता है; ऐसा ही लोकोत्तर पराएतिहासिक पुरुष यज्ञा इतिहास-विधाता होता है । जड़ीभूत इतिहास और लोक भूमि जो आमूल मांगलिक कान्ति लाना चाहता है, उसे लोक और इतिहास से क्षमर, और अलग ही ही जाना पड़ता है ।'

'तो अभी हाल, यही, जो लोक की प्रातंगिक समस्याएँ हैं, उलझने हैं, संघर्ष हैं, उनसे तुम्हारा कोई सरोकार नहीं, आवृप्यमान ?'

‘बंधक है, गणनाथ। लेकिन मौलिक और असली सरोकार है, यात्र सतहीं और गोचारिक नहीं। प्रासंगिक समस्याओं का सच्चा और अन्तिम समाधान, प्रश्नान के केन्द्र में खड़े होकर ही पाया जा सकता है। जो व्यक्ति और वस्तु, आत्म और विश्व के सच्चे स्वरूप को न जाने, उनके बीच के मौलिक और प्रस्तुती व्यवहार का बिन्दु न हो, वह प्रासंगिक समस्या को सुलझाता नहीं, उलटे अधिक उलझाता है। जो प्रासंगिक समस्या को समझ पा कर, स्वयम् ही उसके प्रति भाग-द्वेषी प्रतिक्रिया में ग्रहत हो जाए, कषाय में अशान्त और आत्मशिक्षा हो जाए, वह स्वयम् ही समस्या के उस दुष्पर्वक का शिकार हो जाता है। और दुष्पर्वक के अन्धड में जो बह जाए, वह उसे उलट कैसे सकता है? इसी से कहना चाहता हूँ, कि जो लोक की प्रासंगिक समस्या का यथायान पाने की सच्ची बेदना से लप्त है, लोक का ऐसा प्रेमी, पहले प्रसंग से अनासक्त हो कर, आत्मस्थ हो जेता है। लोक का और अपना यम्यक् दर्शन और सम्यक् जान प्राप्त करता है। और तब उसके मोह-मुक्त वैतन्य के केन्द्र से जो क्रिया आयेगी, वह प्रतिक्रिया नहीं होगी, शुद्ध और प्रगतिशील प्रक्रिया होगी। ऐसी ही प्रजानामक प्रक्रिया, प्रासंगिक समस्या का सच्चा, अन्तिम और विधायक समाधान प्रस्तुत कर सकती है। इसी से हो सके तो, मैं परायेतिहासिक आत्म-स्वरूप में समाधिस्थ होकर, इतिहास और प्रासंगिकिया को अपूर्व, मौलिक और नवीन परिचालना देना चाहता है। इसके लिए, मुझे पहले पहल करनी होगी, महाराज। पहले स्वयम् अपने को मुनझा लेना होगा, बदल देना होगा। जो स्वयम् ही उलझा है, प्रतिक्रिया के दुष्पर्वक में ग्रहत और कषायान्त्र है, जो स्वयम् ही अपने को सुलझा और बदल नहीं सका है, वह दृतिहास और लोक को कैसे बदल सकेगा? . . .

‘मुनें वापू, ऐसे तमाम सतहीं बदलावों की बात जो करते हैं, वे दम्भी, पाखण्डी और पलातक होते हैं। कैं भीतर कहीं जहंकार, स्वार्थ और प्रतिक्रिया के नायुर से अस्वस्थ और गीरफ़िल हैं। जो प्रसंग और इतिहास में ग्रहत नहीं, संत्यग्न और अनासक्त होते हैं, वही प्रसंग के सच्चे परिचाला, और इतिहास के मौलिक विधाता होते हैं . . .’

‘तो आज जो हमारे सामने प्रासंगिक संघर्ष है, उससे निस्तार पाने का तुम क्या उपाय सुझाने हो, आयुष्यमान्?’

‘कौन संघर्ष, क्या? स्पष्ट करें आप, तो मैं अपना नम संत्यक्त करूँ।’

'बर्दमान्, तुम तो जानते हो, हमारा वैशाली गणतन्त्र, आज संसार का मर्वर्थेठ संघराज्य है। वह प्रजातन्त्र है। उसके अंतर्गत हमारा प्रत्येक प्रजाजन पूर्ण स्वतन्त्र है। शासन में वह साझीदार है। आपनी शुल्द-गतिका द्वारा आपना सत व्यक्त कर के वह वृामकीय निर्णय में भाग लेने का अधिकारी है। हमारा यह स्वातन्त्र्य और समृद्धि मगधराज बिविसार की असत्र हो उठी है। हमारे ममान ही अन्य गणसनाका राज्यों को हड्डप कर दे आर्यविंत के दूसरे राजतांत्रिक राज्यों के माथ मिल कर, समस्त भृत्यवृष्ट पर अपना एकरात्र मान्यता स्थापित किया चाहते हैं। इस पद्यतन्त्र के चलते हमारा यह स्वतन्त्र गणराज्य निरन्तर मगध की मान्यता-लोक्य तलवार के अंतर्क तले जो रहा है।'

'क्लेमान आर्यविंत वा मानचित्र मेरी ओर्खों के यामने गपाट है, गहाराज। उसके राजकीय, अधिकार, शासनिक विषयों और संघर्षों को आपनी इश्वरी के रेखाजाल की तरह साक देख और समझ-ख़ज रहा है। पुछता है, तात क्या वैशाली विशुद्ध गणराज्य है? वया उग्र मेरी तक के प्रत्येक वर्ष का प्रजाजन, उसके शासन-तन्त्र में सहभागी है?'

'वह तो अगत-विरुद्ध बात है, आद्यमान्।'

'जहाँ तक मुझे पता है, महाराज, यह गणराज्य नहीं, कुल-राज्य है। वजियों के वंशानुगत अपने राजकुलका ही वैशाली पर नात्य खरने हैं। इन अप्टकुलों के सात-हजार शाल-सी सात मश्य ही आपके मन्थानार की शासन-परिषद् के मदम्य हो सकते हैं। राजतन्त्र तो अन्ततः इन्ही अप्टकुलकों के हाथ में है। क्या काई कृषक, कम्मकार, लोहार, बड़ई, ज़ुलाहा भी आपकी इस परिषद् का मदम्य हो सकता है?'

'वैशाली का हर जनगण अपना राजा है, वह अपने को राजा कहता है, बर्दमान! अप्टकुलका शासन-परिषद् गणतन्त्र के मारे ही वर्गों का प्रतिनिधित्व करती है।'

'परम्परागत कुलतन्त्र शक्तिमान है, और उसका राज्यतन्त्र दीतिमान है, निश्चय। उसने शांगलिक शासन-कौणल द्वारा प्रजा का हृदय जीत लिया है। और हर जनगण को पूर्ण स्वातन्त्र्य का बोध हाता है, निश्चय! सो उन्होंने अप्टकुलक को सहज ही अपना प्रतिनिधि स्वीकार लिया है, पर मेरी बात का उत्तर आपने नहीं दिया। क्या आपकी 'प्रवेणी-पुस्तक' (कामनून-पन्थ) के

उनसार जैजाली का हर कोई कृपक, कम्मकर, वर्षिक या ब्राह्मण तक हमारी शासक-परिषद् का सदस्य हो सकता है ?'

महाराज चेटक कुछ चकाये-से दीखे । फिर बोले : 'हमारी प्रजा को हमारे गणतन्त्र को शासक-परिषद् में पूर्ण विश्वास है । तो उनका प्रतिनिधित्व और सदस्यता, उसमें समाहित है ।'

'आप बात को फिर ढाल गये, महाराज । मैं भी एक लिच्छवि राजकुल का पुत्र हूँ । और आपकी ओर से मैं ही बात को स्पष्ट कर दूँ । वस्तु-स्थिति यह है कि मूलतः यह गणतन्त्र नहीं, गणराजतन्त्र है । यानी प्रजाओं का नहीं, गणराजाओं का तन्त्र है । अष्टकुलीन राजवंशियों का । इस राजवंशियों के परम्परागत आधिजात्य, बाहुबल, शशबल और अपेक्षाकृत नीतिमान शासन-कौशल के प्रभाव से प्रजा इतनी दबी हुई और अभिषृत है, कि वह इन कुल-पुत्रों को सहज ही अपना प्रतिनिधि स्वीकारे हुए है ।'

'तो यह क्या हमारे गणतन्त्र कहनाने को काफी नहीं ?'

'है भी, नहीं भी, पितृदेव ! परम्परागत बलचानों के राज्य को स्वीकारने के सिवाय, निर्बल प्रजाओं के लिए और क्या चारा है । जन्मजात ही शासित और दमित रहने का उनमें संस्कार पड़ गया है । कुलीज राजवंशियों ने उन्हें मनवा दिया है, कि वे उनके प्रतिनिधि शासक हैं । एक हृद तक वे प्रतिनिधि और उत्तरदायी हैं भी, और वह शुभ है । पर उसमें उनका स्थापित-स्वार्थ भी तो है, कि प्रजाओं को संतुष्ट रख कर, वे इस रहनगर्भा वसुन्धरा के श्रेष्ठ का निर्बाध भोग कर सकें । बज्जी, शाक्य, भल्ल, कुरु, काम्बोज, गारे ही गणतन्त्रों की मूलगत स्थिति यही है । मूलतः तो वे गणतन्त्र नहीं, गणराजतन्त्र ही है ।'

'तो तुम्हारे विचार से, पृथ्वी पर गणतन्त्र जैसी कोई चीज अस्तित्व में नहीं ?'

'अभी तक तो नहीं है, महाराज ! पर वह होनी चाहिये । उसे होना पड़ेगा, विकास में अनिवार्यतः आगे जा कर । उसमें सदियाँ नग सकती हैं । आपका मह वेदा विष्य के उसी भावी गणतन्त्र का स्वप्नदृष्टा है—उसका एक विनाश दूत, यदि आप उसे पहचान सकें ।'

'तुम पर हमें गर्व है, आयुष्यमान् । तुम्हारी जन्मजात महिमा से हम अवगत हैं । पर गणतन्त्र और राज्यतन्त्र में तुम कोई भेद नहीं देखते, आश्वर्य ।'

तुमने हमारे गणतंत्रों को माथ गणराजतंत्र कह कर, तुष्टि कर दिया। क्या इन साम्राज्य-लोकपुर राजाओं और हम गणतांत्रों में तुम कोई अन्तर नहीं देखते ?'

'एक हद तक, निश्चय ही देखता हूँ। पर मूलतः और अन्ततः कोई भेद देख नहीं पाता। मैं आपस कर्क, बात को। आधिम साम्राज्य-कुलों या कबीलों ने जब पहले पहल, पारस्परिक अस्तित्व की सूरक्षा से लेसित हो कर, सभ्यता के विकास में अनिवार्य होते पर, समाज को समुचित व्यवस्था देने के लिए राज्य या शासन-तंत्र रचा, तो जो अधिक बलवान और बुद्धिमान थे, जो शीर्ष पर थे, उन्होंने अपना शासन-तंत्र संशोधित कर, व्यवस्थापन का राज्य-तंत्र का आविरकार किया। पर मूल में उन कबीलों में अधिकारियों के भुजवान की टक्कर और प्रतिस्पधी तो थी ही। सो इन कबीलों या कुलों के बलवान अधिपतियों के शक्ति-संतुलन के आधार पर ही, ये कुलतंत्र स्थापित हुए। आज के हमारे गणतंत्र उन कुलतंत्रों का ही अधिक सभ्य, सुस्थापित और विकसित है। पर इनके मूल में निर्णायिक तत्व बल है, जनगण का हृदय या उनका सर्वदिव्यी कल्याण और प्रतिनिधित्व नहीं।'

'क्या तुम हमारे गणतंत्र में जनगण का सर्वदिव्यी कल्याण और प्रतिनिधित्व नहीं देखते ?'

'सबं का समान अध्युदय तो मुझे कहीं दिखाई न पड़ा। पिछले दिनों आम-प्राम के राज्यों और गणराज्यों के कई भविष्येशों और ग्रामों में धूम गया था। मैंने देखा कि चारों ओर वर्गभेद का खादा जाल बिछा है। धनी और निर्धन के बीच की खाड़ी बहुत चौड़ी और ऊंचेरी है। कृषक, जुलाहे, बड़ई, लूहार, स्थापत्यकार, मूर्तिकार, शिल्पी, चर्मकार, धीकर, रात-दिन अविराम कठोर परिश्रम करते हैं। उन्हीं के थ्रम की नींव पर, वैशाली, राजगृही, चम्पा, आवस्ती, कौशाम्बी के ये गगन-चुम्बी प्राकाश-भवन खड़े हैं। उनके खून-प्लसीनों की ढापज से ही, इन महलों के वैभव-रेखर्य और भौग-विलास फैल-फूल रहे हैं। उन्हीं के द्वारा निर्मित चक्रों और फौलादों पर इन सोलह महाजन-पदों के दुमच दुर्ग छढ़े हैं, उनके अस्त्रागार सर्वमहारथ जास्तों से लमजमा रहे हैं। समस्त जम्बूदीप और उससे पार के ढीप-देशान्तरों तक आवामन कर रहे महाअधिकारियों के साथ उन्हीं की अस्थियों से छले चक्रों, कीलों, नाखों और जहाजों पर गतिमान है। वैशाली, चम्पा, आवस्ती और राजगृही के

भूताधारियों और धनकुबेरों के कोषामार, इन्हीं श्रमिकों के रक्त-स्वेद से बाहित सूखर्ण-हल्तों से उफना रहे हैं। पर मैंने देखा, महाराज, मेरे कम्मार दीनहीन और दग्धि हैं। अश्रवस्त्र और गाधार्षण जीवन-माध्यन का उन्हें लेशक, अभाव नहीं। पर महानवरों के नागरिकों को उत्कृष्ट अश्रवस्त्र, आदास, वाहन, भोग-विलास प्रदान करने वाले ये श्रमिक, निम्नतम कोटि के जीवन-माध्यनों पर निवाहि करते हैं। हम महाजन कहे जाने वाले श्रमिकों के लोगों ने उन्हें शुद्ध, हीनजातीय और हीन-शिष्यापाणि जैसी मज्जाएँ प्रदान कर रखी हैं। हम सज्जा के आसन पर हैं, जो गन्नाबजाल से उनके श्रम के उपायन पर अपना एकाधिकार स्थापित कर, उन सम्पत्ति का स्वामित्व हम भोगते हैं। और सम्पत्ति के सच्चे उत्पादक ये श्रमिक, हमारे मात्रहत रह, पर शोषित विषज्जों का जीवन बिताते हैं। अपने स्वामित्व में हमने उन्हें पददनित कर रखा है। हम वैष्ण-परम्परा से राज्य-सुख भोगते चले जाते हैं, और उन्हें हमने वंश-परम्परागत रूप से श्रमिक और शोषित जीवन बिताने का विषय कर छोड़ा है। हम अभिजात कुलीनों की कई पीढ़ियों ने इन कम्मवरों की हर पीढ़ी के रखत में आत्मद्वन्द्विता के भाव को संस्कारित और परम्परागत किया है। मानव-सुधों की कई-कई पीढ़ियों में हीन भाव को एक संकामक रोप की तरह प्रवाहित करने से बड़ा पाप और क्या ही महाराज ? उनके रक्तकोशों, मांस, मज्जा, अस्थियों तक में हमने हीनत्व की खेती की है। क्या इसी को हम सबौदया, सर्व-कल्याणकारी गणराज्य कहते हैं ? राजतंत्रों में हो कि गणतंत्रों में हो, धनी और निधन, श्रमिक और स्वामी-तथा शोषिक और शोषित के बीच की यह खाई, मैंने सर्वत्र भमान रूप में फैली देखी है। समझ नहीं सका कि पृथ्वी पर कहाँ है गणराज्य, सबौदया कल्याणराज्य, जिसकी बात आप कर रहे हैं ?'

'आपृथियमान् अपना उत्कर्ष करने को हमारे गणतंत्र में तो सर्वजन स्वतंत्र है। यह तो व्यक्ति के अपने स्वतंत्र संकल्प और पुस्त्यार्थ पर है कि अपने की नीचे से उठा कर ऊपर ले जाये।'

'यह स्वतंत्रता मात्र हमिनदंती है, महाराज ! हार्षि के ये दिन्वाङ्क दर्शते हैं, खाने के दौति दूसरे ही हैं। वे उसके अबड़े में छुग दैः वे बड़े करगान और सर्वभक्षी हैं। आपको 'प्रवैष्ण-गुस्तक' के नियम-विधान और शासन-विधान में, दोहरे से हर प्रभाजन को मतदान का अधिकार भले ही हो, पर अधिनियम और शासन-विधान के निर्माण और उसके स्वायत्त परिवर्तन का अधिकार तो

अष्टकुलकों तक ही सीमित और सुरक्षित है। कोई भी दीन-इलिस बाहु कर, पीढ़ी-दर-पीढ़ी दलित-शोषित रहना नहीं चाह सकता, उसे सौ भ्रमों और भुलावों में डाल कर वह रक्खा जाता है। इस विधान के अन्तर्गत उसे ऊपर उठने का कोई अवसर नहीं। शूद्रों और चाषदालों की सत्ताओं की आर्यवित्त के ग्रस्कुलों में शिळा पाने का अधिकार नहीं। उन्हें पदवाण तक धारण करने का अधिकार नहीं। साएं हैं कि दीन-दुर्बल-इलिस को मुख्यवित्त रूप में वह रक्खा जाता है, ताकि उसके कुलीन अभिजात वर्ग, पृथ्वी की श्रेष्ठ निधियों का अधिकलम संचय और निर्वाचि भोग अन्त तक करते चले जायें।

'जगत और जीवन की वस्तु-स्थिति और मनुष्यों के भाग्य बदलना तो किसी शासन-नियंत्र के हाथ नहीं, बेटा। मूलतः और अन्ततः तो मनुष्य अपने ही किये और बीधे कर्मों का परिणाम है, आमुष्यमान्। स्वतंत्र-परतंत्र, ऊँच-नीच, धनी-निधीन, मनुष्य अपने ही उपाजित कर्मों के फल-स्वरूप होता है। यह शेणिभेद तो प्राणियों और मानवों में आदिकाल से चला आया है, और सदा रहेगा। हमारे सर्वज्ञ तीर्थकरों और अमण्ड भगवन्तों ने भी यह मनुष्य की स्थिति का निर्णयक कर्म को ही नहीं माना है? . . .'

'आदिकाल से जो चला आया है, वही अनंतकाल तक चलेगा, यह सत्य नहीं, बाधा। द्रव्य का परिणमन किसी चक्र में सीमित नहीं। द्रव्य में अनन्त गुण और अनन्त पर्याय सम्भव हैं। सो उसकी सम्भावनाएँ भी अनन्त हैं। जो अनन्त है, वह अनिवार्यतः विकास-प्रगतिशील होगा ही। सो अनंत रूद्र, चक्रबद्ध, और अन्तिम कैसे हो सकता है? तब इस लोक, पश्चात् और मनुष्य का स्वरूप भी रूढ़ि और परम्परा से बद्ध और अन्तिम कैसे हो सकता है? जो मनुष्य का भाग्यचक आज है, सदा वही रहेगा, ऐसा मान लेने पर वस्तु का स्वरूपगत अनंतत्व समाप्त ही जाता है। सो यह मान लेना कि जो आदिकाल से चला आया है, वही अनंतकाल में चलता रहेगा, यह सर्वज्ञों द्वारा कथित वस्तु-स्वरूप का विरोधी है। स्थापित-स्वार्थी वर्ग, सर्वज्ञों के कथन की स्वार्थमूलक व्याख्या कर, उसकी आड़ में मदा ही ऐसा प्रमादी प्रबलन करते आये हैं।'

'तब तो मानना होगा, कि कर्म या भाग्य जैसी कोई चीज़ है ही नहीं: मनुष्य अपनी स्वाधीन हज्जानशक्ति से अपना मनचाहा भाग्य बना सकता है। उसका जीवन किसी पूर्वान्वित कर्मवर्ग के आधीन नहीं।'

‘आप तो जिन-सर्वज्ञों के उपासकों में अधीष्ट शावक-शिरोमणि और जानी है, महाराज ! सर्वज्ञों द्वारा उपादिष्ट कर्म के स्वरूप से तो आप मत्ती-भौति परिचित ही होंगे । कर्म एक विभावात्मक और नकारात्मक वस्तु है । वह स्वभावात्मक और विधायक वस्तु नहीं । वह अभीष्ट नहीं, अनिष्ट वस्तु है । मो कर्म का विषयान चिरो-धार्य करने योग्य नहीं, वह सोड देने योग्य है । यहीं तक कि सर्वज्ञ भगवन्तों ने अन्ततः कर्म को अरि यानी शब्द तक कहा है । बल्कि गूलतः वही कहा है, और जो कर्म-बन्धन का अंतिम रूप से नाश करे, वही हमारा सर्वोपरि इष्टदेव अरिहृत कहा जाता है । ‘एमो अरिहृताण’ : यही जिनेश्वरों द्वारा दिये गये अनादि-सिद्ध मंत्र का प्रथम पद है । उस कर्मारि को हम अपने आदिकाल से अनन्ताकाल तक का चरम भाव्य विषयाता कैसे मान सकते हैं ? यह तो शशु को ही इष्टदेव के आसन पर बैठा कर उसे पूजना हुआ । तब तो हमारे परमाराध्य अरिहृत नहीं, अरि होना चाहिये—ये कर्मारि । और यदि कर्म ही मनुष्य के भाग्य का अन्तिम निर्णायक हो, तो फिर उसके पुरुषार्थ का क्या मूल्य रह जाता है ? इस तरह मनुष्य की सत्ता केवल अन्धकर्म और भाग्य की विरन्तन दास हो जाती है । पर जिमे-श्वरों का धर्म ऐसा नहीं कहता । वह चरम-परम पुरुषार्थ का धर्म है । सर्वज्ञ प्रभुओं ने केवल मोक्ष को ही नहीं, धर्म, वर्य और काम तक को पुरुषार्थ कहा है । यानी मनुष्य अपनी स्वायत्त ज्ञान-वेतना से धर्म की कालामुक्त्य नूतन व्याख्या कर सकता है, वह वर्य और काम को अपने विवेक और विज्ञान के पुरुषार्थ से, अपने अधीष्ट रूप में स्वाधीन मोगने की सामर्थ्य रखता है । वह अपनी आत्म-शक्ति के स्वतन्त्र संकल्प से, अपने लिए और सर्व के लिए, सर्वज्ञ हिताय, सर्वज्ञ मुक्ताय शांगसिक और समत्व-धर्मी विश्व-रचना कर सकता है ।’

‘तो फिर बर्दमान, आदिकाल से अनेक सर्वज्ञ तीर्थकरों के होते भी विभिन्न मानवों के भाग्य विषय और विसम्बादी क्यों रहे ? जगत् सदा ही विषय रहा । केवल व्यक्ति ही अपने चरम ज्ञानात्मक उत्थान से, अपने कर्मपात्रों का अन्तिम रूप से नाश कर के, अपना वैयक्तिक मोक्ष सिद्ध कर सके हैं । पर कोई तीर्थकर भी समुदाय के भाग्य को न बदल सका, सर्व का समान अमृदय न कर सका । क्या वे तीर्थकर गलत थे, सीमित थे, असमर्थ थे ?’

‘तीर्थकर के गर्भ में आने के क्षण से लगा कर, मोक्ष लाभ के क्षण तक, जो आश्वर्यजनक पर्व-कल्याणक के अतिशय होते हैं, क्या उनकी ओर आएका ध्यान न गया तात ? इन कल्याणकों के भीतर अन्तनिहृत रूप से सक्रिय,

नमस्त विश्व के समुदायिक कल्याण और उत्कर्ष की शक्तियों का भरपूर परिचय हमें मिलता है। वे शक्तियों तो अमोघ होती हैं, और पूर्ण ब्रेंग से प्रवाहित होती हैं। उत्कालीन लोक में वे चमत्कारिक मांगलिक कांति भी घटित करती हैं। पर प्राणियों में श्रेष्ठ और सर्वाधिक सज्जान हम मनुष्य अपने कषायों और स्वारथों से इतने अन्धे होते हैं, कि उन शक्तियों के प्रभाव को पूर्ण रूप से ग्रहण कर, उनके आधार पर विश्व का सर्वकल्याणकारी मांगलिक रूपान्तर करने का पुरुषार्थ हम जान-बूझकर नहीं करते। सर्वज्ञ तीर्थकर के उपदेश में तो वैयक्तिक और सार्वजनिक अध्युदय और मुक्ति का विद्यान संयुक्त रूप से समाहित होता है। वह वाणी तो अनेकान्तिनी, और अनन्त सम्भावी होती है। हमारे धारा उसका ग्रहण ही सीमित, एकान्तिक और स्वार्थिक होता है। जो हम उस वाणी की प्रमाद्वी और स्वार्थ-सीमित व्याख्या करके लोक को भ्रम में डाले रखते हैं। बर्नी मूल में तो तीर्थकर के अवतारण और उसकी दिव्य छवियाँ में, ब्याष्टि और समष्टि के लौकिक और लोकोत्तर सर्वाध्युदय और मुक्ति का अमोघ मंत्र समाप्त रहता है। क्या कर्म-भूमि के आश तीर्थकर भगवान् ऋषभदेव के जीवन-काल में लोक का सर्वाणि और सार्वजनिक अध्युत्थान नहीं हुआ था? तब मानना होगा कि वह सर्वकाल सम्भव है। हम स्वार्थी आताजी ने और सीमित जानी श्रुत-केऽवलियों ने तीर्थकर की कैवल्य-वाणी की सीमित और मनमानी व्याख्याएँ की हैं। इसी से सार्वजनीन लोक के, सर्वाध्युदयों कल्याण की धारा भग हुई है। कल के किंगत तीर्थकर भगवान् पाश्वनाथ तक की कैवल्य-वाणी में वही सर्वाध्युदयी कल्याण का मंत्र में आज भी स्पष्ट सुन रहा है। उसमें केवल वैयक्तिक कर्मनाश ही नहीं, फिल्हा समष्टिगत अनिष्ट कर्मनाश और सर्व के अनुक पुर्वोदय और पूर्ण उत्कर्ष का गृह्णन रहस्य समाप्ता है। मैं उसे प्रत्यक्ष अनुभूत कर रहा हूँ। भीतर साक्षात् कर रहा हूँ। अब तक जो न हो सका, आगामी तीर्थकर उस सम्भावना का रहस्य जगत पर खोलने को आ रहा है।

'वद्मान, तो क्या यह तीर्थकर अपूर्व होगा? अब तक के तीर्थकर अपूर्ण जानी ये?'

'हर तीर्थकर पूर्णजानी, विल्लु अभिव्यक्ति में पिछले से फिर भी अपूर्व, अधिक प्रगतिमान हुआ है। वैसा न हो, तो सत्ता की अनन्तता का क्या अर्थ रह जाता है? आगामी तीर्थकर भी अपूर्व प्रगति का सम्बोधनाहक होगा,

व्यक्ति और अमण्डि दोनों ही की मुकित या अपूर्व रचनात्मक विधाता होगा। उसकी प्रतीक्षा करें, वैशालीनाथ !'

'इसमें बड़ा आनन्द का सम्बाद क्या हो सकता है, कि कोई ऐसे तीर्थकर आने वाले हैं, जिनका उपदेश केवल व्यक्ति के लोकोत्तर मोक्ष का ही मार्ग-दर्शक न होगा, वर्तिका जो लोक की सामुदायिक मुकित और उसकी सर्वभगवत्-वागी, सम्वादी और सम्वादी मुकित का भी विधायक होगा। लेकिन तब तो प्राणियों के वैयक्तिक कर्मबन्ध, पाप-पुण्य का कोई अर्थ नहीं रह जायेगा। आखिर तो व्यक्ति, बस्तु और अन्य व्यक्तियों के प्रति, अपनी आत्मपरिणामगत प्रतिक्रिया से ही कर्मबन्धन बरते हैं। ऊँच-नीच, कुरुप-सुरुप, धनी-निधनी, मुखी-दुखी मनुष्य अपने गोत्रकर्म, नामकर्म, अन्तराय कर्म, बेदनीय कर्म आदि कर्मों के कल-स्वरूप ही तो होता है ?'

'तात, हम समझें, कि आखिर कर्म-बंध है क्या वस्तु ? नित्य के जीवन-व्यवहार में प्राणि, अन्य प्राणियों और पदार्थों के प्रति जो शुभ-अशुभ, राग-द्वेषमूलक भाव करता है, उसीसे तो वह पाप या पुण्य कर्म बौधता है। यानी शुभाशुभ भाव, प्रतिक्रिया और कर्म करने को व्यक्ति स्वतंत्र है। यह उसकी आत्म-सत्ता के अधीन है, कि वह अन्य के प्रति क्या भाव रखते, कैसे बरते। जड़ कर्म-परमाणुओं की क्या ताकत, कि मनुष्य के न बाहरे उसकी चेतन्य आत्मा को बौध ले। यानी प्रथमतः जड़ कर्म-परमाणु, चेतन्य आत्म-शक्ति के अधीन हैं। आत्मा अपने स्वाधीन संकल्प से कर्म करने, या कर्म-बंधन को स्वीकारने या नकारने को स्वतंत्र है। तब पहले अदिवेक या अज्ञान से कोई कर्मराशि व्यक्ति बाँध लूका हो, तो इस जीवन में अपने मद्भान और सद्भंकल्प से वह उसे तोड़ या बदल न सके, तो आत्मा की स्वतंत्रता या मुकित का क्या अर्थ रह जाता है ? आप तो जानते हैं, ये चतुंभान वर्ण, जाति, गोथ, ऊँच-नीच की व्यवस्थाएँ कुछ बलवानों द्वारा निर्दलों पर आरोपित बलात्मकर हैं। जिनेश्वरोंने इन भेदों को मूलगत या जन्मजात नहीं स्वीकारा। व्यक्ति अपने स्वतंत्र भाव, पुरुषाचं, आचार और व्यवहार से इन्हें बदल देने को स्वाधीन है। वर्ण-व्यवस्था, और वर्ग-व्यवस्था व्यक्ति की तात्कालिक योग्यता और रुचि के अनुसार नियोजित एक कर्म-विभाजन मात्र है। व्यक्ति अपने स्वतंत्र संकल्प से अपनी आत्मिक उत्तिकारके, इन बाहरी भेदों और विभाजनों की सीमा तोड़ नार, उच्च कक्षा में पहुँच सकता है। फिर, पूर्वोपाजित जड़ कर्म को ही प्रस्तुत जीवन-व्यवस्था और समाज-व्यवस्था

का अन्तिम और अनिवार्य विधाता मानकर, उसे सर पर धारण किये फिरना, क्या जिनेश्वरो के स्वतंत्र पुरुषार्थी घन, और आत्मा की भूलगत स्वतंत्रता की अवहेलना नहीं है? मानो कि चैतन्य आत्मा कर्म की निर्णायिक नहीं, जड़ कर्म चैतन्य आत्मा के निर्णायिक हैं। यह जिनेन्द्र के स्वतंत्र आत्मधर्म का द्वोह और अपलाप है। जिनेन्द्र की अनैकान्तिनी और अनेकार्थी बाणी के मनमाने ताकिक अर्थ और व्याख्याएं करके, जड़धर्मी स्थापित स्वार्थियों ने अपने स्वार्थों की पुष्टि-नुष्टि के लिए, जिनकाणी की आड़ में, जड़ कर्म को चैतन्य आत्मा के सिहासन पर विधाता बना कर बैठा दिया है। बर्ना तो, स्वतंत्र आत्म-शक्ति में निष्चय ही यह सामर्थ्य है, कि वह अपने स्वतंत्र पुरुषार्थ से केवल पारमार्थिक मुक्ति ही नहीं प्राप्त कर सकती, बल्कि इस प्राप्तिक विषय में उच्च आत्मलक्ष्यी मुक्ति की व्यवस्था को, अपने उच्चतर विकास की व्यवस्थकतानुसार स्वतंत्र रूप से रख सकती है।

'तब तो व्यक्तियों के व्यक्तिगत पापोदय, पुण्योदय की व्यवस्था निर्धारक सिद्ध हो जाती है।'

'निष्चय! यह सब स्थापित स्वार्थी बलवानों की, निषेद्धों को सदा निषेद्ध और अपने दास बनाये रखने की जड़ कामिक व्यवस्था है। स्वतंत्र और सतत परिमणनशील आत्म-न्तत्व में अन्तिम रूप से पाप या पुण्य जैसा कुछ नहीं है। कामना से प्रेरित हो कर ही तो व्यक्ति तदनुसार कर्म बौधता है। शुभ कामना से व्यक्ति पुण्य बौधता है, अशुभ कामना से पाप। पुण्य कर्म के फल-स्वरूप व्यक्ति विपुल सांसारिक विभूति पा कर प्रमत्त होता और फिर अनन्त पाप बौधता है। तब पापोदय और पुण्योदय में क्या' अन्तर रह जाता है? पुण्यवान कहे जाने वालों को, मैंने पापी कहे जाने वालों से अधिक पापात्मा, स्वार्थी और शोषक ही देखा है। और जो ज्ञान पापोदय से लोक में निर्धनता, शोषण, नाना यातना झेलने वाले कहे जाते हैं, उन्हें मैंने हृदय से प्रायः अधिक निर्मल, सज्जन, परदुख-कातार देखा है। तब तो तथाकथित पुण्यवान से, तथाकथित पापी होना ही भेरे मन, अधिक अशोष्ट और उच्चतर आत्म-स्थिति है। स्वार्थ-लक्ष्यी, सकाय कर्म से ही मनुष्य जड़ कर्मपाण में बैधता है। उसमें पुण्य और पाप का यह स्थूल भेद, दरअसल व्यक्ति की असली आत्मस्थिति का निर्णायिक नहीं हो सकता। पुण्यवान कहे जाते राजाओं और श्रीमन्तों के पापाचारों, बलात्कारों, शोषणों, दुष्कर्मों, स्वार्थों का अन्त

नहीं। उन्हें पुण्यवान कहने से बड़ा व्यंग और मिथ्यात्व और क्या हो सकता है? और पापी कही जाने वाली देश्या को मैंने तथाकथित सती से कहीं अधिक उत्तमत्व चरित्र पाया है। पाप के फलभोगी कहे जाते दरिद्र और दुष्कृती को, मैंने अत्यन्त उदात्त, पवित्र, और शुद्ध आत्मा भी पाया है। ये सारे भेद बहुत उथले, अटकलपंच, आनुमानिक और स्वार्थी धर्म-व्याख्याताओं की देन हैं।'

'बहुमान, तब तो लोक के जो गलाका-पुस्त, तीर्थकर, चक्रवर्ती अनन्त वैभव के श्रोक्ता और स्वामी होकर जन्म लेते हैं, वे पुण्यात्मा नहीं, पापात्मा ही कहे जा सकते हैं।'

'महाराज, आप क्या यह नहीं जानते, कि तीर्थकर ने लोक की सम्पत्ति के व्यक्तिगत संचय और स्वामित्व को परिप्रह का महापाप जाना, इसी से वे राज्य और सम्पदा को ठोकर भार कर, अकिञ्चन ही गये। जो तीर्थकर चक्रवर्ती होकर जन्मे, उन्होंने भी अपनी चक्रवर्ती सम्पदा को पाप और बन्ध का मूल जान कर, काकबीट की तरह स्पाग दिया। क्या जिनेश्वरी ने सारे पापों का मूलभूत महापाप परिप्रह को ही नहीं बताया है? तथाकथित पुण्योदय और पापोदय, अन्ततः दोनों ही, वैयक्तिक आत्मा और लोक की जीवन-व्यवस्था के घातक हैं। वे व्यक्ति और विश्व की कल्याणी व्यवस्था के भंगकर्ता, अपहर्ता और समान रूप से लौकिक और लोकोत्तर मुक्तिसार्ग के अवरोधक हैं। लोक की विषम व्यवस्था की जो जीवों के पुण्य-पाप पर आधारित बताया जाता है, यह सम्यक् दर्शन नहीं है, महाराज। इस विसम्बादी, असमवादी व्यवस्था का आधार, कोई पारमाधिक तत्व नहीं, स्वार्थिक अज्ञान और बलात्कार है।'

'तो फिर लोक-जीवन की कल्याणी क्रान्ति के सन्दर्भ में, तुम कर्म-वन्धन को कैसे व्याख्यायित करते हो, बेटा?'

'कर्मदिव्य केवल वैयक्तिक ही नहीं, सामुदायिक भी होता है, बापू। एक ही नाद में बैठे सौ व्यक्ति एक साथ डूब जाने हैं। एक काल या देश विशेष में, लाखों प्राणी एक बारशी ही दुर्भिक्ष, महामारी, प्रलयकार बाढ़ों के ग्रास हो जाते हैं; या करोड़ों प्रजा एक साथ उत्कर्ष और सवैगीण सुख की सीमा छु लेती है।' 'कर्म-वन्धन अन्ध, अज्ञान-जन्य वस्तु है, गणनाय। कर्म हमारा विद्याता नहीं, हम कर्म के विद्याता हैं। कर्म स्वीकारने, पालने,

माथे चढ़ाने की वस्तु नहीं। वह तोड़ने के लिए है, बदलने के लिए है, अपने विकास की आवश्यकतानुभार ढालने और रूपान्तरित करने की वस्तु है। बर्गभेद, ऊचनीच, धनी-निर्धन यदि शक्तियों और समूहों के अनिष्ट कर्मोदय से भी हो, तो जो लोक का सम्प्रदृष्टि शलाका-पुरुष या तीर्थकर है, जो सर्व का पुजीभूत अध्युदय होता है, वह अपनी चीतारण, निष्काम आत्म-शक्ति के स्वतंत्र और शुभ-संकल्प से, लोक के पुजीभूत सामूहिक अनिष्ट कर्मोदय का विनाश कर सकता है। वह अपने सबै बल्लभ प्रेम से सर्व के भीतर शुभ और शुद्ध आत्म-परिणाम संचारित कर सकता है। प्रेम में एक परम भाग्यिक संकामक शक्ति है। सर्वबल्लभ प्रेमी, अग्ने सर्वचरणवर व्यापी प्रेम से, समस्त लोक के प्राणि-मात्र के हृदय में ही नहीं, बल्कि कार्मिक पुद्यग-परमाणुओं तक में, एक सर्वकल्याणकारी कांति, अतिक्रान्त पर रूपान्तर उपस्थित कर सकता है। क्या आप नहीं जानते, कि तीर्थकर के गमवशरण में, उनकी शुद्ध आत्मप्रभा के प्रभाव से प्राणि मात्र के बैर शान्त हो जाते हैं? उस महाशक्ति को यदि हम पूर्ण रूप से आत्मरात् करें, तो क्या यह सम्भव नहीं, कि लोक के प्राणि-मात्र के चीच शाश्वत, निर्विरोध प्रेम का साम्राज्य स्थापित हो जाये . . . ?

'हो सका तो, मैं अपने प्रेम को ऐसा अनन्त और विग्राट बनाऊंगा कि अपने देश-काल की समस्त चित्तवस्तु को एक अमीष्ट और यर्वाभ्युदयी शक्तियों के संघात से आल्वाचित और रूपान्तरित कर दूँगा। अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुष्ठु और वीर्य जैसे अनन्त गुण और सम्भावनाएँ हैं हमारी आत्मा में। वह चैतन्य आत्मा, जड़ कर्म से अनन्त गुना अधिक बलवान है। उसके स्वतंत्र संकल्प और निष्काम इच्छा-शक्ति के लिए कुछ भी अगम्भीर नहीं। उसके अकर्ता कर्तृत्व और सम्भावना वा पार नहीं।' /

'ऐसा कुछ हो जाये, तो जादू हो जाये, दर्दमान! कोई अपूर्व चमत्कार घट जाये। हमारा कुलावतंख ऐसी कोई अतिक्रान्ति करे, तो उसे देखने को मैं जीना चाहौगा, बेटा . . . '

'जादू नहीं हो जायेगा, महाराज, न कोई इन्द्रजालिक चमत्कार होगा। आगामी तीर्थकर प्रगति और विकास की उत्कान्त्र शक्तियों के कोई अपूर्व मंत्र-बीज मानव-चैतन्य में बोयेगा। उसके जीवन-काल में भी उराका एक बिल्लबी संघात तो प्रकट होगा ही। पर विकास-प्रगति की धारा तो अन्तहीन है, क्योंकि जीवन-जगत ही अन्तहीन है। सो आगामी तीर्थकर के धर्म-शासन

की आने वर्णन कई गतान्वितों में, विभिन्न शलाका-पुस्तीं और योगीश्वरों के भीतर वे उत्कालित बीज संसरित होते, फूलें, अंकुशित होते। व्याप्तिगत और समर्पित रूपालनर्ती की आँखें एकत्रित उन दीजोंमें से विस्कोटित होती, परम्परित होती।

'वह तो दुर्विरामी तीर्थकरों की कैदन्य वाणी मिथ्या हो जायेगी ?'

'जिनेश्वरों का केवलज्ञान तो अगम्न होता है, तात्त्व, जो उनकी उपदेशधारा भी अनन्तिनी होती है। वह भाधारण सीमित जागिक वाणी नहीं होती। शब्द तो एक वार में एक देश, एक काल ही कह सकता है। तीर्थकर तो एक बारी ही, अनेकान्त, अनेक वस्तु-धर्मों वहते हैं : एक बारी ही अनेक देश-कालवर्ती मत्य कहते हैं। जो उनकी दिव्य ध्वनि प्रवद्यतीत अनहृद नाद होती है। उनके गणधर उमका असंख्यातवर्ग भाग ही दृष्टि कर पाते हैं। उसका भी असंख्यातवर्ग अंश ही के कह पाते हैं। उसका भी असंख्यातवर्ग भाग श्रुतकेवली कह पाते हैं। उसका भी असंख्यातवर्ग भाग ग्रास्त्रों के पन्ने पड़ता है। हमीसे ग्रास्त्रों नक पहुँचते-पहुँचते वह सर्वज्ञवर्णी जिनवाणी सीमित, दूषित, विकृत हो जाती है। उसमें सीमा या दोष जिनेद्र का नहीं। उन्होंने तो मदा पुण, अनेक मत्य को साक्षात् किया और कहा है। सीमा या दोष अनुशास्ताओं और श्रुतकेवलियों में होता है। हम अनुयायियों में होता है। सो वह सर्वज्ञ-वाणी कालदोष के दृष्टि से बच नहीं पाती। तत्कालीन देश-काल और जनवत सीमाओं और स्वार्थों से दृष्टित होकर, वह सर्वज्ञ प्रभुओं की आधेवाणी अनर्थक हो जाती है, और उसके प्रश्नदाता आवक-समृद्धायों तथा वर्गों के स्वार्थ की पोषक और समर्थक तक हो जाती है। दरअसल वह सर्वज्ञ-वाणी रह ही नहीं जाती है, अजों की स्वार्थ-वाणी हो जाती है।'

'तब तो, बद्धमान, हमारे आज के पाष्ठ्रानुगमी अमण-भगवत् जिस जिन-दर्शन और सिद्धांत का प्रवचन बद्धमान में कर रहे हैं, वह मिथ्या, दूषित, सीमित है, और उसे उनके प्रश्नदाता आवक-समर्थों का स्वार्थ-पोषक ही कहा जा सकता है ?'

'ऐसा हो भी सकता है, नहीं भी। पर आप जैसे विज, धर्मात्मा आवक कर्म, पुण्य-पाप, धर्म की जो व्याख्याएं कर रहे हैं, यदि वहीं उन अमण-भगवतों की व्याख्याएं हैं, तो क्षमा करें महाराज, मैं उसे भगवान पाश्वनाथ की अनैकान्तिनी जिनवाणी मानने को नैयार नहीं। और यह भी आप जान लें कि सर्वज्ञ भगवान,

दर्शन और सिद्धांत नहीं कहते। वे तो एक बासी ही, अनन्तधर्मी वस्तु-सत्य का अनेकार्थी और प्रवाही कथन करते हैं। अनिवाच को वे अपने अनहृदयाद से बाक्षान करते हैं। वह एक जैधा-जैधाया, सुनिदिष्ट, पवका गिद्धान्त हो ही नहीं सकता। दर्शन और सिद्धान्त तो बहुत पीछे आने वाले शृतज्ञानी आचार्य सुनिश्चित बौद्धिक परिभाषाओं में रखते हैं। भाषा-सीमा के कारण उन में एकान्तवाद का दोष आ जाता है। दर्शन और सिद्धान्त बन कर, नत्य एकान्तवादी हो ही जाता है। अनेकान्तिक वस्तु-सत्य का लादष्ट और यथार्थ प्रवक्ता वह रह नहीं सकता।'

'तब तो मानना होगा कि सर्वज्ञ का बचन भी ठन सकता है, मिथ्या हो सकता है ?'

'सर्वज्ञ एकवचनी वाणी नहीं बोलते, तात, वह बाक्षान होकर भी, अनेकार्थी, अनेकभाविनी वाणी होती है। वह दस और अट्स, धारणागत सत्य और मिथ्या की भाषा से परे, एक अनन्त ज्ञान-ज्योति की धारा होती है। वह बौद्धिक अर्थ, व्याख्या, विवेचन से परे, मात्र भाव-गम्य होती है। उसके शब्दण मात्र से चेतना में अविकाल्पि धृष्टि हो जाती है।' /

'तो ऐसी वाणी का मर्म आज कौन उद्धाटित करे, उसका नोध कौन कराये ?'

'उसका जो समय बोध मेरे भीतर, निरन्तर उद्भासित है, उसे किंचित् शब्दों तक लाने का प्रयास मैंने अभी किया है, भले भातामह ! जिनेश्वर भगवत्तों की कृपा से, अपने अन्तश्चेतन्य की गहराई में, उस कैवल्य-ज्योति की पूर्वाभा को मैं फूटता देख रहा हूँ।'

'बर्दमान, क्या हमारे काल का वह तीर्थकर जन्म ले चुका ?'

'निश्चय, सहाराज ! . . . ?'

'कहाँ, किस पृथ्य-भूमि मे . . . कब ?'

'वह अन्यथ और आगामी अब नहीं, राजन्। प्रत्यक्ष को प्रमाण क्या . . . ?'

'ब्रेटर ! . . . ?'

'तो अब आज्ञा दें, तात !'

'मैंकिन हमारी प्रस्तुत समस्याओं में, हमें तुम्हारा परामर्श चाहिये, आयुष्मान्। आज बात तातिक हो गई; प्रासंगिक के निरुत्तमार्थ निर्देश और सहयोग पाना चाहूँगा।'

'कल इसी समय, यहीं उपस्थित रहूँगा, भले भातामह !'

मैंने दोनों पितृजनों के चरण-स्पर्श कर चिदा ली। और मुझे लगा, कि दोनों राजयुद्ध संभ्रमित-से खड़े, मेरी जाती हुई पीठ को ताकते रह गये हैं। □□

आगामी मन्वन्तर की तलवार

— मैं को कुछ सोचता नहीं। शून्य ही रहता है। स्वयम् और सहज रहता है। कोई दस्तक देता है, तो भीतर के शून्य में से उत्तर आता है। मैंना नहीं कि महासत्ता के साथ एकतान और सम्बाद में ही जी पाता हूँ। हमी से अपने परिवेश में और लोक में जो विसंगति और विसम्बाद है, वह मुझे स्पष्ट दिखाई पड़ता है। उससे मुझे सुखबंग की पीड़ा होती है। तब मेरी स्वानुभूति ही, सर्वे के साथ एक मौलिक सहानुभूति का रूप ले लती है। सत्य, न्याय, प्रेम, अहिंसा, अपरिग्रह, उसी स्वानुभूति की जाया सहानुभूति की म्बाधानिक सन्तानें हैं। शब्द और सिद्धान्त में क्या जानूँ। भीतर का सत् जीवन में बढ़ कर जब तत् बनता है, और तिन् आन्तरिक् अनुभव होकर मेरे ज्ञानाचार में उत्तरता है, वही मेरे जिए जीवन है। यहा नहीं वैज्ञानीकति को भूमि में समाधान मिला या नहीं। पर, मेरे शून्य पर उन्होंने अपने प्रेम का द्वाधात किया है। अब उसमें से जो भी आया, और आये, वह उनका, सर्व का। उस तरह मैं वैज्ञानी के और लोक के कुछ काम आ सकूँ, तो मेरा होना याथेक हो जाये।

“आज जब मंदणगृह में पितृजनों के समीप उपस्थित हुआ, तो वे परेण्यान और किन्धायित-से दीखे। उनके भीतर अब तक वर्ण अङ्गार! कल की बात मेरे जैसे छवस्त हो गये थे, और वे किनारा पाने को कहीं अधर और मध्यांतर में छटपटा रहे थे।

‘आयुष्यमान्, वैज्ञानि का अन्तित्य खतरे में है। उसका इष्ठ अब कोवल तुम्हारे हाथ है।’

‘देखार्हा’ मेरे अधिक धीमान और जकियमान दूसरा राष्ट्र ना मैं आज पूर्वी पर नहीं जानूँ, महराज। उमकी प्रामाण्यमालाओं के शिखरों पर दिगंगनाम-

गमन करने आती हैं। उसकी मंदिर चूड़ाओं के चिन्तामणि-दीपों से आसमुद्र पृथ्वी आलीकित है। उसके राजन्यों और धनकुबेरों के कोषागारों में बमुन्द्रा के मारभूत सुवर्ण-रत्नों को राखियाँ लोट रही हैं। उसके चैत्य-काननों में निरन्तर धर्मणों की धर्मदाणी प्रवाहित है। उसके लोक-हृदय पर अनुसर सुन्दरी आम्रपाली शासन करती है। महानायक सिंहभद्र और आचार्य महाली जैसे महाधनुर्धरों के दिगंबतेधी तीर उसके भरक्षक हैं। वह मंसार में, सर्वतत्र स्वतंत्र गणतंत्र के रूप में सर्वोपरि विक्षयात है। और उसके संथानार में राजनिःहासन नहीं, बैलोकगेष्वर जिने अपनान का इतिहास इतिहास लिखा है। यह एक चौल विश्व की चूड़ामणि नगरी है बैशाली, महाराज। उसका अस्तित्व खतड़े में है। बात ममझ में नहीं आती, भन्ते मातामह! और मूँझ जैसा अनज्ञन अकिञ्चन उसका आण करें? विचित्र लगता है, राजन्!

‘बद्धमान, बैशाली की यह अप्रतिम समृद्धि और उसकी स्वतंत्र सत्ता ही तो आज सारे आविर्त्त के राजुलों की ओरों में खटक रही है। मगध सम्बाट विभिन्नार श्रेणियों ताङ्गलिपि से पाणीब देश तक एक महासाम्राज्य स्थापित करने का सपना देख रहे हैं। चिरकाल की अजेय बैशाली ही उनकी राह का सबसे बड़ा रोड़ा है। बैशाली जय हो जाये, तो फिर आर्यावर्त के अन्य सारे राजतंत्र और गणतंत्र उस अपनी मुहूर्णी में दीखते हैं।’

‘पर अजेय शक्तिशाली बैशाली को भय किसलिए?’

‘सदा आतंक और मुँह की लभकारों तले जीना भयानक और खतरनाक ही कहाँजा सकता है, बेटा? भेड़ियों का भरोसा क्या? कब कहाँ से दूढ़ पड़े?’

‘सम्बाट विभिन्नार तो आपके जामाता हैं, भन्ते तात! और मेरी विश्व-माहिनी मौसी चेलना, मुनता हूँ, उनके हृदय-राज्य पर एकतंत्र शासन करती हैं। आपको अपनी ऐसी समर्थ बेटी का भी कोई सहारा नहीं? और फिर आर्यावर्त के कीन से राजेश्वर आपके जामाता नहीं? अवन्तीगति चण्ड प्रद्योत, कौणास्त्रीकाय मृगांक, पश्चिम समुद्राधिपति उदायन, पुर्व सामरेश्वर अंगराज दधिवाहन, दशार्णपति दशरथ, आर्यावर्त के ये सारे ही शिरोमणि महाराजा आपके जामाता हैं। ये सब मेरी सुन्दरी मौसियों की गोद के छीन बने हुए हैं। और मगध का दुर्वण्ड प्रकाणी राजकुमार अजातशत्रु और भृकुन्दीहन वत्सराज उदयन आपके भाजे हैं। आपकी बेटियों ने इन राजकुलों की पीढ़ियों

में अपना रक्त ढाल दिया है। जान पढ़ता है, वैशाली को विष्व-सत्ता बनाने के लिए आपने जम्बूदीप के छोरों तक अपनी नाकेवन्दी कर ली है। फिर वैशाली की सुरक्षा में क्या कमी रह गई ?'

मेरे पूज्य मातामह का आसन होलता दिखाहै पड़ा। उनकी बुनियादें परवरह रही थीं। सकपकाये से बोले :

'देश से कैसा है देश ? आश्रित ही अबलाएँ हैं ?'

'कोशकाओं ने नारी को अबला जाने क्या सौन कर कहा । पर पुराण और इतिहास में इन बलाओं का प्रताप क्या आपने नहीं देखा ? इनके एक कटाक्ष की मोहिनी पर क्या आपने साम्राज्यों की भर्मीभूत होने नहीं देखा, पुरुषोत्तमों को हार जाते नहीं देखा ? हम पुरुषों ने आपने तुर्दम्य बल से इन महाबलाओं की मृदुता को दबोच कर, इन्हें अबला बनाये रखने का सहापाप किया है। इनकी निसर्गदत्त मातृ-भूमता, और प्रिया-सुलभ समर्पणकीलता का हमने शोषण किया है। वर्ना मेरी मौमी महाराजियाँ, आपने प्रेम की सत्ता से पृथ्वी का भाग्य बदल सकती थीं !'

'जो बस्तु-स्थिति है, वह तो तुम देख ही रहे हो, बेटा । बिम्बसार से भी अधिक हमारा भागिनीय अजगतस्त्र, वैशाली पर आपने दौलत गड़ाये हैं ।'

'देख रहा हैं सात, हमारा ही रक्त हमारे विरुद्ध उठा है । यह काम-भाष्याज्ञ है, महाराज, इसमें कोई किसी का संगा नहीं । कामिनी और कांचन की ठड़डी शिलाओं में चूने इन दुगों की बुनियादें, तृष्णा की चाल पर पड़ी हुई हैं, गणनाथ । तृष्णा के इस महा भयाचह जंगल में कौन सुरक्षित है ? यहाँ कौन किसी को पहचानता है ? जहाँ हम आपने ही को नहीं पहचानते, आपने ही शत्रु बने हुए हैं, वहाँ दूसरे के साथ मैत्री और प्रेम का क्या आधार हो सकता है ? हम अब यहाँ एक-दूसरे को अजनवी और पराये हैं । आपनाया और मम्बन्ध मात्र यहाँ स्वार्थ का है । आप जैसे जानी भी अहं-स्वार्थों के इस दुष्प्रक की कड़ी बन गये ? मृगमरीचिकाओं में कल्याण-राज्य खोज रहे हैं ?'

'मात्रा जगत आज वैशाली को कल्याण-राज्य कहता है । वह क्या शुभ है, आपृथ्यमान ?'

'सलवा कल्याण-राज्य तो प्रेम का सर्वगाज्य होता है । वह निम्नी भी बाहरी राज-सत्ता से आतंकित और भयभीत क्से हो सकता है ?'

'जो हो रहा है, वो कि तुम देख ही रहे हो, बेटा !'

'जो मैं देख रहा हूँ, वह कुछ और ही है, राजन् ! और आपके ध्यान में जायद वह बाहर नहीं ! गंगा और शोण के संगम पर मगध और वैशाली का भीमांतक प्रदेश है। उस प्रदेश की नदी-घाटी में जो सुवर्ण की खान है, उन पर इन दोनों ही राष्ट्रों का समान अधिकार है। गंगा-शोण संगम के पश्चन-घाट पर जब भी उस सुवर्ण से लदे जहाज आते हैं, तो आधी गत ही वैशाली के महाधनुर्धर महाली अपना सैन्य लेकर वहाँ पहुँच जाते हैं। - और आनी वाणीवली के बल पर सातों हा भु भार सुवर्ण के बड़े हैं बटोर ला कर वैशाली को छम्य कर देते हैं। और सबेरे जब अजातशत्रु अपना सैन्य ले कर, अपने भाग का सुवर्ण लेने आता है, तो खाली जहाजों पर तबाह टकरा कर वह लौट जाता है। मगध की सलवार यदि अब हमारे द्वान की प्यासी हो उठी है, तो किसका दोष है, महाराज ?'

'संधिराज्य का सुवर्ण सदा बाहुबल और शस्त्रबल में ही बढ़ोरा जाता रहा। उमका अन्तिम निर्णय कब कहाँ हो सका ? अजातशत्रु समर्थ हो, तो अपने बाहुबल से उठा ने जाये वह सुवर्ण ! हमें कोई आपत्ति नहीं !'

'तो बाहुबल और शस्त्रबल की इस टक्कर पर आधारित राज्य तो सदा आनंद-छाया में ही जियेगा, राजन् ! यह तो एक स्वतः सिद्ध गत है। भौतिक अमृद्धि ही जिस राज्य का सर्वोपरि लक्ष्य हो रहे, उमका अस्तित्व सदा भय में ही रह सकता है। आज वज्रियों से अधिक सम्मतियाली विश्व में कोई नहीं। विदेशी यात्री वैशाली के ऐश्वर्य को देखकर सत्तम्भित रह जाते हैं। पांचव का शासन-शास, महाचीन, और यदन ऐसे तक को सत्ताएँ वैशाली के कामिनी-कांचन पर गुड़-इटि-नगाये हैं। तो भारत के इन बेचारे राजुलों की क्या विभास ? अपने इस सुवर्ण-साम्राज्य के विश्व-व्यापी विस्तार के लिए, हमने अनेक अलिङ्गनियि श्रेष्ठियों और सार्थकाहों को भी वैशाली में बसा लिया है। अतल सारों और पृथिव्यों की अलभ्य रत्न-सम्पदा उनके तहखानों में बन्दी है। ताम्रलिपि के भूमध्य से क्षीर-सफ़िक और महार्नील जैसे दिव्य रासायनिक रत्न निकलते हैं। रेषारी वहाँ की प्रजा उन्हें अपने लिए रख पाने में असमर्थ है। अपने लक्ष-कोटि हिरण्यों की क्रय-सामर्थ्य से वैशाली के ध्रेष्ठ उन्हें चरीद लाते हैं। और निश्चय ही वे संघातार के सिंहासन पर विराज-मान जिनें देव के दुर्ग में नहीं चढ़ते। अधिकतम हिरण्यों की स्पृष्टि पर

चढ़ कर वे महाराजियों और वारवनिताओं के रुग्न-राज्य की मोहिनी को भयंकर से भयंकरतर बनाने हैं।

'पर वद्दमान, उन्नत प्रजाएँ सदा ही भौतिक समृद्धि के जिखरों पर पहुँची हैं। तुम हमारे इस राष्ट्रीय उत्कर्ष को अनिष्ट मानते हो ? वह तो हमारे समस्त जनगण के उल्लङ्घन ऐहिक कल्याण का साधन है। जनगण के इस उत्कर्ष को !'

'इसमें जनगण का कोई उत्कर्ष नहीं, महाराज ! बेशक गणराज्यों के उत्कर्ष की कोई मीमा नहीं ! हमारे इस नन्दावते प्रायाद का यह स्वर्गिक वैभव, इस मंत्रणा-गृह की ये मुकाफित रनन्यवनिकाएँ इसका प्रमाण हैं. पिन्-देव !'

मुन कर गिता और मातामह की जैसे तबे काँप उठे हीं। वे कुंचित भौंहों से अपने इस बागी बेटे को फ़न्देह की दृष्टि से देख रहे।

'पर इस राष्ट्रीय उत्कर्ष का लाभ अन्तः तो सारे जनगण को पहुँचता ही है।'

'हाँ, मक्खन-मलाई शासक और थेलिं बटीर लेसे हैं, फिर बचा हुआ निःसत्त्व दूध तो जेशक गण के हर जन तक पहुँचता ही है। हम समर्थों के शमियों की खुचन-खाचन और जूठन भी इतनी तो होती ही है, कि उसे पाप्त भी प्रजाएँ अपने शन्य भाग्य मानती हैं।' मैंने देखा है, महाराज, ये जनगण महान् हैं। जो पाते हैं, उसी से सन्तुष्ट है। निलोभ, निरासकत, निर्याप है। कुल राजाओं और थेलिं थाकरों से, इन शमियों की आत्माएँ उच्चतर हैं। उनका चारिष्य, अभिजात बगों से धेलतर और उल्लङ्घतर है। शमियों के धर्म को, सच पूछो तो, मैंने उन्होंने अकिञ्चनों में जीवित देखा, बैशाली के महालयों में नहीं।'

'हमारे यथा में कोई अभावप्रस्त नहीं, वद्दमान ! प्रचुर भात्रा में अस-कल्प, जीवन-साधन सबको मुलभ है।'

'अभाव निश्चय ही नहीं है। पर दैन्य है, दारिद्र्य है, शरीरी है। धनी और निधन के बीच की खाई बहुत बड़ी है। कुछ सोन लोक के सारे धन का अपहरण करके बढ़े और धनी बने हैं। कलतः शेष जन छोटे और दीन हुए हैं। उन्हें निर्धन और दीनहीन रखने में ही उन धनियों और राजाओं का अहंकार तुष्ट होता है। जैसा कि कल भी मैंने कहा था, मानवों और

प्राणियों के बीच, मानवों द्वारा निषेजित यह वैषम्य, महान् पाप है, अधर्म है, भग्ने तात। यह कर्म-विहित नहीं, मानव-निर्मित अन्याय है, सामाजिक अन्याय। निमग्न वस्तु-स्वभाव में, महासत्ता के मूल राज्य में, वैषम्य कही नहीं, विसम्बाद कही नहीं। जिनेन्द्रों द्वारा कथित वस्तु-सत्य को व्यक्तिगति कर, जो यह विषम राज और समाज-असत्य, इसा और अस्याय का अधर्म-राज्य है, पाप-राज्य है, काम-राज्य है। उसके मूल में ही विनाश है, छतरा है, मंकट है। जो राज्य असत्य पर टिका है, उसे देव-पुर में लौपत ही रोगा।

'भय और आतंक तो ईर्ष्यात्मों और हमारी उश्नि के हेतियों ने उत्पन्न किया है, कुमार !'

'उस भय का बीज पहले आग में है, मृग में है ; जो खोरी की सम्पदा को अपने तहखानों में रखेगा, वह सदा भयभीत तो रहेगा ही ! व्योकि तब बाहर के समान स्वभावी अन्य मानव उस सम्पदा से ईर्ष्या और द्वेष करेंगे ही। मैंने कहा था न, तात, अहं-स्वार्थ, राम-द्वेष के इस प्रतिक्रिया-जनित दुष्प्रब्रक का अन्त नहीं। शासक-तंत्र, सेना, कानून, राजन्यायामालय, शस्त्रायार, तालों, परकोटों, दुर्गों, सौकिलों और अर्गलाजों से रक्षित राज्य सदा आतंकों और युद्धों के भय में ही जियेंगे। व्योकि वह राज्य-सम्पदा चोरी की है ; वह ईच्छी सम्पदा नहीं, आमुरी सम्पदा है। जिस राज्य में करोड़ों को दीमहीन रख दें, कुछ लोग अपार एकवर्य में बिलखते हैं, वह वस्तु-धर्म का विद्वेषी पाप-राज्य है, पिलूदेव। चुगाई हृड अतिरिक्त सम्पदा है वह, अनश्चिकार भोग है वह, इसी से तो उसके भोकता, सदा भयभीत रहते हैं, सैन्य, कोटिवाली, कानून और दुर्गों से वे अपनी इम पाप-सम्पदा को सुरक्षित रखना चाहते हैं। पर वह कब तक ? यदि आप सदा बनात्कार के बल जीना और भोगना चाहते हैं, तो दूसरा सदा-बनात्कारी होकर आपकी सम्पदा और राज्य को छीन लेता है, उसमें अन्याय कही है ? बल के जंगल राज्य में बल ही सत्य है, न्याय है, निर्णायक है। उसमें किर मगध और वैशाली में कहीं अस्तर करें, समझ नहीं पाता हूँ, महाराज ?'

'जब चारों ओर बनात्कार का जंगल फैला है, तो आत्मरक्षा के लिए, क्या शासन-तंत्र अनिवार्य नहीं ? दुर्ग, परकोट, सैन्य, शस्त्रायार, कानून, न्याय-लय, चौकी-पहरा आखिर तो आत्मरक्षा के लिए हैं, प्रजा की रक्षा के लिए

है। कोई भी शासन-तंत्र लाड़ों-करोड़ों प्रजाजन की सुरक्षा के लिए ही तो नियोजित होता है। उसे भी तुम न्यायसंगत नहीं मानते ?'

'मुझे तो नहीं दीखता, अब राजन्, कि शासन, सेव्य, शक्ति, दुर्ग और कानून प्रजा के लिए हैं। उनके तल को टटोल देखिये, तो साफ दीखेगा कि ये सारे राज्यतंत्र, और इनके अगमूत सुरक्षा-माध्यन, किर चाहे वे राजतंत्र हों या गणतंत्र के हों, प्रजा की रक्षा के नाम पर, वे प्रधमतः और अन्ततः शासक, और श्रीमंत वर्षों की शत्रा और सम्पदा की सुरक्षा पर नियोजित रहे हैं। तीर्थकर ऋषभदेव, ईश, भरत, और राम आदि के राज्य इसके अपवाद ही कहे जा सकते हैं। क्योंकि ये शत्रा का पुरुष भूलतः अपनी जेतना में ही अपरियही और सर्वस्व-स्पागी थे। बाकी तो सारे गजत्रों का इतिहास मुझे सो शासक और धनिक वर्गों के स्थापित-स्वार्थों की सुरक्षा का इतिहास ही दीखता है।'

'इसके माने तो यह हूँ, कि राज्य में कुम्हारा विष्वास नहीं। पर यह तो तुम भी मानते हो, कि यह जगत बलबानों की आपाधारी का जंगल है। राज्य ही न रहे तो इस अराजकता की पराकाणा ही जायेगी। मनुष्य-मनुष्य को फाड़ खायेगा।'

'यह सच है, मने तात, कि मनुष्य, मनुष्य को फाड़ न खाये, डर्मि स्थिति से उबरने के लिए राज्य अस्तित्व में आया। पर यह राज्य-संस्था भी क्या उम अराजकता से मनुष्य का ब्राण कर सकी ? परस्पर फाड़ खाने की जगन-नीति व्यक्तिएँ के स्तर से उठ कर, सामृद्धि क्षतर पर अवश्य आ गयी है। इस बर्बरतम ने अधिक सूक्ष्म होकर, सम्यता के कपड़े पहन लिये हैं। सम्यता के दीरान पार्श्वगिक भार-फाड़ और ओपण ने अधिक संगठित रूप धारण किया है। उभने पहले से अधिक धातक और विरेले श्रस्त्रों का आविष्कार किया है। पहले एक-दूसरे की मारता था, एक-दूसरे से भय खाता था। अब तो लक्ष-लक्ष मानव-समूह, ना कुछ समय में लक्ष-कोटि प्रजाओं का संहार कर देता है। राज्य-संस्था द्वारा अराजकता किंचित् भी मिटी नहीं, महाराज, वह अधिक सूक्ष्म, भयंकर और मत्यानाशी हो उठी है। मुझ और आपूर्ध, कला और विज्ञान बने हैं : वे नैतिकता, राजनीति, कूटनीति के नाम पर कपट-कौशल बन कर, धर्म और प्रजा-धारन को आड़ में, भयंकरतम सर्वसंहार की ओर प्रगति कर रहे हैं।'

'तो तुम, बल, राज्य और शासन के मूलोच्छेद में विष्वास रखते हो ? राज्य में तुम्हारी कोई निष्ठा नहीं ?'

'अहं-स्वार्थी' के दुश्चक्रों पर आधारित राज्य-शासन का निष्ठय ही मूलोच्छेद कर देना होगा। मणनाथ ! राज्य वह, जो मूलगत अवश्यकता का उच्छेद करके, सर्वसम्मादी मौलिक राजकता स्थापित करे। धर्मराज्य की स्थापना हारा ही वह सम्भव है। धर्म-राज्य वह, जो व्यक्ति और वस्तु के मूलगत धर्म के आधार पर स्थापित हो। 'वस्तु-स्वभावो धर्मो' : वस्तु का स्वभाव ही धर्म है। महासत्ता के उस मूलगत धर्म-राज्य में वस्तु और व्यक्ति दोनों ही पूर्ण रूप से स्वतंत्र हैं। उतका अपना-अपना स्वतंत्र परिणमन है। उस स्वभाव-राज्य में, एक-दूसरे पर अधिकार-स्थापन की काइ स्थित नहीं। स्वाभाविक आत्मदान के आधार पर ही उसमें पारम्परिक आदान-प्रदान सम्भव है। शुद्ध सत्ता के उस मौलिक विश्व में, सत्य, अहिंसा, अचौय और अपरिश्वह स्वाभाविक रूप से ही प्रतिष्ठित हैं। वस्तु-धर्म के और स्वधर्म के आलमानुशासन में हम जियें, तो पारम्परिक व्यवहार में उपरोक्त आचार स्थित ही प्रतिकृति होगा। आत्म-रक्षा का मूल-मूल है—'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'। 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'—अपने शुद्ध रूप में, उसी वस्तु-धर्मी व्यवस्था में सम्भव है। अभी जो व्यवस्था है, वह तो 'परस्परोपग्रह स्वार्थनाम्' की नीति पर आधारित है। वद्दमान, मानवों में बढ़ाव इस स्वार्थ-राज्य का मूलोच्छेद करके, मूल मत्ता में विराजमान 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' का पारम्परिक धर्म-राज्य प्रस्थापित करने आया है।'

'माधु-साध, बेटा ! हमारा कुल तुम्हें पाकर धन्य हुआ। इष्टबाकु धर्मराजे-ज्वरों के तुम मच्चे नेजधर और बंशधर हो। पर बेटा, आत्मा और अस्तु के इस पारम्परिक निष्ठय धर्म की स्थापना तक, हमें व्यवहार धर्म की क्रमिक श्रेणियों में गुजार कर ही तो गहुँचना होगा ? इसी लिए न हमारे थमण भगवंतों ने निष्ठय-मम्यकल्प और व्यवहार-सम्यकल्प में भेद करके उत्तरोत्तर आत्म-विकास का प्रक्रमिक श्रेणिगत राजमार्य स्थापित किया है।'

'निष्ठय और व्यवहार भम्यकल्प के इस भेद के पीछे एक विवेक अवश्य था, बायू। पर नित्य के जगत और जीवन का इतिहास-व्यापी अनुभव यह बता रहा है कि यह भेद, वस्तु-सत्य और आचार के बीच सदा एक अभेद दीवार ही सिद्ध हुआ है। इस भेद की दीवार की ओट सुविधा, समझौते और प्रचलन स्वार्थों के पाखण्ड ही पनपे हैं। और धर्म की आड़ में पासंडों की यह परम्परा सुदृढ़तर होती चली गई है। श्रीमतों और शासकों के हाथों में यह कहा जाता व्यवहार भम्यकल्प शोषण और स्वार्थ-प्रोपण का अमोघ हथियार बन कर रह गया है। इसी से कहना चाहता हूँ, भले, कि निष्ठय और व्यवहार का यह भेद-विज्ञान

एक विषय प्रयोग मिल हुआ है। भेद की इस पाखण्डी दीवार का पर्दाफाश करने के, ये इसे सदा के लिए ध्वनि कर देना चाहता है। 'वस्तु-सत्य दो नहीं, महाराज, एक ही है। धर्म दो नहीं, पितृदेव, एक ही है। सम्यक्त्व दो नहीं, एक ही है। सम्यक्त्व एकमेव है, अस्ते, एकमेवाद्वितीयम् है।'

'पर हमारे अमण भगवंत तो आज भी इस द्विविद्य धर्म-मार्ग का उपदेश कर रहे हैं, बेटा। क्या तुम उसे मिथ्या कहोगे ?'

'अमण भगवंत क्या कहते हैं, मुझे नहीं मालूम। पर मुझे सम्मेद-शिखर के नूडलन से भगवान पाश्वनाथ की धर्मवाणी स्पष्ट सुनाई पढ़ रही है। या तो सम्यक्-दर्शन है, या फिर मिथ्या-दर्शन। बीच में कोई व्यवहार-सम्यक्दर्शन जैसी चीज ठहर नहीं पाती। उसे दृहराया गया, तो वह पाप और पाखण्ड की लोगोंनी सिद्ध की है। वस्तु, हिंसा, शोषण, दंडिह और अभिचार उसकी ओट धर्म की मुन्दर वेशभूमा में सज कर प्रकट हुए। लोक में यह मिथ्यात्व सिद्ध हो चुका है। इस भेद के चलते, धर्म एक निर्जीव और दिखावटी श्रावकाचार हो कर रह गया है। भाव एक रुदी-निर्वाहि। अपने भाव के दूसरे मनुष्य या जीव के साथ हमारा कोई सम्बेदनात्मक, जीवंत सरोकार नहीं। कहाँ है हमारे भीतर, मानव मात्र और प्राणि मात्र के प्रति कोई उल्लंघन सहानुभूति, अनुकूला, मैत्री, करुणा ? कहाँ है हमारे भीतर गर्व के प्रति कोई सक्रिय आत्मोपम भाव। हम श्रावकाचार के नाम पर केवल सूक्ष्म एकेन्द्रिय स्थावर जीवों की धोयी दवा पालते हैं। हम पानी को छान कर पीते हैं; मच्छर तक को नहीं मारते। सूक्ष्म निगोदिया जीवों तक की रक्षा के रुदी-प्रचलित जतन करते हैं। पर राज्य और सम्पत्ति के उपार्जन और संग्रह के लिए अनर्गल भाव से, लक्ष-नक्ष मानवों का झोणण करने चले जाते हैं। आत्म-रक्षा के व्यवहार धर्म के नाम पर हम सहभों मानवों को तलबार के धाट उतार सकते हैं। पर क्या उससे मत्त्वी आत्म-रक्षा सम्भव होनी है ?'

'पर वर्द्धमान, हम तरह तो जगत में अस्तित्व धारण असम्भव हो जायेगा। महाब्रह्मी मुनि के लिए तो यह एकात्म निश्चय और सर्वत्याग का मार्ग उपयुक्त है। पर अणुब्रह्मी श्रावकों और गृहस्थों के लिए तो अरिहन्तों ने, आत्मरक्षा के हेतु शस्त्र उठाने को धर्ष ही कहा है न। तीर्थकरों और चक्रवर्तियों तक ने आत्म-रक्षार्थी और लोक-रक्षार्थी, अत्याचारियों के विरह शस्त्र उठाया। क्या राजयोगी-शवर भरत और कमेयोगीश्वर बासुदेव वृष्णि ने अपने चक्र से बनात्कारियों और अत्याचारियों का संहार नहीं किया ?'

'मुनि भन्ने तान, हिमा का सम्बन्ध शस्त्र-व्यहार या शस्त्र-नियाग से नहीं। तलबार तलाने न चलाने, काटने न काटने जैसी स्थूल शियाओं में हिमा-अहिंगा अमाहिन नहीं, गीर्जित नहीं। हिमा या अहिमा का सम्बन्ध विशुद्ध आत्म-परिणाम से है, अनुश्च के अन्तर्लंभ भाव से है। द्रव्य-हिमा तो उसकी एक फल-स्वरूप शिया भाव है। द्रव्यन तो कौन कियको काटता है, रून मारता है, और दोन मरना है? शिया में तो केवल पुद्गल देह, पुद्गल देह को काटता है: तलबार, तलबार को काटती है: फौजाद, फौजाद को काटता है। आत्मा तो अमर है, और पदार्थ अविनाशी है। फिर मरना, मारना, कटना, काटना एक ग्रोगचारिक महाया मात्र है। हिमा और अहिमा का सम्बन्ध वाह्य शिया या पदार्थ से नहीं, आत्म-परिणाम से है, आत्म-भाव के कथयन से है। निष्काम और निष्पाशय जो शुद्ध सर्व कल्याण के भाव से तलबार उठता है, वह निष्चय नहीं हिसक नहीं होता। अगल चक्रवर्ती की तलबार और कृष्ण का सुदृश्यन नक, निष्चय ही अहिंगक थे। क्योंकि उनके पीछे न तो उनके स्वपरिणाम का घात था, और न पर के घात का कघाय था। ऐसा संहार भारक नहीं, नारक ही हो सकता है। बामुदेव ब्राह्मण ने जिसे प्रारा, वह तर गया। योगिष्ठवर भरत ने जिसे मारा, वह पाप से उबर गया। इग विश्व के मकान ऐश्वर्यों को भोग कर भी, वे अभोक्ता और अभुक्त ही रहे। उनके भीतर निशुद्ध सम्यक्दर्शन ही, शुद्ध सम्यक्-चारित्य वन कर प्रकट हुआ था। सम्यक्-चारित्य वाहर से धारण करने और पालन की चीज नहीं, वह मात्र आत्मा की सम्यक्दर्शन प्रयोगि का शुद्ध, स्वाभा-विक, उचित परिणाम होता है। तब स्पष्ट है कि निष्चय सम्यक्दर्शन से ही, लोक-व्यवहार का शुद्ध कल्याण-मार्ग प्रकट होता है। निष्चय है मात्र शुद्ध सम्यक्-दर्शन और उसके अनुगार जो शुद्ध आचार है, वही शुद्ध व्यवहार-चारित्य है। दृष्टि भास्यकूल की शुद्धि पर, शुद्ध आत्म-स्वभाव पर रहनी चाहिये। तब व्यवहार अपने आग ही शुद्ध होता है। बीच की ओर हर कोई योजना अनिवार्यतः गिर्यारह होकर रहेगी।'

'और जब तक हमारे बीच नारायण कृष्ण या भरतेष्वर न हों, तब तक क्या हमें आत्म-रक्षा के लिए तलबार उठाने का अधिकार नहीं?'

'यह अविश्वास क्यों, महाराज, कि आज भी हम में से कोई शुद्ध सम्यक्दर्शन के साथ तलबार नहीं उठा सकता। निष्काम और निष्पाशय ही कर तलबार उठाने का संकल्प हम में क्यों नहीं उठता? इस कायरता में ही यह अलफता है, कि अपनी आत्म-रक्षा की शुद्धता में हमें मन्देह है। हमें अपनी निःस्वार्थता, निष्कामता,

निष्काषायता में सन्देह है ! हमारी इस आत्म-रक्षा की भावना में सत्ता और सम्पत्ति के अधिकार और परिश्रह का चोर छुपा बैठा है ।

'वर्द्धमान, तुम हमारे लिए बहुत कठिन कसौटी प्रस्तुत कर रहे हो । हमें हमारी सामर्थ्य से परे कस रहे हो ।'

'निष्वय ही कमँगा, बापू ! क्योंकि आप मेरे स्वजन हैं, आप मेरे शक्ति हैं । क्योंकि हम निर्बलि कृषभ और भरतेश्वर जैसे निष्काम कर्म-योगियों के दंशधर हैं । मगा दावा आप गर न हो, तो किस पर हो ? वैशाली में मेरे मत नीथेवार का धर्म-मिहासन बिछा है । मैं उसे महाम देखना चाहता हूँ । मुझे यह असह्य है कि वैशाली स्वार्थ, सुविधा और समर्जनीति की राजनीति का खिलौना ढाने । कि वैशाली लोक के आदिकालीन मिथ्यात्म की शृंखला की कड़ी ढाने । मैं यह देखना चाहूँगा, कि वैशाली असत्य और हिंसा के उस आदिम दुश्चक का भेदन करे । वह पहल करे । वैशाली यदि यह नहीं करती, तो उसका विनाश अनिवार्य है ।'

'वर्द्धमान, तुम अपने ही प्रति बहुत कठोर हो रहे हो ।'

'वर्द्धमान मब से पहले, अपने ही भीतर दृष्टि बैठे शत्रु का मंहार करता है, राजन् ! यही उसके होने का प्रयोजन है । वर्द्धमान आत्म-अरिहन्ता अरिहन्तों की अजेय परम्परा का सुप्रधार है, मन्त्र तात !'

'तो फिर तुम्हीं वह निष्काम और निष्काषाय तलबार, अरिहन्तों की शासन-भूमि वैशाली की रक्षा के लिए उठाओ, वर्द्धमान ! . . . '

'वह तलबार उठाने की अपनी योग्यता और सामर्थ्य में मुझे रंच भी सन्देह नहीं है, महाराज । अगिकायं हुआ तो उठाऊँगा तलबार, आप निष्चिन्त रहें । पर अपनी नियति को मैं जानता हूँ । मेरा चक्रवर्तित्व धर्म-साम्राज्य का होगा, कर्म-साम्राज्य का नहीं । महासला ने मुझे उसी आसन पर नियोजित किया है । इसी से इन सारे अनाचारों के सम्मुख मैं चूप हूँ, और लोक की वेदना के विष को चुपचाप अपने एकान्त में पी रहा हूँ और पचा रहा हूँ । क्या आप सोचते हैं, महाराज, लोक में धर्म के नाम पर नल रहे, देन दानवीय सर्वमेधयज्ञों से मैं अनभिज्ञ और अस्पष्टित हूँ ? अमंड्य निर्दीष प्राणियों की चील्कारे और फ़लदन मेरी आत्मा में अनहृद नाद बन कर निरन्तर गूँज रहे हैं, देव ! मेरी वह नियति होती, बापू, तो अब तक लोक मेरी निष्काम तलबार के तेज से जाज्वल्यमान ही चुका होता । लेकिन . . . '

'लेकिन क्या, बैदा ?'

‘...फौलाद की तलवार से आगे, एक और तलवार है आत्मा की। जो एक ही अधिभाज्य मुहर्ते में, विनाश और निर्माण एक साथ करती है। अब तक वह केवल आत्म-ज्ञान में नियोजित रही। हो सके तो मैं उसे आगामी युगों में लोक-ज्ञान में नियोजित देखना चाहता हूँ। उस तलवार के अवतरण तक, मेरे द्वारा फौलाद की तलवार को स्थगित रहना होगा। हो सके तो महावीर आगामी मन्त्रन्तरों में स्वयम् अमोघ आत्म-शक्ति की वह तलवार होकर प्रकट होना चाहता है।’

'लेकिन तब तक लोक-व्यवहार कैसे चले ? आज, अभी क्या हो ?'

'इसी से तो कहता हूँ, मन्ते तात, मुझे आज निष्काम योगीश्वर कृष्ण की ज़फरत है। मुझे उस कर्म-चक्रवर्ती जी इहाँ है, जो अधिगत वकलती नहीं, उसके कोषाचार में, त्रिखण्ड पृथ्वी का विजेता चक्र, स्वयम्भु रूप से जन्मा था। लेकिन उसने त्रिखण्ड पृथ्वी जीत कर भी, सिंहासन भोगना स्वीकार न किया। अपने काल के अनाचारी साम्राज्य-लोकुपों और सिंहासनधरों के सिंहासन उसने अपनी दोकर्णे से चूर्चूर कर दिये। सिंहासन-मंजक हो कर आया था वासुदेव हृष्ण। सो स्वयम् अपने ही सिंहासन का उसने सब से पहले मंजन किया। और तब उसकी कल्याणी ओकर इतनी तेजोमान हो उठी, कि लोक के सारे अनाचारी सिंहासन और अक्षित उसके दर्शन और छुचन भाव से भस्म हो गये। सत्य, न्याय, अहिंसा, प्रेम और अपरिग्रह का मूर्तिमान कर्म-विग्रह था कृष्ण। भगवती महासत्ता ने उसके भीतर कर्म-चक्रवर्ती, लोक-आत्मा शक्ति के रूप में अवतार लिया था। तबवार की धार की तरह खरतर थी उसकी सत्य-निष्ठा, न्याय-निष्ठा और वीतरागता। ऐसी वीतरागता और समता का वह स्वामी था, कि लोक के कल्याण के लिए उसने स्व-वंश नाश का खतरा तक उठा लिया। अपनी लीला से उसने छप्पन करोड़ यादवों की देव-नगरी हारिका में आग लगा दी। और स्वयं इस कामराज्य से निर्वासित हो गया, ताकि वह इसके दुश्चक्ष को तोड़ सके। अंतिम सौंस तक इस दुश्चक्ष के भेदन, और धर्मराज्य के प्रवर्तन का भहामाव और भहाप्रयत्न उसकी आत्मा में चलता रहा। उसने इस कामराज्य के महल में नहीं, जंगल के एकान्त में ओसल, भनुष्य की ओसल से ओसल, मर जाना पसन्द किया। हिंसामत लोक के पारधी का तीर अपनी पगतली की जीवन-मणि में बिघवा कर उसने आत्मोत्सर्म कर दिया, आत्माहृति दे दी। उस हीर के

फल में पूंजीभूत, प्रमत्त लोक की हिसाका विष वह चाट गया। अपने ही भाई के विषथगामी इस है उसने दरहाया है करवाई। सुन रहे हैं, महाराज, सत्यंघर कृष्ण ने, लोक के परिनाम के लिए, अपने वंश तक का मूलोच्छेद कर दिया। . . .
‘मुझे इस काण उस कृष्ण की ज़रूरत है।’

‘मेरी आँखों में, लफलपाती ज्वाला की तलबार देख कर, दोनों राजपुरुष सहम उठे। मातामह भोह-कातर हो कर कलदन-सा कार उठे।

‘लिङ्छवि कुल और वैशाली के विनाश के लिए?’

‘लिङ्छवि कुल और वैशाली के चूड़ान्त उत्कर्ष के लिए! . . . और उसके लिए स्व-वंशनाश अनिवार्य हो, तो वह तक मैं चाह सकता हूँ। ताकि शातपुत्र बद्धमान महावीर का वंश लोक-परिवारा तीर्थकर के तेज-गौरव से भंडित हो। वैशाली में वैलोक्येश्वर जिनेन्द्र भगवान का समवशरण रखा जाये। वैशाली लोक में तीर्थकर का धर्मचक्र और मानस्तम्भ हो कर रहे।’

‘साधु-साधु, हमारे रक्त के लाड़िले, सुम घन्य हो। तुम तो वज्रवृषभ-नाराच-संहनन के धारी सुने जाते हो, बेटा। अघात्य है तुम्हारी देह। अभेद्य हैं तुम्हारी वज्र की हड्डियाँ। किसी भर्त्य की तलबार तुम्हारा घात नहीं कर सकती। क्या तुम्हारी आँखों तले, मगध का साम्राज्य-लोलुप भेड़िया, तुम्हारी देवनगरी वैशाली को निगल जायेगा? . . . तुम्हारे धर्मचक्र-प्रवर्तन में क्या विलम्ब है, बद्धमान? वैशाली तीर्थकर के समवशरण की प्रतीक्षा में है। . . .’

‘तीर्थकर का कैवल्य-सिहासन अब मगध के विपुलाचल पर बिछेगा, मातामह। मागध बिबिरार को आप आज लोक के शक्ति का प्रतीक मानते हैं न। उस शक्ति को जय करने के लिए उसी के राज्य में धर्म-चक्रेश्वर का धर्म-चक्र सर्व-प्रथम पृथ्वी पर उतरेगा। मागध प्रेम का प्यासा है, महाराज, वह सौन्दर्य का प्रेमी है। उसकी प्रेम की आग उसे चैन नहीं लेने दे रही। क्योंकि वह अनन्त-कामी है, और उसके अनन्त-काम को जगत में तृप्ति नहीं मिल रही। उसकी साम्राज्य-लिप्सा में उसी निष्फल प्रेम की ज्वाला का प्रस्तावाती रूप प्रकट हुआ है। उसके स्वप्न को महावीर सिद्ध करेगा। धर्म के विपुलाचल पर ही धर्म-साम्राज्य-नायक का सिहासन बिछेगा। मागध उसका शरणागत आज्ञावाहक हो जायेगा, राजन्। और आप क्या चाहते हैं? मैं छद्म गणतंत्र नहीं, एकराट् धर्म-साम्राज्य जन्मबूद्धीप पर स्थापित देखना चाहता हूँ। वैशाली और मुझ से क्या चाहती है, आज्ञा करें, पिल्लदेव। . . .’

'यही कि, वैशाली के भूथागार में आओ, और उसके जनगण को अपना
यह मंगल-संदेश सुनाओ, अध्युष्यभान् ।'

'ठीक मुहूर्त के आवाहन पर, मौ वैशाली के चरणों में आऊँगा । भगवती
आस्रपाली की सौन्दर्य-श्रभा से पावन वैशाली को एक बार देखना चाहता हैं ।'

मातामह आश्चर्य-स्तुध्य से मेरे अन्तिम वाक्य में थो गये । ऐसी प्रत्यापा
उन्हे मुझ से नहीं थी । 'एक गणिका, और भगवती ?

'मैं धन्य हुआ तुम्हें पाकर, बेटा । वैशाली तुम्हारे दर्शन को तरस रही है ।
वचन दो, शीघ्र आओगे ।'

'कदम्बान एक ही बार बोलता है, तात । वही अन्तिम होता है । आपूर्ति
वचन । ठीक मुहूर्त में, वैशाली मुझे अपने चरणों में पाथेगी । . . .'

दोनों पितृदेवों के चरणों को कु पार्क, उससे पूर्व ही मैं चार बाँहों में आबढ़
या । कूटना कठिन या । . . पर एक झटके में मुक्त होकर, मैं तीर की तरह
राजसभा-भवन पार कर गया । . .



परा-ऐतिहासिक इतिहास-विधाता

“वह चील्कार भेरे अनल में भिज गई है। ऐसा लगा था, कि तमाम चराचर उसके आधात से बहरे हो गये हैं। उत्तरोत्तर वह अधिक तीखी और लोमहर्यी होती चली गई। एक अनलहीन आर्तनाद था वह। उस थण स्पष्ट बोध हुआ, कि समस्त आर्योंते ने श्रावण अवकाश दिया दिया है।

मेरा सारथी जब यह नया काम्बोजी अश्व ले कर आया था, तो मैंने सुरुच इसे स्वीकार लिया था। यह अश्व मानो मेरे पास भेजा हुआ आया था। कोई भी खींच चूने या लेने की सूझ मुझ में कभी नहीं रही है। पर यह नया थोड़ा मुझ से अस्वीकारते न बना।

और उस दिन, मानो उस अश्व ने ही पुकारा था, कि मैं उम पर सवार होकर निकल दूँ। यो भी जब निकलता है, ऐसे ही अचानक कोई अकारण अतिमस्ता मुझे आकर्षन कर लेती है। और मैं अलठ्य दिशा में चल पड़ता हूँ।

सो उस दिन भी इस नये काम्बोजी अश्व में जब हिन्दहिन् कर अपने फह-फहाते पट्ठों पर मुझे धारण किया, तो मेरी जाँधें एक प्रबल आरोहण के देग से झटपटा उठी थीं। तीर की तरह वह धावमान था। कितनी राहें, दिशाएँ उसने बदली, उन पर मेरा लक्ष्य नहीं था। मानो एक निर्धारित दिशा में वह मुझे उड़ाये ले जा रहा था। कितने रात-दिन या घटिकाएँ बीतीं, यह काल-बोझ तक मेरी चेतना में नहीं था।

कोसल की पार कर, अहिञ्च के सीमांत पर पहुँचा कि हठात् एक चील्कार पिरती सौम के धूषल को विदीण करती हुई जैसे क्षितिज के भण्डल को बेघने लगी। कण-कण बाहिमाम् पुकार उठा। वज्रवृषभ-नाराच-संहनन के धारी मेरे जारीर की अघात्य हृद्दियों के बन्ध भी उससे तड़तड़ा उठे।

‘‘ और मेरा धोड़ा ठीक उस चीत्कार की दिशा में एक बज्ज-बाण की तरह मुझे लिये आ रहा था । एकाएक वह थमा, कि वह चीत्कार खामोश हो गई । कुछ ही दूर पर एक गाँव के अंगन में भारी भीड़ के बीच मगालें उठी हुई थीं । उत्तर कर मदनी को चीखा हुआ जब घटना-स्थल पर पहुँचा, तो देखा कि दीन-मलिन वेश में एक अधिक मनुष्य बेहोश धरती पर पड़ा है । कुछ लोग उसकी नाड़ियाँ और हृदय-गति टटोल रहे हैं । और मानुष-मांस के जलने की एक तीव्र चिरायंध गन्ध बातावरण में घृणन पैदा कर रही है ।

‘‘ पूलछा करने पर गता चला कि एक श्रोत्रिय ब्राह्मण-देवता नदी-स्टॅट पर वेद-मंत्रों का उच्चार करते हुए सन्तान-बन्दन कर रहे थे । जब रात्रि पर जा रहा यह चाषड़ाल मन्त्र-छवनि सुन कर ठिक गया । ठिक कर सुनता रहा । ब्राह्मण-देवता इसे देख कर शोश से त्रिप्पमिसा लगे । उस पामर चाषड़ाल की यह हिमाकृत, कि वेद-मंत्र सुनने को खड़ा रह गया ? गायत्री के सविता को अग्रादन कर दिया इसने, अपनी शुद्ध काया में उन्हें प्रहृण करके ।

भू-देवता मुक्के और लातें भारते-भारते उस चाषड़ाल को गाव में घसीट लाये । विपल भात्र में सारे श्रोत्रिय पुरोहित एकत्र हो गये । हाय हाय, अन्त्यज ने भर्ग देवता को अपने कण्ठ-रूप में प्रहृण कर लिया । धोर पाप किया है इसने ! पहले तो सब ने तड़ातड़ लात धूंसे मार कर उसे अधमरा कर दिया । जितनी ही उसने अधिक धमा मारी, धूंसों की बीछार प्रबलतार होती गई । तब इस पाप के निवारण के लिए याजकों ने, ‘शतपथ ब्राह्मण’ के विधान के अनुसार सीसा पिथला कर, वह चीत्कार डब धातु उसके दोनों कानों में भर दिया, ताकि अविष्य में कोई अन्य शुद्ध और चाषड़ाल, वेद-मंत्र सुनने का दुःसाहसा न करे । ‘‘

जिस समय में पहुँचा, असह यंत्रणा से चीत्कार-चिल्लासा वह मनुज-मुक्र अचेत हो चुका था, और उसे देखने और छूने के पाप से उबरने को उसके दण्डदाता श्रोत्रिय, गंगा-स्नान को पलायन कर चुके थे ।

देवना से विकल होने के बजाय, यह दृश्य देखकर, मैं स्तब्ध और विश्रद्ध हो रहा । वह उबलता हुआ सीसा जैसे मेरी नाड़ियों और हृदय की धमनियों में बहता चला आया । मैंने अपनी जगह पर ही अबल छड़े रह कर, अचेत पड़े उस मनुष्य के जड़ और पीढ़िक धातु से अबहद्द कानों में, नीरव उच्छ्वास से मंत्रोच्चार किया : ‘ॐ षष्ठो अरिहंताण ! ॐ षष्ठो अरिहंताण ! ॐ षष्ठो अरिहंताण ! ’ ‘ और विपल भात्र में ही, जैसे सीसा फिर गल-नाल कर उसके कानों से बाहर आने लगा । देवना-

मुक्त हो कर वह जाण्डाल एकाएक सचेतन होता आया। सुशब्दगता-सा चारों ओर देखने सका। उसके ओरों से अस्फूट मंशोच्चार हो रहा था : 'ॐ नमो अरिहंताणं !' और उसकी ब्राम से मुक्त, अशु-कातर लाल अँखें किसी को छोड़ रही थीं । । ।

मुझ अजनवी की ओर कई नियाहें लगी थीं : पृच्छा की पुरापुसाहट चारों ओर थी। भूदेवों के आखेटित उस भनुज की अशृ-सजल दृष्टि मेरी ओरों से मिली, कि अन्तर-मृहतं मात्र में, मैं दहाँ से मानो अनधीन हो गया।

‘‘छोड़े पर छलांग भरते हुए मन ही मन फूटा : मनुष्य को मनुष्य डारा धर्म के नाम पर यों निर्दित होने और अपनी मौत मरने को छोड़ कर, क्या, मैं अपनी वैयक्तिक मूलिक के मार्ग पर निवाध आरूढ़ हो सकूंगा ? ’’ नहीं, यह मेरे वश का नहीं है। कौटि-कौटि सिढ़ों और योगियों ने परापूर्वकाल में, सब की ओर से पीठ फेर कर, भले ही अपनी मुक्ति उपलब्ध कर ली हो, महावीर से यह नहीं हो सकेगा । । ।

‘‘देखता हूँ, पथभ्रष्ट ब्राह्मणत्व ने आयं शृणियों और ज्योतिर्धरों के सर्व-परिवाता धर्म को रसातल में पहुँचा दिया है। भगवान् ऋषभदेव ने वर्णात्मक धर्म की स्थापना व्यक्तियों के स्वभाव के आधार पर की थी। यानी भूलतः वह बस्तु-धर्म गर आधारित थी। जिसमें स्वभाव से क्षाक्त-तंज हो, वह प्रजा-की संरक्षण और शासन करे। जो धरती से जूँड़ा हो, उसे जोने और उससे उपजाए, वह कृषि-कर्म करके प्रजा का पालन-पोषण करे। जो स्वभाव से समर्पित और आज्ञाकारी हो, वह प्रजा का सेवक हो कर रहे। इस प्रकार कर्मयुग के आवा तीवंकर ने वृत्तियों के अनुसार व्यक्तियों को विशिष्ट कर्मों पर नियोजित किया था। यह नियोजन अन्तिम और प्रति-बन्धक नहीं था। यदि विकास के साथ व्यक्ति की वृत्तियों में परिवर्तन हो, तो वह तदनुसार अपना कर्म बदलकर, अन्य कर्म में उत्कान्त हो जाये। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का विभाजन उन्होंने इस तरह स्वाभाविक वृत्ति और प्रवृत्ति पर आधारित किया था। और स्वभावसत् विकास की राह मध्यको उन्नत और उत्कान्त होने की छूट उन्होंने दी थी। । । । उनके पुत्र राज्यि भरत चक्रवर्ती, जन्मजात पोती और ज्ञानी थे। उन्होंने एक दिन देखा कि एक व्यक्ति उनके पास आने को, राह में उर्धी दूब को बचा कर, चलने में तल्लील है। राज्यि सर्वतिमसाव से भावित हो उठे। उन्हें प्रतीति हुई कि यह व्यक्ति प्रतिपल 'सर्व खलिदं ब्रह्मम्' के माव में जीता है। स्वभाव से ही इसकी चर्या ब्रह्म में है : यह निखिल चराचर भूतों में ब्रह्म देखता है। और नहीं दूब वा भी जी नहीं दुखाना चाहता। तब भरतेश्वर ने कहा : शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय से भी उपर यह ब्राह्मण है। । । । और इस प्रकार सर्वकाल ब्रह्म में ही चर्या करने वाले परिपूर्ण सम्बेदनशील ब्रह्मज्ञानियों की एक श्रेणि उन्होंने स्थापित की। वही लोक में ब्राह्मण कहलाये।

‘‘मुहूर्पत्रम् जीवों हेत्याथ भी निरस्तर आत्मोद्धम भाव में जग्ने के ब्रह्मी वही ब्रह्माण्, आज इतने अजानी और प्रमादी हो गये हैं, कि उनके अधःपतन से दस्तु-धर्म पर आधारित आर्योदर्त की समाज-व्यवस्था एक सर्वनाशी अराजकता के ख़ुतरे में पड़ गयी है। अपने को मुर्धा पर बैठे पाकर ब्राह्मण अहंकार से प्रमत्त हो उठे। जो जन्मजात ब्रह्मजारी होने को नियोजित थे, वे अत्याचारी हो उठे। अपनी हीनतम् वृत्तियों के तोषण-पौष्टि के लिए उन्होंने अपने ज्ञानगर्व और पदस्थ से द्रव्य होकर, स्वार्थों के पोषक मनमाने मिथ्या शास्त्र रखे। अपनी ज्ञानबना के बल पर उन्होंने क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रों को अनेक लोक-परलोक के भय दिखाकर आनंदित किया। क्षत्रियों और वैश्यों के राज्य और उपाजन से वे लुध्य हुए, छोटे पड़ गये। उनसे संचय और अधिकार की तुष्णा जागी। उन्होंने आड़बनी कर्म-कांडों का विद्यान किया और दान-दक्षिणा के नाम पर लोक की समस्त सम्पदा अपने लिए बटोरने लगे। उन झीर्षस्थों के अधःपतन ने विषयग्रामी आदर्श प्रस्तुत किया। उनके अनुकरण में क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र भी धर्म-च्युत हो गये। लक्ष्य में धर्म न रहा, लोभ प्रतिष्ठित ही गया। तब कुछ क्षणिक जागे : इस अनाचार के मूल को उन्होंने चीन्हा। उन्होंने अपनी धार्म तलवार की ब्रह्मजान की मान पर चहा कर, लोकआता क्षात्र-धर्म की एक नयी उत्कालित उपस्थित की। योगीश्वर, कृष्ण, लीर्यकर अरिष्टनेमि, राज्यिविश्वामित्र, गौतम, प्रवहण जैवली, प्रतर्दन, विदेह, जनक, भगवान् पाश्वनाथ आदि, ब्रह्मतेज और क्षात्रतेज से संयुक्त इस नृतन धर्म की परम्परा में आदित्यों की तरह प्रकाशमान हुए। अधःपतित ब्राह्मणत्व पर, परिक्षाता क्षत्रियों का यह ब्रह्मतेज विजयी हुआ। आत्माहृति के यज्ञ में, इन राजांपवों ने अपनी तलवारों को गला कर, सर्व चराचर के संरक्षक एक नृतन विषदधर्म की प्रतिष्ठा की।’’

यह क्षत्रिय-प्रभुता भी पराकाण्डा पर पहुँच कर, उसके वंशाधरों के हाथों फिर स्वार्थ का हथियार बनी और अधःपतित हुई। मेरे काव्य का यह आर्योदर्त क्षात्रतेज के उसी अधःपतन की पराकाण्डा पर है। अब देख रहा हूँ, वर्णक् प्रभुता का उदय हुआ है। पुर्वीय समुद्र से पश्चिमी समुद्र के छोरों तक की आसमुद्र पृथ्वी पर इन वर्णिकों के सार्ववाह अपनी विजय-वैजयन्ती बड़े गंडे से फहरा रहे हैं। ब्रह्मतेज और क्षात्रतेज दोनों ही आज हतप्रभ हो कर, इन वर्णिकों की अपार सम्पत्ति के हाथों चिके हुए हैं। इस अल इतिहास के विधाता और निर्णयिक ब्राह्मण और क्षत्रिय नहीं, वर्णिक श्रेष्ठी है।

‘‘इस व्यवसाय-प्रधान व्यवस्था में, राज्यियों द्वारा परात्त ब्राह्मण ने अपने को पुनरस्थापित करने के लिए धर्म को एक वाणिज्य का स्वरूप प्रदान

किया है। हतबीय और विलासी हो गये क्षत्रियों को राजसूय यज्ञ द्वारा साम्राज्य-स्थापना का सोभ दिखा कर, ये ब्राह्मण उनकी निकंल आत्माओं के साथ खेल रहे हैं, उन्हें परलोक के भयों से बालंकित किये हैं। पञ्चमोंचल के ब्राह्मणों ने पूर्वोंचल तक फैल कर, अवन्ती से मगध तक के राजुलों को धार्मिक वाणिज्य के बल अपने अंगूठे तले ले लिया है। इस समय ये सारे राजन्य या तो वैष्णव के बशीभूत हैं, या वैश्य के; और कामिनी-कांचन के इन किलों पर अपनी प्रभुता वायम रखने के लिए, वे यज्ञ-आवसायी ब्राह्मणों की श्रद्धोपवीतों पर टैंग हर है। काशी, कोसल, मगध और वैशाली तक में ये छ्या-पांचिक ब्राह्मण फिर तेजी के साथ उत्कर्ष कर रहे हैं। मगधेश्वर ने राजगृही के सीमान्तों पर ऐसे कई ब्राह्मण आचार्यों को प्रतिष्ठित कर दिया है, जो उनकी बाम और साम्राज्य-लिपसा की लूपि के लिए अपनी प्रयोगशाला में रात्यानाशी यात्रायनी और विद्युले शस्त्रों का निर्माण कर रहे हैं, और प्रतिपक्षी राजाओं को मोहन-भूषित कर मार डालने के लिये विष-कन्याएँ तैयार कर रहे हैं। कांसलेन्द्र प्रसेनजित तो मानों इन ब्राह्मणों के अनाचारी हिंसक यजों के बल पर ही सारी पृथ्वी पर राज्य करना चाहता है; सारे जगत के सुवर्ण और कामिनी को भोगना चाहता है। उज्जयनी और कौशाम्बी ने भी इन यात्रियों को अपने कवच बना कर पाल रखा है। सारे ही राजतंत्रों और गणतंत्रों में, अधिपतिस क्षत्रियों की कायर और बोभ-कातर आत्माओं में ये ब्राह्मण गहरे पैठे गये हैं। पर कपिलवस्तु और वैशाली में इन्हें प्रश्न्य नहीं मिल सका है। शावश और लिङ्गाचि अपने स्वाधीन लक्ष्य-नेज और ज्ञानतेज पर आज भी अटल हैं। वैशाली के गणराज्य में ब्राह्मण की निर्बाध प्रवेश है; पर उसकी प्रभुता का सिक्का वहाँ नहीं जम्भ पा रहा। इसी से मगध के मंत्रीश्वर ब्राह्मण-बोट वर्षकार की औख की किरकिरी बन गयी है वैशाली।

मगध का यह महामाल्य वर्षकार, श्रेणिक विविसार की साम्राज्य-निपासी की ओट, फिर से समस्त आर्यावर्त में ब्राह्मण-साम्राज्य स्थापित करने का सपना देख रहा है। इस सर्वस्व-त्यागी ब्राह्मण का लप-नेज और कूट-कौशल देखने लायक है। सारे राजुलों और गणनायकों को गोट बना कर वह ब्राह्मण-साम्राज्य-स्थापना की शतरंज खेल रहा है। अपनी कुटिल चालों से वह, इन सर्वे रक्त-मम्बन्धों में बैंधे राजन्यों के बीच जीत बुद्ध लुप्ते विघ्न और शक्ति-संतुप्तम बनाय रखता है। उसने बैट को बाग के विश्व उठाया है। उसने हर राजा के अपने ही गवत को अपने विश्व बागी और संदिग्ध बना लोडा है। मगध के शजान अज्ञातघातु की तलवार, सदा अपने वाप श्रेणिक के सर पर मूल रही है। कोमल-इक्षु अपनी दासी-रानी महिलाओं के पुत्र राजकुमार विदुहम की श्राणघाती

धर्मकियों तले माकेत में निर्वाणी विलास की रातें मुखार रहा है। हर राजा और रानी की आलिगन में बद्ध छालियों के बीच प्यार नहीं, शुद्ध वासना तक नहीं, सुवर्ण है, माप्राञ्ज है, बलान्कार है। आबस्ती के अनाथ पिण्डक और मृगार जैसे श्रेष्ठियों की सुवर्ण-राशि समान रूप से ब्रह्मलेज और क्षात्रलेज को खरीद कर अपने तहमानों में रक्षे हुए हैं।

ये श्रेष्ठी, स्वतन्त्र आत्मधर्म के प्रवक्ता और भूकित-मार्गे के साधक धर्मणों और परिदाजकों को आशाम, चैत्य और सठ दान में दे कर, उनके परम कृष्ण-पात्र बने हुए हैं। राजुले अपनी राज्य और सम्पदा-लिप्सा की तृप्ति के लिए व्यवसायी ब्राह्मण याजनिकों से दिशाट् श्वर्णलिं यज्ञ करवाते हैं। और दक्षिणा में ब्राह्मणों को वैश्वमार मुखर्ण-रौप्य, मुल्की दासियाँ, अज्ञ-वस्त्र और गोधन दान करते हैं। उभी के बल पर ब्राह्मण प्रमत्त हो उठे हैं। आर्यवर्त के सभी प्रधान राजनगरों में चल रहे दासी-पण्य उन्हीं वर्णिक ब्राह्मणों की कृपा से फलाफूल रहे हैं। कुल मिला कर, आज प्रभुता ब्राणिज्य की है, और वर्णिक के साथ उसमें सासी-दारी करने को ब्राह्मण, लक्ष्मी, श्रमण और सून्त तक एक गहरे घड़क्षत्र के दुश्चक्र में फंसे हुए हैं।

शुद्ध, चाण्डाल और दास-दर्ग, इन कहलाते उच्च वर्णों की बाणिज्य-मंथि के कौलादी पंजे तले कुचले जा कर, अमानुषिक शोषण, आश्रात और अपमान के नरक में जी रहे हैं। दूब की भी दया से एक दिन जो आदि ब्राह्मण द्विवित हो उठा था, उसके बंशज को मैंने कल शाम, मोक्ष के अधिकारी स्वतन्त्र मनुज के कानों में उबलता सीसा ढालते देखा, वर्मोंकि वह कुलज्ञात चाण्डाल था, किन्तु उसमें औचक ही ब्रह्म-पिपासा जाग उठी थी, और उसने वरेष्य सविता के मंत्र-अवण का अपराध किया था। . . .

‘‘नहीं, इस काम-साझाज्य में अब मेरा ठहरना नहीं ही सकेगा। पर अपनी मुक्ति के लिए इसमें भागूगा नहीं, इसे बदल कर ही चैन लूँगा। इससे पराजय और पत्तायन महाशीर को स्वीकार नहीं। मैं अपने ज्ञान, तप और तंज की अग्नि से इस वासना-राज्य के अनादिकालीन बीजों और मूलों तक को जलाकर भस्म कर दूँगा। उन बीजों और मूलों के अगम्य अन्धकारों में उत्तरने के लिए, शायद मुझे दीर्घ और दुर्दान्त तपश्चर्या करनी पड़े। अपनी इन वस्त्र कहीं जाती दृहुयों तक को गला देना पड़े।

‘‘नहीं, नहीं ठहर सकूँगा अब और इस ‘तन्द्यावर्त’ में: इसकी दिग्न्त-चाहिनी रत्नम छतों और वातायनों पर। जिन दिशाओं पर ये देखते हैं, उन्हें मैं अपने इस तन पर ही धारण कर लूँगा। जाने-अनजाने यह महल भी तो उसी

काम-साम्राज्य की एक कड़ी बमा हुआ है। मेरे गर्भावतरण के समय जो आकाश से रत्नों की राशियाँ बरसी थीं, वे केवल समष्टि, कुलीनों, राजन्यों, ऐश्वियों के लिए नहीं थीं। वैशाली के जन-जन के घर इन रत्नों से भर गये थे। पर वे दीन जन उन रत्नों का मूल्य क्या जानें। वे कम्मकर और शूद्र, जिन्हें शिक्षा पाने और उपासन ह पहनने तक का अधिकार नहीं! ब्राह्मण, वर्णिक और क्षत्रियों ने अपने वाणिज्य-कौशल से उन तमाम विपक्ष जनों के संचित रत्नों को कौड़ियों के मोल ख़रीद कर अपने भाष्ठार भर लिये। और परम्परागत दीन-दरिद्र, फिर केवल अश-वस्त्र जीवी, दलित अपमानित जीवन विताने को छूट गये। आकाश से सर्व के लिए बरसे वे दिव्य रस्ते विश्वभरा भहासत्ता का अपनी तमाम सन्तानों को दिया गया वरदान था। इस कामना-राज्य के वाणिज्य तंत्र ने उस दैबी सम्पदा तक से दीनों को बंचित कर, उसे अपनी आसुरी सम्पदा के कोशागार में बन्दी बना लिया; जीवन्त प्राणदायी सम्पदा को, इन्होंने जड़, मृत लोभ के शिकंजों में कम लिया। केवल मनुज की ही नहीं, कण-कण की, रवधम् वस्तु-शर्म की हत्यारी है यह वर्णिक-व्यवस्था। इसने तत्त्व को अपने लोभ के कारणगार में कैद किया है।

नहीं... नहीं... अब एक अण भी इस वैश्या-राज्य और वैश्य-राज्य में मेरा ठहरना सम्भव नहीं। इससे मुझे निष्कान्त हो जाना पड़ेगा। महत अण आ पहुँचा है। मुझे इस ऐश्वर्य-मण्डित राजमहल से निकल कर चले जाना होगा।

...ताकि कण-कण के हृदय में विचर्हे। ताकि पाण, नृष्णा और अनाचारों की तहों में उतरें। उन्हें अपनी विष्वासी ठोकरों से चूरचूर कर दूँ। और वों उनकी सतहों पर चल रहे उलंग दूराचारों के तख्तों, बाजियों और सिंहासनों को उलट दूँ।

इस काम-साम्राज्य को, ग्रेम-साम्राज्य में यत्प्रिय बार देने के लिए, मुझे तत्काल इससे निर्वासित हो जाना पड़ेगा। इतिहास को अपनी मननाही गति में मोड़ देने के लिए, मुझे इसकी परिधि के बाहर खड़े हो जाना होगा। इस चक्रवर्तन को अन्ध पुनरावर्तन से मुक्त कर, प्रवतिमान बार देने को, मुझे इसके केन्द्र पर अधिकार करना होगा।

...गृना मौ वैशाली, पतन, पाण, पीड़न और पारस्परिक शोषण के गर्त में पड़े आज के विष्व में, तुम्हीं भनुव्य की एक सात्र आशा हो। क्योंकि तुम्हारे वंथागार में राज्यामन नहीं, जिनेष्वर का देवामन बिछा है। पर तुम भी जाने-अनजाने इस काम-साम्राज्य को अृष्णला की कड़ी होने से बच नहीं सकी हो। सो मौ बी मुक्ति के लिए, मुझे उसकी मोहाविष्ट गोद को छोड़ जाना होगा।

उसके बन्धनों को तोड़ने के लिए, पहले मुझे स्वयम् निर्बन्धन हो जाना पड़ेगा। इस महल की आकाश-चुम्बी अट्रालिका से मेरी अगली छुलांग, अब आकाश-बेद्धी पंचत-कूट पर ही हो सकती है। मौ वसुन्धरा की उस वक्षोज-चूड़ा पर नम लेट कर, मैं उसे हृदय लक भूंहता चाहता हूँ। इसी उस चार लो युध उसकी छाती से उभड़े, वह उसकी हर सत्तान को समान रूप से मुक्तम हो सके। ताकि उसकी छाती प्रहिष्वासुरों के बलाल्कार से मुक्त हो कर, सही अर्थों में जगदम्बा की छाती हो सके।

‘आपूर्व है मध्य-रात्रि का यह मृहर्त-क्षण। निर्णायिक है यह घड़ी। कई शरों से सोना नहीं हो सका है। इस महल में अब वह सम्भव भी नहीं।’
चंकमण, चंकमण, चंकमण। मेरी पगतलियों में चंकमण के चक्र चम रहे हैं।

‘मैं आ सकती हूँ?’

‘मौ, इस समय, तुम यहीं?’

‘हो, इससे पहले तुम मेरी पहोच से परे थे...?’

‘अर्थात्...?’

‘अबेर रात मय, अनानक ही चेलना राजगृह से आई। तुरन्त तुमसे मिलना चाहती थी। अनिवार्य।’
पर यहीं आकार जो देखा...। उल्टे पैरों जौट गई। चेलना को क्या उत्तर देती। कहला दिया, बाहर से तुम नौटे नहीं अभी।
पर जो देख गई थी, उसके बाद रहा न गया। सो आये बिना रह न सकी...।

इसमें पूर्व भाँ छतनी अजनबी और दूर तो कभी नहीं लगी थी। उनका सारा चेहरा दबी रुलाई में दमक रहा था।

‘वह तुम्हारा अधिकार है, मौ। उसमें संकोच कैसा?’

‘जो रूप तुम्हारा देखा... उसके बाद भी?’

‘ही-ही मौ, निश्चय। क्या नग्न ही नहीं जन्मा था तुम्हारी फोख से? बीच में आवरण आये। पर अब फिर अन्तिम रूप में तुम्हारी गोद में नग्न ही सो जाना चाहता हूँ। तुम्हीं संकोच करोगी, अम्मा, तो फिर मुझे बौन महेगा...?’

‘क्या नहीं सहा अब लक, मान! घूट पीती गई और चुप रही। पर आज मेरे धीरज का बाँध टूट गया।’
अब वहे बिना चैन नहीं हैं।

‘मौ कहो न, जी खोल कर कहो। तुम चुप रहती हो, तो मुझे भी उससे गीङ्गा होती है। बोलो, जी खोलो। तुम्हें मुलना चाहता हूँ। सम्भव ही तो इस शरीर से आगे, तुम्हारे भीतर आना चाहता हूँ...।’

'तो मुझे बेटा, तुम्हें किसी से यमता नहीं, मुझ से भी नहीं। यह तो बीचे जैसी साफ़ बात है। पर अग्र-बस्त्र तक से तुम्हें शशुता हो गई? तुम्हारी इस देवोपम काग्या ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है, जो इस पार भी तुम अत्याचार कर रहे हो। अपने ही लन-मन तुम्हारे मन बैठी हो गये, किर भेरी क्या दिसात! . . .'

'लगता है, सुन्दे आंति हो रही है, माँ।'

'आंति? अपनी इन और्खों घड़ी भर पहले जो देख गई हूँ! श्रीतकाल की यह हिमानी रात। तीर-सी लण्ठी ये हवाएँ। . . . और इस खुली छत में तुम . . . निर्वाण? अग्र भर पहचान न सकी कि तुम हो या कोई भर्तीया पाण-मृति? . . . ?'

'ओ . . . समझा! कभी क्या होता है मेरे साथ, मुझे पता नहीं रहता, अम्मा! पह सब मेरे लिए नया नहीं है। शायद तुमने पहली बार देखा। हमी मे . . . !'

'तो . . . तो इसे क्या समझूँ?'

'तुम योग जिसे कायोत्सर्ग कहते हो त, मैं उसे कायमिडि कहता हूँ, काय-जय! . . . !'

'कायोत्सर्ग में बेचारा कपड़ा कहीं आँदे आता है। भूनियों की बात अलग है। तुम्हारा तो अभी कुमारकाल भी नहीं बीता। अभी राज्य और गाहूस्थ्य के कर्तव्य तुम्हारे सामने हैं। और कुम हो कि . . . !'

'तुम कपड़े की कहती हो, मुझे काया तक का ध्यान नहीं रहता, माँ। क्या करूँ! और मैंना कौमार्य कालगत नहीं, अम्मा। यह मेरे मन ज्ञापनत है। सी उम्मेके बीतने की तो बात ही नहीं उछाली मेरे निए। और राज्य और गाहूस्थ्य, जो लोक में रसातल को चला गया है, हो सके तो उसको समलल पर लाना चाहता हूँ। उसमें अलग से मुनि हो कर निकल जाने से काम कैसे चलेगा? मेरा भाग मुनि से आगे का है। मुनि तो कोड़ा-कोड़ी हो गये, और दे लोक से एक फेर मोक्ष चले गये। लेकिन मैं लोक की अवश्य कर, अपनी मूक्षित की खोज में खो रहूँ, यह मेरे बश का नहीं। वह मेरा अशोष्ट नहीं।'

'अभीष्ट तेरा जो भी हो। वह मैं कभी भमझ न सकी, समझ भी न सकूँगी। मौ हूँ तेरी . . . और मैं क्या जानूँ? अग्र-बस्त्र तक से तुम्हे बैर हो गया? भोजन के धाल हर दिन अछूते लौट आते हैं। दो दिन में एक बार कभी। प्रकाश कटोरी खानी लौटती है। ऐसे में हम कैसे खायें-पियें, जियें . . . ? सोचा है कभी?

'क्षशाणी होकर उतनी अधीर हो गई तुम, अम्मा? बेटा युद्ध की राह पर निकल पड़ा है, तो उसे बल दीगी कि नहीं? योद्धा की भी अबला और कायन हो जाये, तो कैसे चले?'

‘युद्ध ? कैसा युद्ध है यह?’

‘जानती तो हो, वैशाली संकट में है। चेटकराज यही तो कहने आये थे, कि महाधनुर्धर भ्रातारी और सिंह मासा की अजेय धनुषिद्या कापी नहीं होगी। मुझे लगता है कि संकट महरा और विश्वव्यापी है। वैशाली के राजकुमार बद्मान से उन्हें दिव्यिजयी चक्रवर्ती की आशा है। उन्हें बाता चाहिये। बोलो, क्या इनकार करता उन्हें?’

‘वैशाली को तुम अजेय रखो, यह मुझ से अधिक कौन नाह सकता है। और येरी छाती गर्व मे फूल उठी यह सुन कर, कि तुम उसके लिए सम्रद्ध हो। पर योद्धा अश्वस्व त्याग कर युद्ध की राह पर निकल पड़ा है। समझ न सकी, यह कैसा युद्ध है?’

‘ऐसा युद्ध, माँ, जो इतिहास में पहले कभी न लड़ा गया। ऐसी लड़ाई, जो सतहों पर नहीं, तहों तक मे युद्ध जड़नी होती; जिसे याहुर नहीं, दीतर ही खन्दकों में, अनलाल्नों में। भसा बतायो, उन खन्दकों में अश्वस्व, माँ की स्नेह-चिता और ममता कहाँ मिलेगी। सो उसे जीतना होगा कि नहीं?’

‘खन्दके? ... ये कौन सी खन्दके हैं, मान?’

‘हाँ, चारों ओर खन्दके हैं, माँ। राष्ट्र और राष्ट्र, जाति और जाति, देश और देश के बीच खन्दक है। भनुष्य और मनुष्य के बीच खन्दक है। माँ और बेटे के बीच खन्दक है। प्रियसमा और प्रियतम के गाढ़तम आलिगन के भीतर तक खन्दक है। कण-कण के बीच खन्दक है। जीव-जीव, प्राणि-प्राणि, प्राण-प्राण, हृदय-हृदय, मन-मन, आत्मा-आत्मा के बीच खन्दक है, माँ। स्वयम् अपनी ही एक सौस और दूसरी सौस के बीच खन्दक है। अपने ही तन, प्राण, मन, आत्मा के बीच अलंघ्य अंधियारे पाताल पड़े हैं। अपनी ही सौसे आपस में लड़ रही हैं। अपना मूल शत्रु अपने ही भीतर छुपा बैठा है। मेरा युद्ध उसी के विषद्ध है, माँ। मगध को जीतने के लिये, पहले उसे जीतना होगा। अपने को जीतना होगा। वह जय हो जाये, तो मगध और जम्बूदीप क्या हैं, कण-कण और अण-अण पर अप्रतिहत और अजेय सना स्थागित हो जाये। ... उसी अनिरुद्ध युद्ध की राह पर चल पड़ा हूँ, माँ, आशीर्वाद नहीं दोगी?’

‘वह क्या अलग से देना होगा? मेरा औन्चन, मेरा अस्तित्व, मेरी हर सौस और क्या है? पर यह तो लोकोत्तर मुक्ति का भाग हुआ, बेटा। राज्य और प्रजा के लौकिक त्राण से इसका क्या सरोकार? जो इस राह गये, उनके लिए मगध क्या और वैशाली क्या, दोनों ही मगण्य और त्याज्य हो रहे। देख रही हैं लोकोत्तर और लौकिक को आपस में उलझा रहे हो।’

'उलझा नहीं रहा, मौ, चिरकाल से शतिहास-पुराण में चली आ रही उलझन को सदा के लिए मुलझा रहा है। लौकिक और लोकोत्तर मुक्ति को मैं अलग करके नहीं देख पा रहा। इन्हें आज तक अलग करके देखा गया, इसी से उलझन, बँड़, अन्तर-विषय, समस्याओं का अन्त नहीं। मौलिक महासत्ता में लौकिक और लोकोत्तर का भेद नहीं। आँख से परे सत्ता कही है ही नहीं; मोक्ष और सिद्धालय तक लोक से परे नहीं। लोकोत्तर और लोकोत्तीर्ण होने का अर्थ है, एक बारगी ही स्वयम् समन्वय सोक हो जाना; लोकाकार हो जाना। जो आत्मजयी होगा, वह अनायास ही लोकजयी होगा ही। इस मौलिक और अविनाशाची सत्य की प्रतीति भूमि स्पष्ट हो गई है। इसी से मैं अपनी और लोक की मुक्ति को अलग करके नहीं देख सकता। मैं अपनी आत्मिक मुक्ति को समग्र विषय की लौकिक मुक्ति तक में प्रतिफलित और घटित देखना चाहता हूँ। मैं सिद्धालय के अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य को लोकालय में प्रकाशित देखना चाहता हूँ...''

'असम्भव बेटा, आज तक तो कोई तीर्थिकर, अरिहन्त, या सिद्ध यह नहीं कर सका! उनसे भी बड़ा होने का दावा करता है क्या तू?'

'दावा मैं नहीं करता। जो मेरा जभीप्सित है, उसे मैं केवल करता हूँ, भी। जीवन के प्रतिक्षण में, अभी और यही उसे जीता है। बड़ा और छोटा मैं किसी से नहीं। केवल स्वयम् हूँ। और अपूर्व तो मैं या कोई भी हो ही सकता है। सत्ता अनन्त गुण-पर्यायात्मक है। यह उसके स्वभाव में ही नहीं, कि जो अब तक न हो सका, वह आगे भी न हो सकेगा। और आज जो गुण-पर्याय सत्ता की प्रकट हो रही है, वे पहले भी हो चुकी हैं, और मात्र दोहराव हैं, इसका किसी के पास क्या प्रभाव है? और सत्ता को जब जिमेश्वरों ने अनन्त परिणमनशील कहा है, तो उसमें पुनरावर्तन देखना, क्या भिन्ना-दर्शन और अशान ही नहीं है?'

'पर अब तक के अरिहन्तों ने फिर ऐसा क्यों न कहा?'

'अरिहन्तों में जो जाना और कहा, क्या वह शब्दों में सिपट सकता था? उन्होंने अनन्त जाना, और वह अनन्त, कथन में कैसे अँट सकता था। इसी से तो उसे मात्र बोधगम्य, अनुभवगम्य, अनिर्वच कहा गया। इसी से तो तीर्थिकर की दिव्य-ध्यानि सदा शब्दातीत ही रही...'। शब्दों में बैठ कर शून्यानियों और आचार्यों तक आते-आते तो वह मात्र परिमित सिद्धान्त हो

कर रहे गईं। सिद्धान्त अनेकान्त रह नहीं पाता। सिद्धान्त जिन्होंने बनाये हैं, उन्होंने प्रकृत अनेकान्त मना के अनन्त को मान्त और समान्त बर दिया है। सिद्धान्त मात्र मिथ्यादर्शन है, वह सम्यक्दर्शन नहीं। केवलज्ञान का सिद्धान्त नहीं बर सद्गुण; यिथोंके और अथकल्पकर्ता कर्तव्य का ज्ञान अनन्त और बकल्प है, मात्र वह सिद्धान्त में अनीत है। इसी से जो अब तक न क्षुआ, वह आगे भी न हो सकेगा, यह कथन मना की मौलिक अनुभूति के विरुद्ध पड़ता है।'

'तुम्हारी बातों में भीतर के आधार दृढ़ रहे हैं, तीव्र हित रही है, मान! सत्ता में छहरना कठिन हो जाता है।'

'मानसिक धारणा और परम्परागत ज्ञान से बने आधार और नीचे दृढ़ जाना ही इष्ट है, माँ। आज नहीं तो कल, स्वानुभूत की प्रत्यक्ष चौट उसे लोडेंगी हो। और सत्ता स्वतंत्र है। केवल उसी में तो यहरना सम्भव है। हैं, हों, और है मैं तो सन्देह सम्भव ही नहीं। क्योंकि वह स्वानुभूत और स्वयम्-सिद्ध है। मात्र इन तीनों के बीच के सही सम्बन्ध को प्रत्यक्ष देखना, जानना और उसमें जीना है। वही सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। इस मैं, तुम, वह के बीच के सम्यक् सम्बन्ध, सह-जीवन और सह-अस्तित्व को स्वरूप में जैसा साक्षात् बर रहा है, वही तो मैं कह रहा हूँ। और केवली के केवलज्ञान से यह मेरा साक्षात्कार या अनुभूत तरतम नहीं है, यह दूसरा कोई कैसे कह सकता है? सत्ता अतब्य और अनिवंच है। और चूंकि वह अनन्त है, इसी से विभिन्न प्रगतिमान आत्माएँ उसे अपूर्व रूप से देख, जान और जी भी तो सकती हैं।'

'बेचारी बैशाली और मगध जाने कहाँ छूट गये! . . . क्या इस तत्त्वज्ञान से ही बैशाली का ज्ञान करेगा? मगध और जम्बूदीप में चक्रवृत्तिव क्या इससे होगा? कौसी अनहोनी बातें कर रहे हो, बेटा! धर्म और कर्म अपनी-अपनी जगह पर हैं। हाँ, धर्म-पूर्वक कर्म करो, यह समझ सकती हूँ।'

'पूर्वक नहीं माँ, धर्म को ही कर्म में प्रतिफलित होना होगा। धर्म और कर्म के अलगाव से ही तो सृष्टि का सारा इतिहास प्रतिक्रियाओं का दुश्चक ही कर रह गया है। वस्तु-धर्म को ही कर्म में परिणत हो जाना पड़ेगा। सत् को ही तत् हो जाना होगा। उसके बिना निस्तार नहीं। समस्या का कोई समाधान नहीं। तत्त्व के साथ अस्तित्व को सम्बादी बनाये बिना, बैशाली

और मगध के बीच का विषय मिट नहीं सकता। इसमें जो पहल करेगा, नाम्नाज्य उसी का होगा। उसमें हार-जीत से परे वैशाली और मगध, हर भाज्य, देण, जाति, व्यक्ति, कण-कण अपनी रुता में स्वतंत्र रह कर एक-दूसरे के सहयोगी होंगे, महार्थी और महाकर्ता होंगे। इससे उल्ली तरफ का कोई मार्ग मेरा नहीं। मेरा युद्ध अन्तिम और सीमान्तक है, माँ। प्राणि-प्राणि, जीव-जीव, वसु-वसु, अणु-अणु के बीच पड़ी अज्ञान और अन्धकार की अज्ञान खाईयों को भेदे और पाटे बिना, मुझे चैन नहीं, विराम नहीं। मेरी दिग्विजय उसके बिना अखण्ड और गम्भीर नहीं हो सकती। केवल इसी राह मगध-जय सम्भव है। केवल इसी राह वैशाली का शान सम्भव है। केवल इसी राह प्रत्येक जन, जाति, भाषा, व्यक्ति का स्वानंश्य और गणतंत्र सम्भव है। और सारे स्वातंत्र्य और गणतंत्र मरीचिका और इन्द्रजाल हैं, जिन्हें स्थापित स्वार्थी मत्ता-सम्पदा-स्वामियों ने, प्रजा को भुलावे में रख कर एकछत्र प्रभुता भोगने को रख रखे हैं। . . . महावीर इतिहास के इस चिरकालीन पाखण्ड और द्वित का अन्तिम रूप से पर्दा फाल करने आया है। आदर्श और वास्तव, निश्चय और व्यवहार के स्वार्थ-प्रोत्पत्ति छद्म ऐद विज्ञान की ओट ही इतिहास के सारे युद्ध, विषय और व्यक्तिगत कलह पर्वरिण पाते रहे हैं। मैं विषय के इस मूल को ही सदा के लिए उच्चारित कर देने आया हूँ, माँ! तुम देखती जाओ, क्या होता है . . .

' . . . चेलना बहुत बैचेन आई है, लेडा। अब तो उसे समझा कर सुला दिया है। कब मिल भकेगा उससे तू ?'

'तुम जब, जहाँ कहो, माँ !'

'मेरे खण्ड में, सबेरे . . . ?'

'उपस्थित पाठोगी मूझे, ठीक समय पर, अम्मा !'

' . . . और माँ आश्वस्त पर्गों से जाती दीखीं।

सूरज को गोद नहीं लिया जा सकता

बरसीं बाद माँ के हस शपन-कक्ष में आया हूँ। मेरी चेतना स्मृतियों से अनुकूलित नहीं, सहज ही विकूलित है। एक नदीः जादि से अंत तक जो एक अखंड धारा है। कूल-किनारे उसमें झोक कर पीछे छूट जाते हैं। सो हर बार, हर कहीं आना मेरे लिए नया ही होता है।

मेरे गधंकाल में बरसे दिव्य रत्नों से मंडित है यह सारा कक्ष। गौवाई, आसन, दीपाषार, दीवारें, फर्ण, छतें, शूभरें, सब उन्हों आकाशी रत्नों से निर्मित और जड़े हुए हैं। इनमें से बहुती तरल आभा में जाने कितनी समवेत बनादि सुगंधि तरंगित हैं। सीदर्य और ऐश्वर्य का यह ओक, पार्पिच से कुछ अधिक लगता है। एक ऐसी अन्यत्रता है यही, जो चेतना को बांधती नहीं, अधिकाधिक खोलती है। इसमें परिष्ठह नहीं, अपरिष्ठह का बोध है। मानो जो नारी यहीं रहती है, वह यहीं अवरुद्ध नहीं, उद्बुद्ध है। ' ' माँ, तुम्हें जानता हूँ, फिर भी पूरी कहीं पहचानता हूँ। मैं अभी यहीं आया हूँ, खड़ा हूँ, प्रतीक्षा में हूँ। निरा अतिथि। अजनबी।

' ' सुगंधि एकाएक भूतीन झंकार होती प्रतीत हुई। सामने की दीवार की पणिमाया जैसे एक पद्म की तरह सिमट गयी। कमल-केसर-सी पीताम एक पूर्णकाय स्त्री झलझलाती जोल की तरह सामने आती दिखाई पड़ी। और उसके पीछे आ रही है, महारानी त्रिशना देवी। मेरी माँ।

' काश्यप बद्मान, मणधि की महारानी का अभिवादन करता है ' ' !

ऐसा कुछ देखा सामने, कि और्खें वहीं से हटा कर, चरण धूने का उपचार नीच में न आ सका।

' बड़ा आया महारानीवाला ! मौसी को नहीं पहचानता क्या रे ? ' ' तो किर कहूँ कि वैशाली के महाराज कुमार जयवंत हों ! ' ' '

'देशाली' का एक जनगण हैं मैं, सम्भाजी ! मगधेरुचनी में इसी नामे मिलने आया हैं, मेरा अह गोरव अक्षुण्ण रहे, प्रार्था हैं । । ।

बेदना का हाथ जैसे बासुकी नाग के फणा-मंडन पर पड़ गया हो । वे चाँकी । मुझे विस्मित-सी ताकती रह गयो : और फिर वह नारा चहरा प्रार्थना-कातर हूँ आया ।

'मगध की महारानी' का मुकुट, सेशाली के इस जनगण के चरणों में भिक्षार्थी है ! । । । संतुष्ट हुए तुम भान ? हमारे रक्त से तुम डतने बेनाग ? कैमे कहूँ । । । 'वेटा' ? मेरा अपनल्य मुझसे छीनते तुम मिले । मेरी जीभ की नोक पर आये 'वेटा' शब्द को तुमने अपनी उँगली से जैसे हँम कर दवा दिया । । । ठीक है । ।

हम भीना-ब्बचित, मसृण रेतम के गहों बलि सुखपालों पर व्यवस्थित हो चुके हैं । आपाद-भम्नक अकल्प्य रहना भरणों और जामुनी कौशेय में सज्जित, मगध की पट्टु-महिली को मैंने ऊपर में नीचे तक समग्र साक्षात् किया । कपिशा के लाल लंगूलों की रसित जारी है नगर में जैसे एक निर्मल हीरा तैर रहा है । अभिजात सीदर्य की यह गराकाल्य है । भरा-भरा केशर-मा पीला गात, सनि छले अवस्थों की तराश और सुधरता । कोई अप्रतिम सुंदर शिल्पाङ्कुमि जैसे एकाएव मजीब हो उठने का आभास दे रही हो । रभस-रस से भरी इस गभीर कार्दिविनी को मानो बिजली की झालरों ने बौद्ध रखखा है । यह केवल सम्भाजी नहीं, केवल विलासिनी नहीं, केवल अंकशायिनी नहीं । अभ्रंकश है, यह नारी । कीचड़ में से ही फूट कर, जमे कृतार्थ किया है इस कमल ने ।

। । । मौसी स्तन्ध और उदास बैठी रह गयी हैं । मौ हाँसी और सब कुछ लोलती-सी चुप हैं । एक गहरी चुप्पी के तट पर हम तीनों उपस्थित हैं ।

'मौसी, नाराज हो गयी ? पहली बार बेटे से मिली हो, बलाये भी नहीं लोगी ? । । ।'

दोनों ही बहनें एकदम मुक्त हो, उमग आयी । भर आते-से गले से मौसी बोली : 'मान, और किसलिए आयी हैं ? सुना था, सूरज हो । वही साध दी इस सूरज बेटे को गोद लेने की । । । लेकिन सामने पा कर देखा, कि सूरज को गोद नहीं लिया जा सकता । छुटपन की याद है तुम्हे, मान,

जब तू एक बार जंगलों से खेल कर लौटा था? तेरे विशुरे बालों में आस, फूल, पत्ते उलझे थे, और मैंने तुझे उठा कर समूचा छाती में भर लिया था। और आज... ?'

'आज भी वही हूँ, मौसी। यही न. कि बड़ा सारा हो गया हूँ। और तुम संकोच में पड़ गयी! ... अपनी वाहिं को कुछ कैला लेती, तो क्या उनसे बाहर रह पाता मैं?'

'वह तुमने संभव ही नहीं रखा। तुम तो मगध की साम्राज्ञी से मिलने आये। माँ के आंचल को चुनौती देते आये। और तुम्हारी भूकुटियों के बीच, एक चक देखा मैंने। ... तुमने मुझे रहने ही नहीं दिया, बेटा। किसी से कोई लगाव नहीं रहा तुम्हें? क्या हमारे कोई नहीं हो तुम? ...'

'मैं किसका नहीं हूँ, कि तुम्हारा यह हो रहा? मैं इसी दुम तुझे आना नहीं पायी? और मगध की भद्धारानी तो इस लिए कहना पड़ा, कि इस समय मौसी से अधिक मेरा सरोकार उनसे है। ... मैं बैशाली का एक रजकण हो कर आया, कि साम्राज्ञी अपने साम्राट को खबर कर दें कि क्या देख आयी हैं, किससे मिल आयी हैं!'

'खबर तो उन्हें क्या, हवाओं और समुद्रों तक को हो गयी है कि तुम कौन हो! इसी से हिम्मत करके यह कहने आयी हैं, कि सर्वनाम की इस आरा से तुम्हीं हमें उत्तर सकते हो। और कहीं, कोई आण नहीं दीखता।'

'मगधेश्वर की कुफल पूछता हूँ, और उनकी मंगल-कामना करता हूँ। साम्राट बैशाली चाहते हैं, तो कह दो कि मिलेगी उन्हें। पर उनकी राह नहीं, मेरी राह। महामात्य वर्षकार की कुटिल चाल से नहीं, मेरी सीधी और मगल चाल से। साफ़ बताओ, वे क्या चाहते हैं?'

'भुजे तो यही मगता है, भान, कि वे स्वयं नहीं जानते कि वे क्या चाहते हैं? कुटिल और कोई हो चाहे मगध में, वे नहीं हैं। इतना जानती हूँ, कि अपने राज करने को उन्हें मगध छोटा लगता है। सागर-यंत्रं पृथ्वी से कम कोई साम्राज्य उन्हें तूप्त नहीं कर सकता। साम्राज्य की लौ-लगत में ही वे दिन-रात जीते हैं।'

'साम्राज्य से अधिक सुंदरी की लौ-लगत में जीते हैं श्रेणिकराज! अच्छी बात है यह। ... पर वह स्वल्प-सुंदरी नहीं मिल पाती, तो उसकी छटपटाहट में, साम्राज्य के अल्पित विस्तारों में अपनी घुजाए पछाड़ रहा है योद्धा। नहीं

मौसी, पट्टखांड पृथ्वी का चक्रवर्तित्व भी उन्हें तृप्त न कर सकेगा, यह तुम
मुझसे जान लो !'

दोनों महिलियों की आभिजात्य मर्यादा जैसे आशात पा कर चौंकी ।

'उनका साम्राज्य-स्वप्न बैशाली पर अटका है, बर्द्धमान । मौजते हैं कि
बैशाली जय हो, तो सारे जंबूद्धीप पर उनकी एकराट सत्ता हो जाये ।'

'उनकी ओरें बैशाली से अधिक आम्रपाली पर लगी हैं, मौसी ! काश,
तुम जान सकती कि मगधेश्वर की साम्राज्य-अभीप्सुक तलबार, देवी आम्र-
पाली के रातुल चरणों में समर्पित है ! . . .'

समाजी की ओरें नीची हो गयीं । क्षण भर चुप रह कर बोली :
'सो तो तुम जानो, मान ! . . . शायद उन्हें तुम मुझसे अधिक जानते हो ! पर
इतना मैं अवश्य जानती हूँ कि एकदम ही बालक है उनकी आत्मा । . . . लेकिन
उनके दर्प और प्रताप को सम्मुख पा कर हार जाती हूँ ।'

'हारतीं तुम नहीं, हारते हैं शेणिकराज, मौसी ! चेलना को पा कर
भी वे बैशाली को नहीं पा सके ! काश, वे भेरी मौसी को पहचान सकते ।'

'मुझे कम नहीं मानते वे, बर्द्धमान । चारों ओर के कूट-बक्कों और युद्ध-
प्रपंचों से उछिल हो कर, अचानक आधी रात आते हैं । मेरी गोद में सिर
बाल कर, गहरी उसासे भरने रहते हैं । बुद्ध पूछने को जो नहीं करता ।
इन्हने हारे दीखते हैं, कि कहाना से बातर हो जाती है । केवल यही चाहती
है, कि मेरी छुबन से उन्हें समाधान मिले । वे जाति पायें, और सो जायें !'

'जाति पाने हैं वे तुम्हारे पास ?'

'बस उन्हीं ही देर । फिर वही उचाट । और फिर कई दिन दर्शन
दुखेभ । मंत्रणा-गृह में, या फिर अपने एकाकी शयन-कक्ष में । या फिर कई
दिन शायब । . . काश, उनकी भर्म-अवधा की जान सकती ।'

'ब्राह्मणी-युव अध्यय राजकुमार के पास है, सम्माट के हृदय की कुंजी ।
महारानी नंदशी का यह बेटा, अपने सम्माट-पिता का पिता और सखा एक
साथ है । वही एक दिन बाप की चाह पूरी करने को, बैशाली की रूपशिखा
चेलना का हरण कर गया था । क्या तुम मौजती हो कि अध्यय से उनकी
कोई गति-दिग्दि छपी रह सकती है ?'

'मौ तो मुझे पता नहीं। पर अभय चुप रहता है। बड़ा आलीन और गंभीर लड़का है। आगनी माँ से अधिक मुझे प्यार करता है। आसा है, तो बड़ी देर चूपचाप मेरे पास बैठा रहता है। बिना बोले ही मेरी रोदा करता रहता है। या फिर कभी मौज आने पर, अपनी नित-नपी करतूतों की साहस-बातों सुना कर मुझे खूब हँसाता है। मेरी चृपी और उदासी उससे सहन नहीं होती। पर सम्राट की बात आने पर छापोश हो जाता है, या फिर ढाल-मटोल करता है।'

'चनुर-खूड़ामणि है अभय राजकुमार। कूट-चक्री शर्पकार तक की चौंटी उसके हाथ में है। वही तो है मगधराज का असली मंत्रीश्वर ! वैशाली की जनपद-कल्याणी आञ्चलिकी की साधी में, मगधेश्वर के सौंदर्य-स्वर्ज को सिद्ध करने के लिए, अभय ही परम रूपसी सालबती को खोज लाया था। और उसे राजगृही की जनपद-कल्याणी के गवाक्ष में आसीन कर दिया। आञ्चलिकी को सहस्र सुवर्ण से पापा जा सकता है, तो सालबती का दर्शन मात्र दो सहस्र सुवर्ण से हो सकता है।' 'पर सालबती के होसे भी सम्राट को राजगृही अंधेरी ही लगती रही। गंगा और शोण के कछारों में आधी रातों इस विजेता का दौड़ता घोड़ा क्या खोजता है? वैशाली के सीमांत या आञ्चलिकी का कुँकारा सीमत? . . .'

'बद्धमान, चुप नहीं करोगे . . . !'

'मैं उनकी निदा-आलोचना नहीं कर रहा, मौसी। मैं उनका अभिनन्दन कर रहा हूँ। मैं केवल कस्तु-स्थिति को तुम्हारे सामने पढ़ रहा हूँ। विविसार श्रेणिक ने दूर से ही मेरे मर्म को छू लिया है। मैं उसके खोये-भूले बालक हृदय को तुम तक चौकस पहुँचा देना चाहता हूँ। समझ रही हो, मौसी? बद्धमान को मिय है, श्रेणिक विविसार।'

'समझ रही हूँ, बेटा। तुम्हारी मुझे इस बड़ी बहुत ज़रूरत है। मुझे ही नहीं, मगध, वैशाली और समस्त आर्यावर्त को।'

'तो जो मैं कहूँ, वह करोगी मौसी? सम्राट से कहला दो, कि: 'आपको मेरी ज़रूरत नहीं है, तो मगध-वैशाली के सीमावर्ती गंगा-तट के महल में कुछ विन-एकांत-वास करने जा रही हूँ। मेरा सैन्य-यशिकर मेरे साथ रहेगा। जब चाहें, वही आपका स्वागत है . . .'-फिर देखो, क्या होता है!'

'क्या कह रहे हो, बड़मान ! वे सुन कर पागल हो जायेंगे । एक दिन भी वे मेरा दूर जाना सह नहीं सकते, चाहे फिर महीनों मेरे पास न आये । और मगध-वैशाली के सीमांत-महल में ? अनथं हो जाये . . . !'

'कितने समय से तुम उन्हें नहीं भिली, मौसी ?'

'पूरा चौमासा दीत गया । बादल-बिजली की तूफ़ानी रातों में चितित हो उठी हैं बार-बार, कि कहाँ होंगे ? पर अभय तक को पता नहीं है कि कहाँ हैं वे ?'

'अभय की ओर से श्रेणिक की बचत कहीं नहीं है, राजेश्वरी ! सालबती के नीलकांति-प्रसाद में तुम जा सकती हो, मौसी ?'

'किससिए . . . ?' चलना की भीहैं कुचित हो गयी ।

'लग्ने रात्रदा ८, १०, १२ बजे हो जाएँगे . . . !'

'मूळ पर दया करो, बड़मान . . . !'

'सालबती का अशात-पितृजात पुत्र जीवक कीमार भूत्य, अभय की तरह ही तुम्हारा बेटा है ! अभय ने घूरे पर से डटा कर अपने महल में उसे गाया । तथशिला में रख कर उसे अनेक शिल्प-विज्ञानों में दक्ष बनाया । आज वह भारतीय आयुर्वेद का धनवंतरी है । उज्जित्री-पति चंद्रश्रद्धोत और कोस-लेन्द्र प्रभेनजित का वह तिजी और गोपन चिकित्सक है । मगध से वीतिभय और मांधार तक, वह केवल इन राजेश्वरों के धानुओं का ही कर्ता-धरता नहीं, इनके कूट-चक्रों की नाड़ियों भी जीवक भिपण की उंगली के झारों पर चल रही है । मगधेश्वर का यह सूर्यीशी पुत्र बतमान भारत का सबसे बड़ा राजायनिक है . . . !'

'बड़मान, तुम क्या कहना चाहते हो . . . ?' मौसी का स्वर रुद्धिमा हो जाया ।

'यही कहना चाहता हूँ, मौसी, कि सालबती के महल में जा कर एक बार पता कर आओ, कि क्या तुम्हारे म्बामी को वहाँ चैत पढ़ा ? और उनसे कहो, कि जहाँ चाहें वहाँ वे निश्चित विचरें । चाहें तो तुम्हें भी साथ ले जायें । पृथ्वी की तमाम जनगण-कल्याणियों और अपनी मन-मोहिनियों के समक्ष वे तुम्हें खड़ी देखें । . . . उनसे कहो, मौसी, कि चलो भैरं साथ वैशाली, देवी आञ्जनानी के पास तुम्हें पहुँचा आऊँ । और कहो कि वैशाली की

वैशाली के बानी सौंधे आँचल में एक बार दुक निश्चित हो कर सो जायें। वैशाली तब उनकी होगी। साम्राज्य तब अपनी फ़िक खुद ही कर लेगा। ... पर उन्हें तब लगेगा कि बारि-वसना कुमारी पृथ्वी, जयमाला बनकर उनके गले में झल गयी है !

'मान, उनकी मर्यादा तोड़ने को कहते हो मुझसे ?'

'उनकी मर्यादा तुम हो, मौसी ! उनका यह धन्यिमेद तुम्हारे सिवा और कौन कर सकता है ?'

'धन्यि की बान तुमने भली कही, मान। धन्यियों का यह जाल तो उनके आमपास ऐसा छोरहीन फैला है, कि सोचती हैं, तो विभिन्न हो जाती हैं। वे चारों ओर से इसमें जकड़े हुए हैं। महामात्य वर्षकार है उनके साम्राज्य स्वर्ग का बाहक। उसी के बनाये नक्शों पर रात-दिन इनकी उंगली धूमती रहती है। चंपा को घेरे बैठा है, इनका सेनापति चंद्रभद्रिका। वह मगध के मैत्र बल पर, इनकी आँखों में धूल झोक कर, चंपा का सिंहासन हथिया लेने के पड़यंत्र रच रहा है। और अपनी द्वी पीछा का जाया अजातशत्रु, मेरे सोभाग्य लक का शत्रु हो रहा है। ये उसे आँखों से दुलराते हैं, पर इनको वह फूटी आँखों नहीं देखता चाहता। बाप और बेटे के बीच सम्भाटत्व की टक्कर है। अपना ही भर फूटा हुआ है। मगध में आज कोई शशु है और कौन मिथ, पहचानना कठिन हो गया है। ... बहुत बाले हैं, चंदन, मेरा दीमांग काम नहीं करता। ... बहुत व्याकुल हो कर तेरे पास चली आयी हैं ! ... ऐसी ऐसी बाते हैं कि कहते नहीं बनती !

'जब मेरे पास आयी हो, तो साफ-साफ कहो, मौसी, सब सुनना चाहता हूँ !'

'जानता तो है, चंपा के राज-महालय में बैठी है, मेरी जीजी पदमावती, तेरी बही मौसी ! उनकी बेटी चंद्रभद्रा शील-चंदना, आर्यावृत्त के पूर्विय समृद्धोरण को सौंदर्य-लक्ष्मी है। ऐसी खुदर है तेरी यह बहन और मेरी भागिनेमा, कि चंदन तदी की लहरें उसमें साकार हुई हैं। सम्भाट कहते हैं कि-शील-चंदना का ही दूसरा नाम चंपा है। — चंपा में विछेगा भावी साम्राज्य-लक्ष्मी का सिंहासन ! और तब वैशाली उनकी तलवार के कोश में होगी !

'मुझे सब पता हूँ, मौसी ! तुम्हारे सम्भाट के मन को मैं हथेली पर रख्ते और ले की तरह पढ़ता रहता हूँ। अच्छा, और भी सब साफ-साफ कहो, मौसी !'

'तो सुन बद्धन, अजातशत्रु और वर्षकार चंपा के निर्गंठोपासक आवक-शेषियों के महालयों में घुस कर, चंपा के विनाश का प्रयत्न रख रहे हैं। और चंपा के ये श्रेष्ठी, जिन-शासन के अनुयायी, हमारे सहधर्मी हो कर भी दोहरी बाजी खेल रहे हैं। एक ओर आवक-श्रेष्ठ महाराज दधिवाहन के प्रति इनकी राजभक्ति का अंत नहीं; दूसरी ओर अपनी अमित सुवर्ण-राशि में अजातशत्रु को वशीभूत कर, साम्राज्य का सौदा अपने हित में बांटना चाहते हैं। बर्तमान राजा और भावी राजा, दोनों को अपनी मुट्ठी में रखकर, अपने च्यस्त स्वार्थ की खातिर, जिनेश्वरों की आदिकालीन शासन-भूमि चंपा को किसी भी जिनद्वाही के हाथ बेच देने तक मैं उन्हें कोई हिचक नहीं। . . . लगता है, जैसे अजायाजी के भास्या जैसी कोई चीज होती ही नहीं . . . !'

'सो तो नहीं होती, मौसी! फिर? . . . और भी कुछ कहना है?'

'मील-बंदना बहुत संबेदनशील और गहरी नड़की है, मान। आर्हत-धर्म की यह ग्लानि उसे असख्त है। चंपा होती हुई आयी है, और अपनी आईयों सब देख आयी हैं। शीत के आसू सहे नहीं जाते। चंपा के ध्येय के सपने उसे रात-दिन सता रहे हैं। और उसके कौमार्य पर साम्राजी तलबारों की झन-झनाहट मंडरा रही है। कहा न, मान, अपना ही घर फूट गया है! बोल, कहाँ जाऊँ, क्या करूँ? क्या ऐसे मैं भी तू चुप ही रहेगा? सबकी आईयों के बल तुझ पर लगी हैं, बर्दमान!'

'सुनो मौसी, कोई ठीक-ठीक नहीं जानता कि वह क्या चाहता है। लिप्सा सुवर्ण की है, राज्य की है, रूप की है या अपने ही रक्त की? किसी को नहीं मालूम। हर कोई अपने ही विलङ्घ उठा है। अपना ही शत्रु हो उठा है। यह जड़ की बात है, मौसी। काश, तुम्हें समझा सकता! काश, हम पहले अपने ही को प्यार कर सकते, अपने ही भिन्न और सम्राट ही सकते! . . . हो सके तो मगधेश्वर को, मैं इस सत्यानाश के दुश्चक्ष से निकालना चाहता हूँ। मुझे विदिसार की लङ्घत है! . . . !'

'तू मिलेगा उनसे?'

'नहीं, ठीक समय पर वही आयेगे!'

'पर आग तो अग्नि हुई है! . . . अभी और यहाँ बचने का कोई उपाय नहीं?'

'है। पर युद्ध अनिवार्य है। बैशासी का गण-पुत्र बर्दमान इस युद्ध का परिचालन करेगा। वह इसका स्वयं-नियुक्त सेनापति होगा। राज्य और संत्य

के बल नहीं, गण्ड-अस्त्र के बल नहीं, अपने ही बाहु और आत्म के बल पर वह लड़ेगा। वह एक साथ हर मोर्चे और हर पक्ष पर लड़ेगा। वह वैशाली की ओर से मगध के खिलौने लड़ेगा। वह मगध की ओर से वैशाली के खिलौने लड़ेगा। हर पक्ष उसका होगा : कोई पक्ष उसका नहीं होगा। धर्म का ध्रुव ही उसका एकमात्र गत्यास्त और मोर्चा होगा। ' ' ' मेरा सीमांत मेरे भीतर है, और वहाँ मेरा पृथ्वी आरंभ हो चुका है। इस पृथ्वी में मुख्य ही नहीं, लिंगयाँ भी लड़ेगी। बेलना अब और मगध के अंतःपुर की बंदिसी हो कर नहीं रह सकेगी। ' ' ' शील-चंदना से वह देना, महावीर उसके साथ है। वह निर्भय हो जाये। ' ' '

'और मगधेश्वर के लिए तुम्हारा क्या सदेश है, मान ?'

'उनके साम्राज्य-स्वान को मैं पूरा करूँगा। उनकी हर चाह को मैं पूरा करूँगा। उनसे अधिक मैं जानता हूँ, वे क्या चाहते हैं।'

'और मेरी वैशाली का तुम्हें कोई दर्द नहीं ?'

'वैशाली अजेय है। वह कुछ योजनों और महालयों में बसा मात्र एक महानगर नहीं। इस सुवर्ण-रत्नों के प्रासादों वाली वैशाली वा ध्वंस कोई कर भी सकता है। पर इस वैशाली के भीतर एक और वैशाली है। वह अविनाशी और अनतिकम्य है। वह प्राणि मात्र के स्वतंत्र्य की यज्ञ-वेदी है। मगधेश्वर से कह देना, कि उसका अभिनिहोत्री वर्जनाल महावीर है। मगध की तो बात दूर, कोई बड़ी से बड़ी देवी, दानवी या मातवी सत्ता भी उसका विनाश नहीं कर सकती। इसका कुओं का सूचे कभी अस्त नहीं हो सकता। ' ' '

'मेरे राजा बेटे, मेरे बद्धमान, शत-सहस्र संकल्प र जियो ! तुम कितने अच्छे हो। ' ' कितने बड़े हो मुझ ! राजगृही आओ बद्धन, तुम्हें पा कर मगध की हवाओं का रख बदल जायेगा। ' ' वे तुम्हें पा कर कितने प्रसन्न होंगे, तुम्हें कल्पना नहीं। मुनो, मैं जानती हूँ, वे मन ही मन तुम्हें बहुत प्यार करते हैं। ' ' '

'मुझे फता है, मौमी। आसमान की तरह निर्लेप है ध्रेणिक की आत्मा। यह मेरे और तुम्हारे सिवाय और कोई नहीं जानता। सब मुझ पर छोड़ दी, और तुम निश्चित होकर जाओ। वैशार गवेत की कूट-शिलाएँ, मेरी पगतलियों में कसक रही हैं। राजगृही के चैत्य-जानाओं में एक दिन अजानक तुम मुझे चिचरता पाओगी। मगधेश्वर से कह देना कि अपनी सेनाओं के बल पर वे वैशाली को शिकाल भी नहीं जीत सकेंगे। चाहें तो बद्धमान के बल पर

वे बैशाली तो क्या, समस्त जंबूद्वीप पर अपना चक्रवित्त्व स्थापित कर सकते हैं। अन्यथा जो भी बाजी छोलेंगे, वह हार की होगी। उस तरह, साधारण याने के बजाय, अपने ही को गंदा बैठेंगे। साधारण... !

“चेलना की भुवन-मौहिती भुजाओं वा भरा-भरा आगिन, मेरे जारी और उमड़ कर भी, मैंने समेट न पाया। मैं मौसी और माँ के चरण-स्तर्ण से एक साथ उड़ा। दोनों बहने एकत्रिती ही भुज पर उा कर बत्तल आत्हाद से फूट पड़ीं।

“एकटक निहारती चेलना की उस मिथ्ये सज्जत दृष्टि में, अपनी ही चेलना वा एक ग्रोजावन विष्णव देखा मैंने।

‘मेरे साथ चलोगी, मौसी ?’

‘कहाँ... ?’

‘जहाँ मैं भे जाऊँ !...’

‘तब न आना क्या मेरे बण का होगा ?’

‘को तुम्हें मिवा ले जाने को, एक दिन शाजगृही आऊँगा... !’

“मौसी को अपनी भावाकुलता और बांहों पर संयम करना पड़ रहा था।

“मैं दोनों हाथ जोड़, मुहकराता हुआ अनायास कध मे बाहर हो गया।



वैशाली के संथागार में

महाराज मिथार्थ अपने निज कथ में, एकाएक मुझे सामने खड़ा पाकर भौबक के रह गये। बचपन के बाद पहली बार यहाँ हूँ, और इस वैभव के कथ में, जैसे एकदम ही विदेशी की तरह खोया खड़ा हूँ। आश्रय से राजा निस्तब्ध है, और मानो मुझे नये मिरे से पहचानना चाह रहे हैं।

'बापू, कल वैशाली जाना होगा। आदेश पा गया हूँ।'

'यह सो चमत्कार हुआ बेटा ! अब बड़ी भोर की वैशाली से आशा-रोही तुम्हारे लिए निमंत्रण लेकर आया है। मैं स्वयम् तुम्हारे पास आने ही को या, कि तुम खुद भी आ कर मुझ से वही कह रहे हो। आश्रय !'

'मुहर्त इमी की तो कहते हैं, महाराज !'

'चेटकराज ने लिखा है, बेटा, कि चम्पा की भीतरन्वाहर चारों ओर से मागधी ने धेर लिया है। पूर्वीय समुद्र-पत्तन पर से सुवर्ण-द्वीपों की जाने काले अहाजों को मागध अपने पोलों में खाली कर, सारी सम्पदा भगध पहुँचा देते हैं। चम्पा का वाणिज्य समाप्त हो गया।'

'तो चम्पा की मुक्ति का मार्ग आसान ही गया, बापू !'

'वर्दमान, यह क्या कह रहे हो तुम ?'

'यही कि चम्पा अपने शत्रु को अब ठीक-ठीक पहचान सकेगी।'

'शत्रु को पहचानना तो अब असम्भव हो गया है, चम्पा में। जन-जन के घर-घर में शत्रु मित्र बन कर घुसे बैठ हैं। ऐसा लगता है कि चम्पा के जन ही देश-द्वोही हो उठे हैं।'

'देश-द्वोही नहीं, राज-द्वोही कहिये, बापू। और जन के लिए वह होना तो स्वाभाविक या। पर मातृभूमि का द्वोह कभी जन नहीं करते तात, वह तो महाजन और राजन ही करते हैं। क्योंकि उनके मन सम्पदा और सत्ता से

अधिक मूल्यवान और पवित्र कुछ नहीं। मैं और बलभान का सतीत्व भी उनके लिए गीण हो सकता है। फिर बेटारी भातूभूमि की कथा कीमत! वह उनके मन जड़ धरती से अधिक माने नहीं रखती, जिसे अपनी तलबार और सुवर्ण से वे खरीद और बेच सकते हैं। ताकि रत्नभर्ता वसुन्धरा को वे मन चाहा सुन लें।'

'बेटा, मैं तो तुम्हें निषट सौम्य जानता था। कल्पना न थी कि इतने उम्र भी तुम हो सकते हो। कभी तुम्हारी आवाज तक इस राजमहल में नहीं सुनाई पड़ी। और अब देखता है कि ज्वालामुखी बोल रहा है . . . !'

'मैं नहीं बापू, महाशक्ति बोल रहीं हैं, और मैं भी उसे सुन रहा हूँ। उसका साक्षात्कार करके मैं स्वयम् स्तम्भित हूँ।'

'इष्ट ही है बेटा, इस समय बैशाली को तुम्हारी आग की ज़रूरत है। रूप उसका जो भी हो। महाधनुर्धर महाली धनुर्वेद के एक विकट प्रयोग में, अचानक आँखें खो बैठे हैं। तो मानो सारी बैशाली अन्धी हो गई। हमारे दुर्भाग्य की पराकाष्ठा हो गई। तुम्हारे मामा महानायक सिंहभद्र तका इस कुर्बाना से एकदम हृताहत हो गये हैं। कहते हैं, मेरी दक्षिण भुजा टूट गई, मेरा धनुष भूलूँठत है।'

'मगर सुनता हूँ, तात, सिंह मामा तजशिला के आचार्य बहुलाश्व की बीरांगना बेटी को व्याह लाये हैं। कहते हैं, सौ तने धनुषों की ताक़त, अकेली रोहिणी मामी की बायीं भुजा में हैं। आयक्षित के पंक्तिवद्ध धनुर्धर एक और हो और गान्धारी रोहिणी एक और हो, तो भारी पड़ती है। सुनता हूँ साक्षात् रणचष्टी हैं ऐसी रोहिणी मामी। सिंह मामा ऐसी बायीं भुजा के रहते भी, इतने निराश कैसे हो गये . . . ?'

'कुछ भी हो बेटा, आखिर तो स्त्री है। कोमल कान्ता ही छहरी न।'

'पर यह कान्ता जब कानी हो उठती है, तो कराली कराली हो जाती है, तात! गान्धार की उस महाकाली को एक बार देखना चाहता हूँ।'

'उसी ने तो तुम्हे बुलाया है बेटा, तुरन्त। चेटकराज के सन्देश के साथ अनुरोध-पत्र तो रोहिणी का ही है। वह अविलम्ब सुझ से मिलना चाहती है।'

'अहोभाग्य, पितृदेव! तो कल सबेरे बड़ी भोर हम प्रस्वान कर जायेंगे।'

'साधु बेटा, साधु . . . !'

और मैं चलने को उद्यत हुआ कि महाराज सहसा बोले:

'आये हो मेरे गाम, तो एक बात तुमसे पूछनी है। तुम्हारी मौतक तुम्हारे मन की थाह न पा सकी। फिर भी एक बार हो सके तो लबूल तुम्हारा अन्तरंग जानने को इच्छा होती है।'

'इससे अधिक सुख मेरा क्या हो सकता है, कि आप मेरा मन जानें, मुझे जानें। आप निःसंकोच पूछें, मैं प्रस्तुत हूँ।'

'कलिगराज जितशथ की बैठी यशोदा, कालोदधि समुद्र के सुकरान्फल-सी मोहक सुनी जानी है। कहते हैं, उसकी कान्ति क्षण-क्षण तब्य-नुतन होती है। मन ही मन वह तुम्हारा बरण कर बैठी है। कहती है, केवल तुम्हारी नियोगिनी है वह, तुम ही एकमात्र उसके नियोगी पूर्व। जम्बूदीप के अनेक राजयुग उसके पाणि-पद्म के प्रार्थी हैं। पर उसने सारे मरीं लौटा दिये हैं। तुम्हारी बाट जोहती बैठी है। कलिगराज सन्देशों पर सन्देश भेज रहे हैं। क्या कहते हों तुम ?'

'नियोगिनी मेरी कीन नहीं है, तात ! लोक की सारी ही कुमारियाँ मुझे तो अपनी नियोगिनी लगती हैं। तब चुनाव का तो प्रश्न ही नहीं उठता। यव स्वीकृत है मुझे, नो कलिगराज-नन्दिनी क्यों अस्वीकृत होंगी ?'

'मव नियोगिनी है, तब तो सम्बन्ध का सूख ही हाथ नहीं आता।'

'सम्बन्ध का एक मात्र यहीं सूत्र मुझे स्वीकार्य है, बापू। यहीं एक सम्पूर्ण और भल्का सम्बन्ध हो सकता है। और मारे सूत्र वाम पड़ने हैं, क्योंकि वे क्षणिक और परिवर्तनशील हैं। निय और सद्य सम्बन्ध के अतिरिक्त और कोई सम्बन्ध मेरा तो हो नहीं सकता।'

'अमझा नहीं मैं ?'

'नियोगिनी तो कई जन्मों की जाने कहाँ-कहाँ होंगी मेरी। जाने कब कीन मही मिल जाये, क्या उमका दावा झूठ मानूँगा ? स्वीकारने ही तो बनेगा। विवाह और अन्तःपुर की सीमा में ये गव कैसे गिरते ?'

'तो क्या विवाह नहीं करेंगे ?'

'करता मैंने कुछ भी अपने हाथ नहीं रखा, बापू। जो है, जो होंगा वह सब मेरा ही तो है। तब अनग भे अपनाने की छूट रही रह जाती है। जो सम्बन्ध आये, उस सब का स्वागत ही तो कर सकता है।'

'प्रकट है वि विवाह नुप नहीं स्वीकारने, और नियोगिनी तुम्हारे मन नगण्य है।'

'नग्य बर्द्धमान के लिए कुछ भी नहीं। सभी उसके भन वरेष्य हैं। अन्तर केवल इतना है कि नियोगिनी नहीं, मुझे योगनी चाहिये। नियोग मात्र नैमित्तिक और नाशवान है। केवल योग ही स्वायत्त और अविनाशी है। मेरे सम्बधों का आधार है नित्य योग, अणिक भोग नहीं। विवाह, नियोग और भोग में, वियोग अनिवार्य है। क्योंकि वह सब खेल भोग का है, मूर्छा का है, भोगिनी कर्म का है। सो मुझे नियोगिनी नहीं, वियोगिनी नहीं, योगिनी चाहिये।'

'तो वह भी तो कहीं होगी ही, और कभी आयेगी ही! आखिर क्य ?'

'वह कहीं और कभी से परे, सदा अभी और वही है, देव ! नहीं तो फिर योगिनी कौसी ? देश और काल सापेक्ष जो है, वह योग कैसे हो सकता है, उसमें तो वियोग और मृत्यु बद्धमूल है।'

'अभी और यही है वह योगिनी तुम्हारी ? मतलब ... ?'

'मतलब कि वह तो भीतर के अन्तःपुर में सदा प्रस्तुत बैठी है। भीतर गये कि उसके आत्मिय की बाहें फैली हैं, हमें समेटने को। ऐसा रमण जो विरमण जानता ही नहीं ... !'

'समझ रहा हूँ, आशुष्यमान् ! समझ यही समाप्त दीखती है। जो समझ से परे है, उसे समझने की कोशिश ही गलत है। काश, मैं समझूँ द्यो सकता।'

'वह है आप, वह अन्यत्र और अगले क्षण में कहीं नहीं है। आप जो अपने को नहीं मानते, वही तो एकमात्र हैं आप ... !'

पिता पराजित से अधिक प्रसन्न दीखे; अपने बावजूद, अपने आप हुए लगे।

'तो कल प्रभात बेला में, आप मुझे सिंह-तोरण पर प्रस्तुत पायेंगे।'

महाराज उठ कर मुझे द्वार तक पहुँचाने को बढ़े, तब तक मैं आ लूँगा था।

* * *

उत्तर-पूर्व के कोण-धातायन पर, नीहार में नहा कर उठती-सी ऊँचा फूट रही है। मैं तैयार हो कर कक्ष में टहल रहा हूँ। सहसा ही सिंहपौर पर मंगल का शंखनाद और घण्टा-रथ सुनाई पड़ा। फिर दुंडुभियों का धोष और अनेक प्रकार की तुरहियों का समवेत स्वर उठने लगा। रेलिंग पर से झीका, राजहार से लगा कर जही तक मार्ग दीखा, नाना रंगी फूलों और पल्लवों के विसान से छाई बीषी; कदली-स्तम्भों के बने द्वारों में से होकर दूर तक चली गई है।

देखा कि ठीक सामने की ऊँचा के रंग का ही उत्तरासंग और अन्तरखासक धारण किये हैं। अनायास ही तो ऐसा हुआ है। तभी उत्तर में दिखाई पड़ा, अपूर्व

महार्ष शृंगार किये महाराजी विशला देवी-सी चली आ रही हैं। उनके दोनों हाथों में उठे सुवर्ण धाल में, मेरे जन्म-कल्याणक के समय सीधर्म इन्द्र ढारा लाये दिव्य रत्नों के किरीट-कुण्डल, केयूर, मणिबन्ध, कण्ठहार और अस्त्राभूषण जगमगा रहे हैं। उनके अगल-बगल दो सुवेणी सुन्दर प्रतिहारियों, विश्व मंगल-सामग्रियों के धाल, मणि-कुम्भ और एक रत्नजटित कोशाकाली तलवार लिए चली आ रही हैं।

माँ की चरण-रज ललाट पर खड़ा कर, मैंने कहा : 'क्या कोई भैंट लेकर जाना होगा वैशाली, माँ ? वहाँ कोई राजा और राज-दरबार भी है क्या ?'

'वह भुझे नहीं पता। मेरा राजा तो मेरे सामने खड़ा है। वह तो राजवेश धारण करेगा ही !'

'सुनता हूँ, वैशाली में तो जन-जन राजा और राजपुत हैं। फिर मैं कोई विशेष राजा बनूँ, यह तुम चाहोगी ?'

'मेरा बेटा वैशाली का ही नहीं, तीनों लोकों का डाजा है। राजराजेश्वर है ! '

कहने-कहने माँ का मला भर आया। उन्होंने चौकियों पर धाल रखवा कर, संविकारों को जाने का संकेत दे दिया।

‘‘विकल्प अमम्भव प्रतीत हुआ। आज की यह माँ, केवल मेरी नहीं, भूदनेश्वरी जगदम्बा लगी। . . . और राज्याभिषेक तथा शृंगार मैंने अपना नहीं, वैतोऽयैश्वर का हीते देखा। उसमें बाध्य होना, क्या अहंकार ही न होता ? मैं कौन होता हूँ, कि वह स्वीकार्ण, या अस्वीकार्ण ! साक्षी और समर्पित हो कर वह नतशिर मैंने लेला। श्रीकल के राष्ट्र इक्षवाकुओं की परम्परागत महामूल्य तलवार महाराजी-माँ के हाथों में उठ कर, समक्ष प्रस्तुत हुई। मैंने सादर उस दोनों हाथों में ग्रहण किया और अपने मर्मगी सिंहासन पर उसे लिटा दिया। . . .

'कहाँ नहीं, कटि पर इसे धारण करेगा मेरा केसरी कुमार !'

'नहीं माँ, यह तलवार मेरी शेया ही हो सकती है, मेरा हथियार नहीं। तुम्हारी दाली ये दो भुजाएँ क्या कम हथियार हैं मेरे लिए ! तलवार पर मैं सो ही सकता हूँ, उसका भार मैं नहीं हो सकता।'

'अश्रिय का बेटा हो कर, खड़ग धारण से इनकाश करेगा, मान ? अब तक तेरी हर हठ मैंने मानी, आज तुझे मेरी हठ रखनी होगी !'

'तुम्हारी हर हठ में प्रसी कलौंगा मौ। अपनी दी देह का मनचाहा शृंगार तो कर ही लिया तुम्हने।' 'पर मेरा शावत्व तलबार की सीमा नहीं स्वीकारता। उह उसके आगे का है, शस्त्रवीत है। बड़ी से कर वैशाली जा रहा है। क्या तुम चाहोगी कि मेरा प्रयोजन ही परामित हो जाये?' ''

मौ निःशब्द इस पुत्र को पहचानती-सी देख रही। उनकी बड़ी-बड़ी आयत औंखों पर आरतियाँ-सी उजल उठीं। झुक कर मैंने तिलक धारण किया। मौ ने भुज पर बक्षत-फूल बारे। आंखें फैला कर ओवारने के लिए। माणिक की पायतों से भण्डित मौ के चरण-युगल में मैंने माथा ढाल दिया। उठा तो उनकी बाहों में था, और सर मेरा उनकी श्रीवा और कन्धे पर।' ''

'सिंहपौर पर अनवरत शहनाइया, नक्काड़े, घण्टा और शंख छज रहे हैं। मौ की अगवानी में, राज-परिवार की केशरिया-बेशित रमणिया रंगल-प्रस्थान के रोमांचक गीत गा रही हैं। सहसा ही जामुनी कौशेय में आवरित ऊषा-सी वैनतेयी सामने आयी। उसकी औंखों के नीर कितने दूरगामी लगे। उनमें दृঁঁঁওয় কী করণ-ভুবী হেলেন গংগা-স্নান করনे আয়ী হৈ। উসকा तिलक, श्रीफल, पुष्पहार झेलते एक अपूर्व रोमांच-सा अनुभव हुआ।' 'फिर तो जाने कितनी ही गौर बौहों पर उछलती फूल-सालाखों और पुष्प-बर्षा ने महाराज सिद्धार्थ को और मुझे ढाँक दिया।

तुमुल जयकादेरों के बीच, मैं आगे खड़े अपने 'विशुवन-तिलक' रथ पर आस्क हुआ। और उसके पीछे खड़े 'सूर्य छब्ज' रथ पर महाराज-पिता बारूद हुए। ' ' पुष्प-पलवव वितानों में छूतती नान-सहस्रियों को पीछे छोड़ते हुए हमारे रथ वैशाली के राजमार्ग पर धावधान थे।

* * *

'बहुशाल चैत्य-कानन को पार कर, हम दक्षिण कुष्ठ-ग्राम से गुजरे। वहीं के स्वागत-समारोह में सहसा ही एक पाण्डुर तापसी ब्राह्मणी ने आगे आकर जब मुझे पुष्प हार पहनाया, तो एक विचित्र पुलक-कम्प का अनुभव हुआ। उसके मुक्त केशाविल औंचल की गन्ध जाने कैसी परिचित-सी लगी। भीतर के कान में जैसे किसी ने कहा : 'महाब्राह्मण, तुम जा गये!' ' ' जातूयों के समूचे कोल्लाल सम्मिवेश में, उत्सवी प्रजा की उमड़ती भीड़ और दशानाकुल औंखों में बपना अपनत्व हारता-सा अनुभव हुआ।' ' ' फिर बागमती नदी के तटान्त से गुजरते हुए हम छीक वैशाली के राजमार्ग पर थे। शारदीय फूलों से लदी, यक-सा तख्मालाखों

में से गुजरने हुए देखा : आईने-मी स्वच्छ सड़क पर दोनों ओर की बनराजि मानों पश्चे की शिलाओं में तनाश दी गई है। दोनों ओर के उगालों में झाँक रही थीं ठोर-ठोर बाधलों भरी बन-सर्गियाँ। काम फूलों के नदी बाली विजनवती नदियाँ। हंथों, चकवाकों, हरिणों के युधन-विहार। एष अद्भुत निर्मलता, लयात्मकता और गृणत्व का बोध हुआ। वैशाखिकों की सौन्दर्य-चेतना पर मृध्य हुए विना न रह सकत। अनौपिक लगायह प्रदेश : कोई स्वर्ग-पटल भी पृथ्वी पर अनेकास जैसे उत्तर आया है।

एक जगा ऊंचे भूभाग के शीर्ष पर जब हमारे रथ आये, तो अप्रत्याशित ही दूर पर देव-नगरी वैशाली गर्वीज्ञत खड़ी दिखाई पड़ी। अन्तर-मध्यभाग में सात हजार सुखण कलशों वाले उत्सुग प्रासाद आकाशतटी की चूम रहे हैं। उसके बाद जगा नीचाई में चौदह हजार रुप्य कलशों वाले सौध जगमगा रहे हैं। और तीसरे मण्डल में उनमें किंचित् नीचे इकरीम हजार ताम्र कलशों वाले छ्वेत भवन बादलों पर सोपान रख रहे हैं। नारद की उजली कोमल धूप में भव्य ध्वन नगर-परकोट, कंगूर, मिहद्वार, बातायन, और सारी भवन-मालाओं को अतिकान्त करते जिन-मन्दिरों के रत्न-जटित शिखरों पर केशरिया-श्वेत घजाएं उड़ीयमान हैं। इस मण्डलाकार नगर की प्रगति दिव्य रजना में एक ब्रह्माण्डीय समग्रता की अनुभूति हो रही है।

परापूर्वकाल का स्मरण हो आया। सहस्रों वर्ष पूर्व शिकाल सूर्योदयी इश्वाकु वंश के राजा तृणबिन्दु ने, अप्सरा अलस्त्रुषा के गर्भ में राजा विशाल को उत्पन्न किया था। उसी अप्सराजात राजपुत्र विशाल की लोकोत्तर कल्पना में से उसकी यह राजनगरी विशाला आविर्भूत हुई थी।

पृथ्वी पर उर्कशी की रूपज्योति का एक अक्षिणी टुकड़ा है यह वैशाली। उसके केशपाण से अकम्मात् चू पड़ा एक सुदर्शन कमल। विश्वामित्र के साथ जनक-पुरी जाते हुए भगवान रामचन्द्र, विदेहों की हस वैश्व-नगरी को देख कर भुग्ध हो गये थे। सूर्यवंश के इस ऐत्वर्य विरतार को उन्होंने गौरवभरी और्खों से निहारा था। और मैं इस विशाला का बेटा हो कर भी, पहली बार इसके छार पर ठीक अतिथि की तरह आया हूँ।

एकाएक पाया कि हम रत्नों, मणि-जालों और फूल-जालियों के वितानों से गुजर रहे हैं। अगल-बगल की पुण्यित दृक्ष-कीरियों को ही प्रियंग-लक्षाओं से गूढ़ कर तोरणों की एक अन्तहीन सरणि चली गई है। जाने किसने ही रंगों के

फूलों की गन्ध और पराग से ओस-भीती हवा गम्भिल और ऊम्ह हो गई है। और आसपास के शाम-जनों, कम्पकरों का भारी मेला चारों ओर मचा है। रंग-बिरंगी मज्जाओं में युवा-युवतियों के युध राह में श्रमकने-श्रमकते, नाना बादियों के साथ गान-नृत्य करते दिखाई पड़े। और सहलों कण्ठों से जाने किलनी जयकारे गूँज रही हैं।

‘‘हमारे रथ विशाला के द्विषाल नगर-तोरण पर आ पड़ैंचे। सुवर्ण की नक्काशी वाले इस तुंग मर्मर तीरण के शीर्ष पर शिखर-मंडित देवासय में अद्वित की चतुर्मुखी भव्य प्रतिमा चिराजमान है। अगल-बगल के पच्चीकारी बाले प्रकाण्ड बालायनों में नक्काढ़े और जय-भैरियों बज रही हैं। उनके रेलियों पर से पंकितबद्ध बालायों की चम्पकन-और वाहें फूलों की राशियाँ बरसा रही हैं। कारु शिल्प से मंडित तोरण के द्वार-पथों के विणाल आलयों में अखण्ड जोत महादीप जल रहे हैं। सुवर्ण खचित हाथी ढांत से मढ़े नगर काशटों की पच्चीकारी इन्ह की इशानपुरी के प्रवेश द्वार का स्मरण कराती है। सिंहपौर के दोनों ओर सुवर्ण-मूलों से अलंकृत श्रवण हस्तियों की पंकितयाँ शुण्ड उठा कर प्रणाम कर रही हैं। विशाला के पुराचीन इक्षवाकु घंडों की छवियाँ दिमलों को हिला रही हैं।

एक परम लावण्यवती केशरदण्डों कुमारिका ने द्वार के बीच खड़े हो कर सहस्र-दीप आरती उतारी। महानायक सिंहभद्र भव्य लिङ्गावि राजशेष में अनेक कुल-मुत्रों के साथ हमारे स्वागत को सामने प्रस्तुत है। उनके अभिवादन के साथ ही सहलों कण्ठों का एक महारथ गूँज उठा :

शातपुत्र वर्द्धमान कुमार जयवन्त हों ।

लिङ्गविकुल-सूर्य वर्द्धमान महावीर जयवन्त हों ।

कुण्डपुरावीह्वर महाराज सिंहार्थ जयवन्त हों ।

वैशाली गणतंत्र अमर हो : वजियों का गणसंघ जयवन्त हो ।

द्वार में प्रवेश करते ही लक्ष-लक्ष कण्ठों से अनवरत जयछानि होने लगी ‘इक्षवाकु-नन्दन महावीर जयवन्त हो !’ वैशाली का गण-केसरी महावीर जयवन्त हो !’ राज-भार्या से सगा कर, परकोटों के कंगूरे, और दोनों ओर के भव्य भद्रों के चबूतरे, अलिन्द, बालायन, गवाक्ष, छत, छज्जे, पारावार नरमारियों की रंगलटा से चित्रित-से लग रहे हैं। फूल, गुलाल, अबीर, मणि-चूणों की चट्टों ओर से बृष्टि हो रही है। आगे-आगे विपुल वैभव के इन्द्रजाल सी शोभा-यात्रा अनेक बादियों, पताकाओं, रथ-श्रेणियों, मुसज्जित अश्वों, हाथियों के साथ चल रही है। महार्थ वैश-भूषाओं से शोभित कुलांगनाएँ और बालाएँ बालायनों पर से

मणि-माणिक्य और फूलों की हार-मालाएँ निछावर कर रही हैं। रथ के अङ्गों, कलशों और खम्भों पर फूलों के ढेर लग गये हैं। अनवरत जयकारों से आलोचित इस जन-प्रदाह को मैंने शोभा के एक पारावार की तरह उमड़ते देखा। और सहसा अनुभव किया, कि वह महासमुद्र मेरे भीतर भूतिमान हो कर, एकाकी उस विशाल जन-प्रदाह की तरंगों पर चल रहा है। ' ' और अगले ही पल, पर्वतों-से इग भरते उस विराट् पुरुष को अपने में से निष्कान्त हो कर मैंने बनते हुए देखा। वैशाली की इस लक्ष-कोटि प्रजा की बाहुओं को मैंने अपनी भूजाओं में आत्मसात और और उद्धण्डायमान अनुभव किया।

' ' अबनों, डारों, शिखरों, गवालों, विपुल वैथवों, सज्जाओं, सहस्रों मानव-मुखों को मैंने एक पूजीभूत प्रभा के रूप में देखा। प्रह्लाद और शशा ही गया वह सौन्दर्य-दर्शन। मैंने माँ वैशाली का भव्योदयवल किरीट-मंडित मृग्य-मण्डल आँखों आगे जाज्वलयमान देखा। ' ' माँ के सीमन्त पर एक अमर सिन्धुरी ज्वाला जल रही है। मेरा माथा बरबस ही कुकुक गया। एक विश्वद चतुष्पथ में गुजरते हुए एकाएक सारथी ने कहा :

' ' भन्ने कुमार, यह है देवी आङ्गधाली का सप्तभूमिक प्राप्ताद ! '

सुवर्णिम हाथियों पर खड़े अपने भव्य तोरण पर आरुह सप्तभूमिक प्राप्ताद की रत्नच्छटा को एक कलक देखा। कि हठात् एक बड़ा सारा पद्म-नुच्छ आकर मेरे पैरों पर पड़ा। उसके दीन्हों-चीच स्तम्भित श्वेत ज्वाला-सा एक ही रा अगर-अगर झलमला रहा था। कमल-नुच्छ को उठाकर सन्मुख किया तो पाया कि उस सूर्योद हीरे के दर्पण में मेरा समस्त एक बारगी ही प्रतिबिम्बित हो उठा है। और एक पदनम्ब्र मेरी छाती में गङ्गा कार गहरा उलरक्षा ही चला गया। एक असह्य जलम मेरी वज्रवृषभ सन्धियों में कसका उठा। एक वहिमान तीर-सा प्रष्ठ सामने खड़ा उत्तर माँग रहा है। ' ' ही, वही उत्तर देने तो आया हूँ, माँ ! '

' ' नगर के केन्द्रीय चौक में हमारे रथ आ जाये। असंख्य लहरों में उमड़ते मानव-महासागर की जय-निनादों पर तैरते अपने रथ को एकाकी समझ देखा। ' ' सक्षान्तश्च आँखों के प्यास के केन्द्र बने एक सूर्य-पुरुष की रथ में आसीन देखा। स्वयम् डूब गया उन लाखों आँखों में, और उनके लक्ष्य को देख स्तम्भ रह गया। मैं नहीं रहा, वही रह गया। ' '

' ' और सामने दिखाई पड़ा वैशाली का विश्व-विद्यात संषागार, जिसकी कीर्ति-पताका ससागरा पूर्वी पर फहरा रही है। मनुष्य और वस्तु-मात्र की जन्म-

जात स्वतंत्रता का यह मानस्तम्भ है। चिर प्रगतिमान मानव के स्वातंत्र्य-संर्धर की यह एक मात्र परिक्राता आणा है।

जन्त-सहस्र जनगण की भुजाओंके चक्र पर बाहित, 'श्रिभूवन-तिलक रथ' ठोक संधारार के दिव्यीजि दयेन-मोणान के सम्पुल लो खड़ा हुआ। सभागार के अन्तराल और अलिन्दों से अविराम जय-ज्वरियाँ गुजने लगीं। अनेक मुकुटबद्ध कुल-जिञ्चों का नेतृत्व करती, सबसे आर के सोपान पर धनुष की प्रत्यंचासी दुर्जन्य और उत्तान एक बोमल गीरांगना खड़ा है। वह अपने दोनों हाथों में मंगलाचार का रत्न थाल डाले हैं। उसकी अखों के प्रदीप्त नीलमों में पश्चिमी समुद्र बन्दी है। उसके सुडोल अंगाओं में कांपिशय अंगुरों की लताएँ झूम रही हैं। '... निमिल मात्र में ही मैंने गान्धार-न्याला रोहिणी को गहनाम लिया। स्वागत में फैली उसकी डगत् मुखान को शिरोधार्य कर, मैं एक ही छलांग में रथ से उत्तर कर संयामार के सोपान चढ़ गया। मेरे संकेत पर मेरे सार्थी गारुड़ ने भी मेरा अनुसरण किया। मान्धारी मामी ने अक्षत-फूल बरसा कर मुझे बधाया। उनके गुब्बे से सहज ही फूटा :

'इष्टवाकुओं के सूर्य-पुत्र को मान्धारी रोहिणी प्रणाम करती है। विशाला धन्य हुई, अपने आचिल की छाँव में अपने भुवन-मोहन पुत्र को पा कर !'

'विशाला का गणपुत्र गान्धार गण-नंदिनी रोहिणी से मिलने आया है। आयर्वित के पश्चिमी समुद्र-नोरण की स्वातंत्र्य-लक्ष्मी को प्रणाम करता है।'

वह कर ज्यों ही मैं मामी के चरण-स्पर्श को लूका, कि उनकी धन्याकार बाहों के कण्ठहार तले, मेरा ललाट उनके बक्षदेश पर उत्सगित हो रहा।

'मामी ! ! !'

'मेरे महावीर ! ! !'

सुबर्ज की एक प्रशस्त चौकी पर मामने ही फूल-पल्लवों से आच्छादित माटी का एक सुचित्रित कुम्भ रखा है। उसे दोनों हाथों में ढाकर रोहिणी ने उस पर दोनों श्रीफल को अतिथि के चरणों में अपित करते हुए कहा :

'कैशाली की मंगल-पुष्करिणी का राज्याभिषेक स्वीकारो, देवपुत्र बहुमान !'

'... क्या मंगल-पुष्करिणी के चिरकाल के बन्दी जल मेरे हाथों मुक्ति चाहते हैं, मामी ?'

कहते हुए मैंने रोहिणी के हाथों घमा कलण, बरबस ही अपने हाथों में ले लिया। एक हाथ की अंजूलि में उसका जल ले कर मैं मृड़ा, और उसे पीछे उमड़

रहे जन-पारावार पर उछाल दिया। किर पास ही अनुगत थड़े अपने सारणी गारूढ़ के भस्तक पर एक जलांजुलि ढाल दी, और एक और जलांजुलि भर कर उसके पश्च प्रबार दिये। गांधारी आल्हाद से स्तन्ध देखती रह गई। स्वागतार्थी गणराजन्यों की भवुतियाँ तन आईं।

और पीछे सहज मुने उल्लास की गर्जना लध-लक्ष गण-कण्ठों से बार-बार गूंज उठी।

‘लिङ्छवियों का गण-सम्राट अनन्तों में जयवन्त हो !’

मैंने कलश रोहिणी के हाथों में थमाते हुए कहा :

‘इन्द्राजल में राजसूय का मैं नासुदेश कुण्ड ने हार भर, अहम अतिथियों का पाद-प्रक्षालन किया था। आज वैशाली में मेरा भी राजसूय यज्ञ सम्पन्न हुआ, माझी ! . . . आज मंगल-पुष्करिणी के चिर बन्दी जल अपने जनगण का अभिषेक कर के मुक्त हुए। चाहों तो, माझी, इस मुक्त जल-तत्व से अपने दोहित्र का अभिषेक करो !’

माझी ने कह-कह औजुलियाँ भर वे सुगन्ध-जल मेरी आचूढ़ देह पर बरसाये। भाल पर तिलक कर के, उस पर हीरक-अक्षत लगाये। सर छुका कर मैंने उनकी जयमाला धारण की।

फिर आगे-आगे चलती हुई वे मुझ सभागार में ले चलीं। नौ सौ-निव्यानवे कुल-राजन्यों, सामन्तों, श्रेष्ठियों, नागरिकों से सभागार खचाखच भरा है। मत्स्य देश के नील-श्वेत मर्मर पाषाणों से निर्मित, बेणुमार स्वर्ण-खचित स्तम्भ-काओं से संछित, इस भव्य भवन का शित्य-वैभव विस्मयकारी है। इसकी दीवारों पर चढ़ें और आर्य शालका-पुल्हों और तीर्थकरों की जीवन-लीलाएं चित्रित हैं।

मेरे प्रवेश करते ही समस्त परिषद् में एक मुग्ध और असौनिक निःशब्दता व्याप गई। सभागार के शीर्ष पर, एक विशाल मर्मर वेदी के मध्य स्फटिक की भव्य गन्ध-कुटी आसीन है। उसके सर्वोपरि देवालय में, माणिक्य के विशद कमलासन पर भगवान् वृषभदेव का एक भव्य मनोज विम्ब विराजमान है। वेदी पर चढ़ते ही मैंने उसके पाद-प्रान्त में साष्टांग प्रणिपाति किया। उसके एक और के स्वर्णिम भवासन पर गणपति जेटकराज आसीन हुए। . . . और मैंने पाया कि, मैं सहसा ही गन्धकुटी के अन्तिम सोपान पर एक जानू मोड़, दूसरा जानू खड़ा कर, शारून मुद्रा में बैठ गया हूँ। और अपने लिए बिछे सुवर्ण-भिहासन की पीठिका पर मैंने अपनी एक बौह पसार दी है। परिषद् में प्रत्याशा और विभोरता का एक अखण्ड भौत व्याप गया है।

... और कही कास्य-धंट पर रजत-दण्ड का गम्भीर आवात हुआ। सन्धी-पात भेरी तीन बार बज कर लुप हो गई। परिषद का उपोद्घात करते हुए चेटकराज ने खड़े होकर कहा :

'भन्तेगण सुनें। दिव्य है आज का यह मंगल-महर्ता। निर्छवि कुल के देवार्थी आयंपुत्र वर्षमान आज हमारे बीच उपस्थित है। समकालीन विश्व के आकाश उनकी कीर्ति से गुजायमान हैं। सूर्य सम्मुख है। वह स्वयं ही अपना परिचय है। आप सब की चाह पर वे यहीं आये हैं। आपकी ओर से उनसे निवेदन है कि वे अपनी बाणी से वैशाली को कृतार्थ करें।'

खड़े होकर मैंने अपने को यो सम्बोधन करते सुना :

'भन्तेगण सुनें। आपके सम्मुख हैं, मैं वैशाली के जरणों में प्रस्तुत हूँ। तो अपने होने को धन्य मानता हूँ। एक अनुग्रह का प्रार्थी हूँ। भन्तेगण, एक बार भेरे निवेदन को पूरा सुनें। फिर कोई प्रश्न उठे, तो उत्तर मूँझ में आयेगा ही।'

'वही आने वाला मैं कौन होता हूँ। लगता है कि बुलोया गया हूँ। लाया गया हूँ। भेजा हुआ गया है। आशोजन उसी महासना का है। मैं यही इस क्षण उसी के द्वारा नियुक्त हूँ। वही बोलेगी, मैं नहीं। वैशाली के नोरण में प्रवेश करते ही पाया है, कि अपने को रख नहीं सका हूँ। केवल अपने को होते हुए देख रहा हूँ।'

'...सुना कि वैशाली संकट में है, और आवाहन है कि उसके आण की तलवार और ढाल बनूँ। सो तलवार और ढाल ल्याए आया: स्वयम् वह बग कर इस कमीटी पर अपने को परखने आया हूँ। कृतज्ञ हूँ आप सब का कि अपने को पहचानने का यह अवसर आपने मुझे दिया है।'

'भन्तेगण, सुनें। यदि वैशाली आकाम्प है तो मैं उसे बचाने नहीं आया, आक्रमण तले उसे विछा देने आया हूँ। मैं युद्ध को प्रतियुद्ध से पराजित करने नहीं आया। मैं युद्ध को स्थगित करने नहीं आया, उसे अन्तिम रूप से लड़ कर अमाजन बार देने आया हूँ। मैं संधियों पर ठहरी भयभीत शांति को कायम रखने नहीं आया, उसे सदा के लिये भंग कर देने आया हूँ।'

'...क्यों है एक आक्रम्त और दूसरा आकाम्प? क्योंकि कोई अधिकार किये है, तो कोई अधिकार किया चाहता है। क्योंकि कुछ मेरा है, कुछ सेरा है। और मेरा-सेरा जब तक है, युद्ध रहेगा ही। मैं और मेरा है, कि

तू और तेरा खड़ा होता है। मो मैं और मेरा का भाव ही, मारी उपाधि का मूल है। वह स्वभाव नहीं, विभाव है, सो वह सत्य नहीं, मिथ्या है। वह अज्ञान है, असत्य है। वह कुछ वह है, जो दरअसल है ही नहीं। मात्र प्रमादजन्य भ्रान्ति है, जो मृद्गी से उत्पन्न होती है। वह स्वभाव से गिर कर, अभाव में जीना है। जो मेरा और वस्तु का स्वभाव नहीं, वह उसमें रहना है। वही असली पाप है। इसी मृद्गी को प्रझों ने परिग्रह कहा है। और परिग्रह को ही उन्होंने सबसे बड़ा पाप कहा है। परिग्रह यानी अपने को और वस्तु को चारों ओर से घेर लेना, कँद कर देना। वस्तु को कँद कर, उसे ले कर व्यक्तियों और राष्ट्रों तक के बीच जो लड़ाई है, वह कँदियों के बीच है। यह काग टूट जाये, तो सारा और सब स्वतंत्र हो जाये। और युद्ध भवा को समाप्त हो जाये।

'मैं वस्तु और व्यक्ति से लगा कर, व्यवस्था और राष्ट्रों तक की उस काग को तोड़ने आया हूँ। मैंने अभी संथानार के द्वार पर मंगल-गुप्तरिणी का ताला तोड़ दिया; और उसके मुक्त जल से जन-जन का अभिषेक कर दिया। तो बद्धमान भी विशेष नहीं रहा, वह अशेष, निशेष हो गया। अब मृष्ट बद्धमान, मुक्त वैशालिकों से लोल रहा है।'

'आप कहते हैं, वैशाली पर संकट है, आक्रमण है। पर अभी जो जन-गण का इश्वरास मैंने देखा है, उसमें संकट मुझे कहीं नहीं दीखा। आक्रान्ति नहीं दीखी: दीखी तो अतिक्रान्ति दीखी: आनन्द दीखा। भीतर जो अभाव की खन्दक सब में है, उसे अतिक्रान्त कर सब को आनन्दित होते देखा। यानी मुझे सामने पाया, तो सब विभाव के अन्धकार को लांघ कर स्वभाव में आ गये। तो भीतर जो अंधेरा है, भय है, वह मिथ्या है, मूर्छजिन्य है, क्षणिक है। सत्य और मन्त्रेतन जो है, वह तो वह वैशाली है, जो मैंने अभी देखी।'

'मैंने जो अभी देखा, वह वैशाली का ऐश्वर्य है, अभिशाप नहीं। अभिशाप जो हम देख रहे हैं, वह हमारा मात्र अज्ञान है। वर्ती तो ऐश्वर्य यहीं अनन्त और अव्याकाश है। ऐश्वर्य ईश्वरीय है, वह पुरुषीय है ही नहीं। मैंने यहाँ जन और धन का वह मुक्त ऐश्वर्य देखा। काग हमारे मन में, हमारे अज्ञान में है, जिसे अपने ऊपर और वस्तु पर लाद कर, हमने अपने बीच आक्रान्त और आक्रामक का छंड उत्पन्न कर लिया है। मैं और मेरा, तू और तेरा का वह परिग्रह जब तक रहेगा, तब तक विषह रहेगा ही।'

युद्ध अनिवार्य होगा ही । मैं और मेरा मिठ आये तो मुहर्त मात्र में साता
संकट समाप्त हो जाए ।

'... वही तो करने को मैं आया हूँ : इसी से निश्चल और निष्कर्ष
आया हूँ । शूद्र, स्वभाविक, स्वतन्त्र, स्वयम् आया हूँ । अपने ऊपर आये हर
कोश और कारा की तोड़ कर आया हूँ, ताकि वैशाली कारागार न रह जाये,
वह सर्व का अपना स्वतन्त्र आत्मागार हो जाये ।

'आप कहेंगे वैशाली तो स्वतन्त्र हूँ हो, क्योंकि वह गणतन्त्र है । उसमें
कोई राजा नहीं, यहाँ का जन-जन राजा है । हर व्यक्ति वहाँ स्वतन्त्र है,
और अपने भाव्य का स्वयम् तिण्यिक है । पर यह भगति है, यह आत्मवंचना
है । यहाँ का हर व्यक्ति स्वतन्त्र और आत्मनिर्णय का अधिकारी मुझे नहीं
दीखा । ऐसा होता तो आर्यविं वी तेजशिखा, देवी आश्रमाली को गणिका
के गवाक्ष पर बैठने को विषय न होना पड़ता । हमने उनके आत्म-निर्णय
के अधिकार का अपहरण करके, उन्हें अपने काम का कँदी बनाया है । आपकी
'प्रवेणी पुस्तक' चाहे कितनी ही प्राचीन कथों न हो : उसमें निर्धारित सारे
कानून बासना को अपने हक्क में व्यक्तिगत देने के लिए रखे गये हैं । बाहरी
व्यवस्था मात्र, काम और परिप्रह का सरंजाम और इनजाम है । परम्परा के बल
एकमेव सत्य की ही अक्षुण्ण और शिरोधार्य ही सकती है । अन्य सब परम्पराएँ
पर्याय की हैं, और द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव के नित-नूतन परिणमन के अनुसार
उन्हें एलट जाना होता है । इसी से कहता है, 'प्रवेणी पुस्तक' के कानून,
नूतन विषय-परिणमन के साथ अपने आप ही दूट गये । खत्म ही गये ।
उन्हें पाले रख कर, हम पृथिवी ही कहे जा सकते हैं, स्वतन्त्र नहीं ।

'उस कानून के कारागार को नर चढ़ा बन, हमने देवी आश्रमाली और
अपने गणतन्त्र का सत्कार नहीं किया, उन पर बलाकार किया है । यवं-
गुन्दरी और सर्वशिशा हैं वे, तो अधिकार और क्रय-विक्रय की वस्तु वे कौमें
हीं सकती हैं । निष्वय ही विभूतन-मोहिनी हीं अम्बाली । पर त्रिभूतन-मोहिनी
वे गणिका होने के लिए नहीं, समस्त मानव-कुल की माँ-तत्त्वमा होने के
लिए हैं । ताकि मनुष्य की जन्मान्तर-व्यापिनी सौन्दर्य-वापना की वे अपनी
मातृ-ममता से दुलग कर, उसे अपनी ही स्वाधीन आत्म-नक्षमी के सौन्दर्य
का दर्शन करा सके ।

'अज्ञात कुलशील हैं अम्बपाली, तो इसलिए नहीं कि स्थानकांचित् अभिजात कुलीन लोगों की भोग-सम्पत्ति होकर रहे। भगवती माँ अज्ञात कुलशील ही होती है। ताकि वे कुलशील की क्षुद्र मर्यादा से अतीत हों। मोहाविष्ट मानव-खल से परे वे कुलातीत हों, अकुला हों, अनाकुला हों। जगदम्भा मानव-निमित्त सारी छद्म नीति-मर्यादा को तोड़ कर ही मानव देह में प्रकट होती है। ताकि द्वय के स्वतन्त्र परिणाम का वे प्रतिनिधित्व नार सकें। वे अवैध अम्भा भी हैं, तो इस मिए कि वैधता के छद्म शील में छुपे कुलशील के विधि-विहित व्यभिचार का वे पर्दाफाश कर सकें। सर्व की नग्न और निःर्ग कर देने के लिए ही, वे महाकाली सदा नग्न विचरती हैं। और मिथ्याओं के सर्वसंहार के लिए वे मिहबाहिनी हों कर प्रकट होती हैं।

'भन्तेगण, कान खोल कर सुनें। (पृष्ठलोकानन में विराजमान इक्षवाकुओं को कुलदेवी अम्भा ही अम्बपाली के रूप में अवतीर्ण हुई हैं। आम्र-आखा से औचक ही अम्भा बन कर तू पड़ी वे आकाश-मुम्ही हैं। उस आकाशिनी माँ के उन्मुक्त अंचल पर हिरण्यों की होड़े लगा कर, हमने मातृधात और आत्मधात का अक्षम्य अपराध किया है। सर्व की माँ है अम्भा, इसी में तो वैशासी को आपस में कटन्मरने से बचाने के लिए, और वैशालकों के पशु को पाण्डव-पाण्ड से मुक्त करने लिए, उसने आने अस्तित्व तक की बनि चढ़ा दी है।

'... जीर्ण-जर्जर जगत के पुनरुत्थान के विधाता बन कर जो आये, वे सदा पालतृ वैधता की पुरातन मर्यादाओं को तोड़ते हुए ही जन्मे हैं। उनके अवतरण के साथ ही, मिथ्या हो गई मर्यादाएँ टूटी हैं, और नयी मर्यादाएँ स्वतः स्थापित हुई हैं। परापूर्वे काल में मत्स्य-गन्धा के अवैध गर्भ से जन्मे थे भगवान वैद व्यास। कुलाभिमान को तोड़कर अकुलजात ब्रह्म-मुम्ह का तेज पृथ्वी पर प्रकट करने को वे आये थे। शान्तनु के काम-प्रयत्न साम्राज्य का तेजोवध करके, इसी महाब्राह्मण ने आपने अजितवीर्य की यज्ञाहृति देकर, विहृत हो गये क्षात्रव को शृङ्खलने के लिए, अपने लिगातीत ब्रह्मचर्य को बसि चढ़ाना भी स्वीकार किया था। पर भारतों ने उस ब्रह्मतेज को भी व्यर्थ करके ही चैन लिया।'

'... इस तरह, द्वात्तहास के आरपार, चारों ओर स्वभाव का ग्लानि देख रहा है। स्वभावगत सोहंकार वैभाविक अहंकार हो गया है। उस विकृति में से लोभ का असुर जन्मा है। मैं और मेरा, तू और तेरा की अराजकता उससे

निपत्ती है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अपना स्वभावमत कर्म त्याग कर, पथ-ध्रष्टु हुए हैं। उसका परिणाम है आपाधारी का यह अन्तर्हीन द्रुष्टव्य। वस्तु अपने आप में शुद्ध और स्वाभाविक है, पर अपने अहं, लोभ और अधिकार-वासना से हमने उसे भी विकृत और अराजक बनाया है। सो सम्बाद और मित्रता का स्थान विसम्बाद और शशुता ने ले लिया है। हमारे अपने ही अहं के सिवाय, बाहर हमारा कोई वास्तु नहीं है। पथ-ध्रष्टु ब्राह्मणत्व को सत्तासीन और बलवान् क्षत्रिय ने पर दबोचा है। ब्राता सात्रत्व, बलात्कारी अपहर्ता हो गया है। कुलाभिमान से प्रमत्त होकर क्षत्रिय ब्राह्मणत्व को पैरों से रौद रहा है। हम मानो अपनी ही भुजाओं से अपने मरतक का भंजन कर रहे हैं। जीर्ण पर सदा वही होगा, जो ब्रह्म को जाने। जो स्वभाव से ही ब्राह्मण हो, और स्वधर्म में ही चर्या करे। ब्राह्मणत्व का यह भंजन मुझे असख्य है। ब्रह्मयोगी का आसन उच्छ्वेद करके लोक में धर्मराज्य का संतुलन कायम नहीं रह सकता। मैं पददलित ब्राह्मणत्व को फिर से लोक की मूर्धा पर स्थापित करूँगा। मुझे उस भद्राब्राह्मण की प्रतीक्षा है, जो ब्रह्मानी के उस आसन पर आसीन हो सके। धर्मराज्य योगी ही स्थापित कर सकता है, भोगी नहीं। वह, जिसका भोग भी योग हो जावे, और योग भी भोग हो जाये। वैशासी की मह भूमि ऐसे ही एक राजयोगीश्वर की लीला-भूमि रही है। जनक विदेह के बंशधर होने के कारण ही हम विदेह कहलाते हैं, और हमारी यह भूमि तक विदेह देश कही जाती है। एक बात मैं कहे देता हूँ। राजसत्ता के सिहासन पर एक दिन योगी को आना होगा। योगी को राजा होना पड़ेगा। उसके बिना पृथ्वी पर धर्मराज्य की स्थापना त्रिकाल सम्भव नहीं। . . .

'आसन की मूर्धा पर जब तक योगी न हो, तब तक तुम्हारे ये सारे राज्य, वाणिज्य, व्यवस्था, प्रतिष्ठान गैरकानूनी हैं, अवैध हैं। वैद्य और कानूनी केवल यही व्यवस्था हो सकती है, जो सना के स्वभाव पर आधारित हो। वर्तमान के सारे ही राज्य और वाणिज्य वस्तु-स्वभाव के व्यभिचार की डप्पज हैं। इसी में सब गैरकानूनी हैं। तुम्हारी यह 'प्रवेणी-मुस्तक', तुम्हारे ये सारे कानून, न्यायालय, सैन्य, कोटुपालिका, नगर-पालिका, सिवका, शांति, सन्धि-विभाग, सब अवैध और गैरकानूनी हैं। क्योंकि ये स्वधर्म पर नहीं, पारस्परिक स्वाधीनों को प्रतिस्पर्धाओं और समझौतों पर आधारित हैं। ये

सर्व राज्य-स्तीतार्, अधिकारी, संसद, लकड़ी-तारे, दर्दिं और गैर कानूनी हैं। क्योंकि ये अमल्य, अप्रभ्रं, हिसा और होड़ों पर टिकी हैं।

'बलशाली स्थापित' स्वार्थ में ही सिक्के का आविष्कार किया है। अपर्म का सुदृढ़ दुग्ध है, पह सिक्का। सिक्का है कि संचय, स्वार्थ-पोषण, शोषण, और स्वामित्व की सुविधा गम्भव और निवाचि हो गई है। स्वभावगत, सम्बादी, मुखी और शान्तिपूर्ण जीवन-जगत के अभ्युदय के लिए यह अनिवार्य है कि सिक्का और उस पर टिके राज्य और वाणिज्य समाप्त हो जायें। सिक्के ने जीवित मनुष्य और मनुष्य के बीच के, जीवित वस्तु और मनुष्य के बीच के, सम्बन्धों को जड़ीभूत कर दिया है। सिक्के ने सत्ता का स्वत्व छीन लिया है, सत्त्व छीन लिया है। जब तक सिक्का है, अकित और वस्तु की मूलगत स्वतंत्रता का धर्मराज्य स्थापित नहीं हो सकता। सिक्के ने मनुष्य और जगत की सारी मुन्द्रताओं और भावनाओं को अवसाय बना दिया है। सिक्के पर टिके वाणिज्य ने आत्मा की मती मुन्द्री को बेश्या बना कर छोड़ दिया है।

'यह सिक्के का ही प्रताप है कि वैशाली में अगवानी अम्रपाली को गणिका के कोठे पर बैठा दिया गया है। उसे प्राप्त करने का मूल्य हिरण्य है, प्यार नहीं, आत्माहुति नहीं। हमने माँ को यश की बेंदी पर से उतार कर, भोगदासी बना दिया है। भजेगण, सावधान, अम्रपाली वैशाली के भाग्य की निर्णायक है। जब तक वह माँ हमारी बासना की जंजीरों में बैंधी है, वैशाली का विनाश अनिवार्य है। केवल भगवती अम्रपाली में यह सामर्थ्य है कि वह वैशाली को सत्यानाश की लपटों से बचा सकती है। मैं पहर केवल माँ के उस धर्म-शासन का सन्देश सुनाने का उपनिषत हुआ है।'

'कामिनी और कांचन जब तक भोग की भूमि से उठ कर थोग की भूमि पर उत्तीर्ण नहीं हो जाने, तब तक आकामक श्रेणिक, अजातशत्रु और पार्श्व के शासानुशासों की पारम्परा का अन्त नहीं हो सकता। जब तक सर्व-स्वद्वारी श्रेष्ठ हैं, और उनके वाणिज्य का संकालक सिक्का है, तब तक श्रेणि-विघ्न और आकमणकारी श्रेणिक सुरक्षा की चोटी होने ही चले जायेंगे।

'इसी में मैं स्वार्थ-न्यस्त राज्य, वाणिज्य, सिक्का और उसके अवस्थाएँ तमाम कानूनों को लोडने आया हूँ। मैं इस चूटे कानून पर आधारित सारी सरहदों और मर्यादाओं का भंडन करने आया हूँ।'

'वैशाली' के शब्द मगध और विन्ध्यसार नहीं, महामात्य वर्षकार नहीं, वैशालिकों का अहंकार-ममकार है। हम धर्म से विच्छुत हो गये हैं, इसी से हमारे चारों ओर शत्रु हैं। इक्षवाकु लिङ्गविदों की यह मर्यादा सोक-विद्यात है कि वे काष्ठ के उपधान पर सर रख कर सोते हैं। उनके सिरहाने तलवार हैं, और वे सदा जागृत हैं। आज काष्ठ के उपधान की तो बात दूर, फूलों के तकियों पर और सुन्दरी की बाहु पर भी लिङ्गवि को चैन नहीं। उसकी वासना, लिप्सा और आरति का अन्त नहीं। सौंज होते न होते, वैशाली गण का खमस्त तारुण्य मदिरा की मूर्च्छा में हूँवा, आभ्रपाली के सप्तभूमि प्रासाद के आंगने में, उसके एक कटाक्ष का भिखारी होता है। क्या यही है वैशाली का स्वातंत्र्य-गौरव ? क्या इसी कापुरुषता की रक्षा के लिए आप चाहते हैं, कि बद्धमान तलवार उठाये, वह आपकी ढाल बने ?

'आपकी इस झूठी आत्मरक्षा के लिए नहीं, पर आपकी आत्मा की रक्षा के लिए, बैशक मैं स्वयं तलवार और ढाल बनूंगा। फैलाद की तलवार नहीं, चैतन्य का ख्ररधार खदग ले कर मैं स्वयं अपने और वैशाली के विरुद्ध उठूंगा। अपने ऊपर और वैशाली पर विजयिता बन बैठ दूँगा। मैं विविदार धेनिल की जड़ी रख कर, वैशाली का प्राचीन और जीण परकोट तोड़ूंगा। मैं सरे राह उसे ले जाकर देवी आभ्रपाली की गोद में डाल दूंगा, कि वे उसकी जन्म-जन्मों की प्यासी आत्मा को शरण दें। दमित वासना के जन्मान्तर व्यापी नागपाशों से उसे मुक्त करें। मागध अजातशत्रु के सैन्य-बल और वर्षकार के कौटिल्य को जीतने के लिए, मुझे शैलज और सैन्य की जरूरत नहीं। ये सारे विषयगामी और शत्रु, प्यार के प्यास हैं। और अकिञ्चनन बद्धमान के पास यदि कोई सत्ता है, तो केवल प्यार की। उसके प्यार में पराजय और जय वे एक साथ पायेंगे। और फिर भी यदि वे आक्रामक और यातक रह जायेंगे, तो केवल अपने : लब आत्मघात के सिवाय और कोई विकल्प उनके लिये नहीं रह जायेगा।'

'मैं वैशाली को उस अनिवार्य सत्यानाश और आत्मघात से बचाना चाहता हूँ। क्योंकि मैं उसे भर्वकालीन मानव-आत्मा, और सल्ला मात्र की स्वतंत्रता का प्रतीक मानता हूँ। मैं उसे पृथ्वी पर जिनेष्वरों के सर्वशरणदायी धर्म-साम्राज्य का गिरावट मानता हूँ।'

'... तो वर्तेगण सुनें, उसके लिए अनिवार्य है कि वैशाली के परकोट नि-सैन्य हो जायें, वैशाली के शूरमा निःशस्त्र हो जायें। वैशाली के घनकुबेरों के कोशागारों,

परम् भावात्मणों और किसी तोतों दो हस्ते इन्हें और ताले मदा को टूट जायें। माँ के सतीत्व को मृती मुरझा की जंजीरों पे मुक्त कर दिया जाये। उसके आचन के धन-शास्य, मुवर्ण-रत्न, तमाम जीवन साधन, परिषह, अधिकार और कानून के शिर्कर्जों से मुक्त हो कर, उसके दृध की तरह मुक्त उभड़ कर, जन-जन की मुलभ हो जायें। दुग्ध, कमटों, तलवारों, तालों, जंजीरों, सैन्यों और कानूनों से हम चिर बन्दनी सन्ना-माँ को मदा के लिए मुक्त कर दें। फिर आग देखेंगे कि वैशाली को जीत सके और उसे एह-दलित कर सके, ऐसी ताक़ान पृथ्वी पर पेशा नहीं हुई है।

'वैशाली के तमाम हमलावरों के विश्व में यही ग्रन्थात्र युद्ध-योजना है। आपको यदि यह स्वीकार्य हो, तो इसका मैत्रापतित्व जात्युत्र बद्धमान महाद्वीर को सहर्ष गिरीश्वार्य होगा।'

'आप मरने अभी शांति में मुझे मुना, मैं कृतज हूँ आपका। आपका कोई प्रति-प्रश्न हो, तो ममाधान को मैं प्रस्तुत हूँ।'

'और चुप होते ही, अपार्थिव निष्ठत्वता में मैंने अपने को एक जाज्वल्यमान शलाका की तरह निष्ठल खड़े देखा।'

महानायक सिंहभद्र ने गण-प्रमुख की ओर से घोषणा की :

'भन्तेगण मुनें, आपके गणपुत्र बद्धमान ने अपनी युद्ध-योजना आपके समक्ष प्रस्तुत की है। उसे स्वीकारने या नकारने को आप स्वतंत्र हैं। छन्द-शलाका में बद्धमान का विष्वास नहीं। वे किसी भी स्वतन्त्र आवाज का स्वागत करेंगे।'

सात हजार साल सौ सित्तहृसर गण-श्रोता कुछ इतने निःशब्द दीखे, कि प्रश्न उनके भीतर जैसे खोया, खामोश और पशुजित दीखा। तब हठात् जैरे सबकी उल्लङ्घन को व्यक्त करती एक बुन्देल आवाज दूर श्रोता-मण्डल में से सुनाई पढ़ी :

'आमुष्यमान बद्धमान, भुतें। आप हमें वह करने को कहते हैं, जो इतिहास में कभी हुआ नहीं, होगा नहीं। न भूती न भविष्यति।'

'वेशक, वही करने को कहता हूँ, मौम्य। मैं इतिहास को दोहराने नहीं आया, उसके चिरकानीन आत्मधाती दुश्चक्र को तोड़ कर, उसे मनुष्य और बन्तु मात्र के हित में उलट देने आया हूँ।'

'असम्भव को सम्भव बनाने की यह टेक जोशिम भरी है, आर्य बद्धमान! जो आज तक न हुआ, वह कभी हो नहीं सकता। उसका प्रयोग बैगानी पर करना, अपने ही हाथों अपने घर में आग लगा देना है।'

'यह सत्ता का स्वभाव नहीं कि जो अब तक न हुआ, वह आगे भी न होगा । ऐसा मानना सत्ता के सतत और अनन्तत्व से इनकार करना है । सत्ता के सत्य की यही स्थापित करने के लिए, यह जोखिम उठा लेनी होगी । अपने ही दर में आग लगा कर, उस आग के साथ अन्तिम रूप से ज़ूझ लेना चाहता हूँ । उसमें अपने और वैशाली के आत्मतेज को परखना चाहता हूँ । खरे हुम उतरेंगे, तो इतिहास में अपूर्व और अप्रतिम चित्रण का ब्रह्म करेंगे । उस आँच में तरे बिना, वैशाली अजेय नहीं हो सकती । उस अग्नि स्नान से अमर हो कर न निकल सकूँ, तो अपना और वैशाली का भग्न हो जाना ही श्रेयस्कर मानता है । नित्य के आत्मघात के बाय, एक बार सत्य के हुतात्मन की आहुति हो जाना ही पुल अपने और वैशाली के लिए अधिक योग्य लगता है ।'

‘‘और सहसा ही ज्वालामुखी के क्रिस्फोट-सी एक आवाज उठी :

‘‘भन्तेगण सावधान, गणनाथ मुने, मैं ज्ञातपुत्र वर्द्धमान को वैशाली के लिए ख़तरनाक मानता हूँ । वे यदि वैशाली में रहेंगे, तो वैशाली का सर्वनाश निश्चित है ।’’

‘‘भलेगण मुने, वर्द्धमान की आत्मा वैशाली की सीमाओं से कभी की निष्काल्प हो चुकी । आप निश्चिन्त रहें, अब देर नहीं, कि उसका शरीर भी वैशाली के सीमाओं से सदा को अभिनिष्करण कर जायेगा । पर सावधान भन्तेगण, एक बात कहे जाता हूँ, कि वैशाली से निर्वासित हो कर, उसका यह गणपुत्र और राजपुत्र उसके लिए और भी अधिक ख़तरनाक हो सकता है । ॥ पर आप जाहे भी, तो अब उसे अपनी सीमाओं में बांध कर नहीं रख सकते । जानें, कि इस क्षण के बाद वर्द्धमान किसी का नहीं, अपना तक नहीं ! वह अपने ही से निष्काल्प है । ॥ ॥

‘‘और भन्तेगण मुने, जाने से पहले मैं वैशाली की राज-लक्ष्मी को त्रैलोक्ये-क्षवर जिनेन्द्र के चरणों में अपित किये जा रहा हूँ । उन परम सत्ताधीश के हाथों में वैशाली का भाग्य सौंपे जा रहा हूँ । उनकी इच्छा होगी तो एक दिन वैशाली का यह गणपुत्र ऐसे धर्म-साम्राज्य की नींव डालेगा, जो आज तक इतिहास में न भूतो न भविष्यति रहा है । मौं वैशाली अनन्तों में जग्वन्त हो ॥ ॥ ॥

और मेरे अनुसरण में सहस्रों कणों से गृजा :

‘‘मौं वैशाली अनन्तों में जयकन्त हो, लिच्छवि-कुलसूर्य महावीर अनन्तों में जयकन्त हो ॥ ॥ ॥

‘‘और मैंने पीछे लौट कर भगवान वृषभनाथ के चरणों में साष्टांग प्रणिपात किया । अपने भुकुट, कुण्डल, केमूर, रसहार जतार कर, त्रैलोक्ये-क्षवर प्रभु

के बरणों में अपित कर दिये। और चहुँ और घूम कर जनगण को हाथ जोड़, सर नवाँ कर बास्तवार प्रणाम किया। ॥ और तत्काल रोहिणी माथी के कन्धे पर हाथ रख कर, मैं मंथानार के अंगैल मिहमद नामीं और दुर्लभ के पाव करता चला गया। ॥

संधागार से बाहर आ वर उसके मर्दोपरि सोगान पर छड़े होकर जो जनगण का प्रेम-पासवार उमड़ता देखा, जो जयकारों का हिलोलम सुना, उसमें डूब जाने के सिवाय और कुछ शब्द ही नहीं था। ॥ हमारा रथ कब और कैसे उस महाप्रवाह में तैरता हुआ, महानायक मिहमद के महालय पर पहुँच सका, नो पता ही न चल सका।



जीवन-रथ की बलगा

‘‘गई रात सोना नहीं हो सका है। ऐसा जागा है, कि सोना इस जीवन में अब शायद ही सम्भव हो।

परिषद् से लौट कर कल पूर्वाह्न में रोहिणी मामी ने सूचना दी थी कि महाराज सिद्धार्थ चेटकराज के महालय में छहरे हैं। सिह भाषा भी सीधे उधर ही चले गये थे और अब तक नहीं लौटे हैं। पता चला है कि गण-शासन-समिति की बैठकें कल सारा दिन और अबेर रात तक चलती रही हैं। बैशाली में भूकम्प आया है, और संथागार की बुनियादें डौल रही हैं।

परिषद् के उपरान्त शब्द मुझ में शेष नहीं रहा था। मामी ने मुझे समझा और वे चुपचाप मुझे निहारती मेरी परिचर्या करती रही। पूर्वाह्न भोजन पर विविध व्यंजनों का जो विशाल याल सामने आया, उसे देख कर ही एक अनोखी तुप्ति का अनुभव हुआ। कपिशा के कुछ द्राक्ष और एक कटोरी क्षीरांश का प्राशन कर मैंने हाथ खींच लिया। मामी अचरज और अनुरोध से कातर हो आई। उनके ताङ-गौर चेहरे पर एक जलिमा-सी छा गई। पर मेरी सुसिंहत अँखों को देख, उनका बौल न खुल पाया। कण्ठावरुद्ध और प्रसनायित वे मुझे मृत्युत् ताकती रह गईं।

‘‘विश्राम के समय वे मेरे शयनागार में पीछे-पीछे चली आईं। मेरे शीया में लेटने पर, समीप ही बैठ गईं। मेरी आँखें सहज ही मुँद गईं। प्रत्यंचा के कषाधात से सुकृति हो आई एक कोमल हयेली मेरे ललाट पर क्षणिक टिकी रही, और जानेकर मेरी तहों में लीन हो गयी। जैसे बाहर कोई हयेली अब भोप नहीं रही थी।’‘

अब सबेरे तैयार हो कर बाहर आया हूँ सो तन पूल-सा हलका है, और मन बारद के इस निरधार आकाश की तरह ही निर्मल है। सारा अन्तर-बाह्य मानो एक गहन नीलिमा में तैर रहा है।

रोहिणी मामी मुस्कुराते मुकुल-सी आईं, और मुझे अगमे कक्ष में लिवा ले गई :

'मान, बहुत कुछ सुना था तुम्हारे विषय में। पर जो देखा, तो मेरी सारी कल्पनाएँ छोटी पड़ गईं। लगा कि तुम्हीं को तो जाने कब से चौज रही थी। . . . मेरी सारी श्रनुकिंचा को तुमने व्यर्थ कर दिया। . . . जी चाहता हूँ, तुम से हारती ही चली जाऊँ।'

'तो अन्तिम जीत तुम्हारी रहो, मामी। अन्तिम हार का सुख नहीं दोगी मुझे? . . .'

मामी की आँखें झँक गईं। वे लूपचाप मेरे बहुत पास आ कर बैठ गईं, और मेरे बालों के छन्नों को उँगलियों में दुलगाती रहीं। और अधिक बोल उन्हें नहीं भाया।

सहमा ही मामा सिहमद आये। मैंने उठ कर विनय किया; वे मुझे भुजाओं में भर मेरी फीढ़ सहाते रहे। किर बैठते हुए बोले:

'आयुष्यमान, तुमने चमस्त जम्बू दीप को ज्वालामूखी पर खड़ा कर दिया है।'

'ज्वालामूखी पर तो हम सब बैठ ही हैं, मामा। मैंने केवल उस नम्न कर दिया है। ताकि हमें अपनी असनी स्थिति का भान हो जाये।'

'वर्द्धन्, गण-राजन्यों की भृकुटियाँ गन गई हैं, वे आप में नहीं हैं। पर वैशाली का जनगण तो पागल होकर जैसे विजयोभ्याद में झूम रहा है। युद्ध और संकट का मानो उसे भान ही नहीं रह गया है।'

'तो वैशाली में मेरा जन्म लेना मार्यक हुआ। यदि भीतर का बैरी विसर जाये, तो बाहर तो हर कदम पर जीत जयमाला लिये रखड़ी है। प्रसन्न हूँ कि मेरे कल्पना-राज्य की नीच लोक-हृदय में पड़ गई।'

'लेकिन आयुष्यमान . . .'

'लेकिन का तो अन्त नहीं, महानायक! वह सुन कर क्या कहेंगा। विकल्प नहीं, विस्मरण चाहिये। भीतर का स्वधर्म सीधा कर्म ही कर सामने आये। धर्म और कर्म के बीच विकल्प की खुन्दकें तो अनदिकान से पड़ी हैं, और उनमें हतिहास उलझता चला गया है। शुद्ध और लिङ्किलप चेतना, जो सहज ही किया होती चली जाये, वस केवल वह चाहिये।'

'पर तुम्हारे इस निमूढ़ अध्यात्म को वितने लोग समझेंगे, वर्द्धमान?'

'वैशाली के सारे जनगण ने वित समझे ही तो बूझ सी मेरी बात। तुम्हीं ने तो अभी सारी दी है, मामा। विकल्प उनके मन में है, जो आमन की भूर्धा पर हैं।'

वयोंकि उन्हें अपने अहं में पुढ़ी नहीं है। और मैं कोई निशुल्क अध्यात्म नहीं बोलता, निज़ा हृदय बोलता हूँ। शुद्ध जीवन बोलता हूँ। प्यार को परिभ्रष्टाएँ देकर हम उसे जटिल और कुछ छिप करने हैं। अध्यात्म के प्रबन्धन कर, हम आनंद को उसके बहने प्यार में वंचित कर देने हैं।

'तुम कुछ दिन यहाँ रहो बर्दून्, हमें तुम्हारी ज़रूरत है।'

'वह ज़रूरत, मामा, मेरे दूर चले जाने से ही अचूक पूरी होगी। यहाँ रहेंगा तो तुम्हारे नां पां तिन्यानवे गण-गजा गदा मेरे और जनगण के बीच दीवार बन कर खड़े रहेंगे।'

'तो बिस्फोट होंगा, मान, और युद्ध टल नहीं सकेगा।'

'बिस्फोट अनिवार्य है, मामा, ताकि नया विधान नियिकल आ सके। और कहा न मैंने, कि मैं युद्ध को टालने नहीं आया, उस अल्प तक लड़ कर समाप्त कर देने आया हूँ।'

'तो गंगा-शोण के सीमान्त को सम्हाल कर, हमें निश्चिन्त करो, आयुष्मान्।'

'मग्न सीमान्त मेरे भीतर है, महासेनापति। तुम्हारे सैन्य-शिविर में भीचारे नहीं हो सकते। और मैं बचाव की लड़ाई नहीं लड़ता। मैं आशामक का हन्सजार नहीं करूँगा। मैं स्वयं सीधे मगधेष्वर विविधार पर आक्रमण कर दूँगा। कहेंगा कि मग्नाइ, हमारे बीच सेनाएँ नहीं हो गए हैं। शूरमा सीधे लड़ कर, स्वयं ही निपटाया कर लें। घास्त्र तक क्यों हो हमारे बीच में, केवल जगान का सूर्य लड़े। और जानता हूँ, मारध मेरी चुनौती वा मुकर नहीं सकेगा।'

उम्मास में झूम कर बीच ही में बोल पड़ी रोहिणी मामी :

'मेरे दोहितालाल, तुम्हारे उस सूरज-युद्ध की साक्षी होना चाहती है, तुम्हारी रोहिणी मामी। क्या उसे माथ ले चल सकोगे ?'

'अपने धनुष-बाण ले कर चलोगी, मामी ?'

'वह तो तुमने छीन लिये, देवता। केवल औचल ही नो अब बचा है मेरे पास। मेरे इस अन्तिम अस्त्र से मुझे वंचित न करना और ही सके तो मझे साथ रखना !'

'आर्यविं की रणचण्डी रोहिणी का ठीक समय पर आवाहन करूँगा !'

... कि तभी चेटकराज का सन्देशा लेकर एक चर आया। सान्ध्य-भोजन पर उनके महालय में आमंत्रित हूँ। स्वजन-परिवार मुझ से भिन्ने को उत्सुक हैं। मैंने अनुचर से पूछा :

'देवी अन्दनबाना क्या यहीं पर है ?'

'वे कब कहीं होती हैं, प्रभु, कौन जाने। वह राजमाता और महाराज तक को पता नहीं रहता।'

'अच्छा भन्ते प्रतिहारी, ठीक समय पर पहुँचूंगा। महाराज से कह देना।'

प्रणाम निवेदन करके प्रतिहारी चला गया। भौचक्की-सी देखती रोहिणी थोली :

'... भन्ते प्रतिहारी ! ... तुम्हारे लिए तो, लगता है, सभी भन्ते हो गये हैं, बद्धमान् !'

'अभन्ते कहीं कोई दीखता ही नहीं, क्या करूँ !'

'दास-दासी तो गान्धार में, हमने भी मनुष्य की सल्लानों को नहीं रहने दिया है। पर जन-जन और कण-कण में तुम्हारा देव बसा है, यह नया देखा और सीधा, आयुष्यमान् !'

'परस्पर एक-दूसरे को हम देव हो जायें, तो सोचो मामा, मारो समस्थाओं का समाधान आपो-आप हो जायेः ... !'

'तुम्हें पा कर दें बापापिता युई, दें ऐसी बहुमत् !'

'... और सहसा ही मैं उठ खड़ा हुआ। मिह मामा थोले :

'वैशाली के राजमार्गों पर निकल सकोगे, आयुष्यमान् ? दर्शनाकुल जनगण के उल्लास का ऊवार उभद्वव तक खड़ा कर सकता है।'

'मुकुड़-कुँडल तो मैं समर्पित कर आया, मामा। विषुरे बालों, और उड़ते उलरीय से स्वयं अपना रथ हीकते, मुझ अकिञ्चन को वैशव-नगरी वैशाली में कौन पहचानेगा ? और फिर प्रवाहों पर छलांग मार कर, गायब हो जाना मुझे आता है, मामा !'

'... कक्ष-देहरी पर छढ़ी रोहिणी देखती रह गई। छूटे हुए, तीर की पकड़ कर नहीं लौटाया जा सकता, यह दीरांगना रोहिणी से अधिक कौन जान सकता है। पार्श्व के शूरसाओं को अपने तीरों पर तौलने वाली यह लड़की भीतर इतनी तरल भी हो सकती है, कल्पना में नहीं आ सकता था।

* * *

'... रत्नर्भी वगुन्धरा का हर सम्भव वैभव चेटकराज के महालय में देखा। पर उस सब के बीच आकाश की तरह सहज व्याप्ति, फिर भी निलिप्त उस राजपुरुष को देख मेरी आँखें अद्वा से भीनी हो आईं। मातामही सुभद्रा उनकी यथार्थ अद्वीगिनी दीदीं। मुझे सामने पा कर गोदी में भरने तक को वे लजक आईं : "जुग-जुग जियो मेरे लाल, जिरकाल यह धरती तुम्हारा यशोगान करे !" कहती-

कहती थे रो आई। उनकी गोद में क्षणिक रवतमोह की अगाधता का तीव्र अनुभव पाया। . . . फिर धन, दत्तभद्र, उपेन्द्र, मुदत्त, सुकुमोज, अकंपन, मुपतंग, प्रभंजन और प्रभास मामाओं ने मुझे बैरकर जाने वित्तना प्रसन्न-कौतृहल किया। पकड़ कर बैठ गये मुझे, कि नहीं, अब कहीं नहीं जाने देंगे मुझे। पार की बादाम-गिरियाँ ले कर, मोह के छिलके उत्तार फैकने की कला अवगत हो गई है, इसी से रम कर भी चाहे जब विरम जाना मेरे लिए सहज हो गया है। एक शून्य है भीतर, जिस में सबको अवकाश है, तो स्वाजनों की भी है ही। सो निर्बाधि हन सब में खेला, और निकलता चला गया।

पिता एक ऐसी आनन्द-देवना में खोये और स्तम्भ थे, कि बस मेरा मुह जोहते रहे : बोले कुछ नहीं। चेटकराज ने इतना ही कहा : 'तुमने तो हम सब की निर्बासन और निःशस्त्र कर दिया है, बेटा। प्रश्न निःशेष हो गया है : हम निरुत्तर हैं। पर तुम तो क्षितिज से बोल रहे हो; आकाश हो कि धरती ही, समझ में नहीं आता। हमारी बुनियादें पूर-चूर हो गई हैं। और तुम हो कि कहीं से पकड़ाई में नहीं आते। जनगण तो वस्तु दिविंग भूल कर दुम्हारी मोहिनी से पापल हो गया है। पर दायित्व जिनके कन्धों पर है, वे तुम्हारे ध्रुव से टकरा कर बेधरती हो गये हैं। क्या करना होगा, समझ में नहीं आता। मेरी तो बुद्धि गुम हो गई है।'

'करना कुछ नहीं होगा, तात, अब आपको सिर्फ़ देखते रहना है। तब जो करने को है, वह मुझ से आपो आप होगा ही। चीजों को अपने पर ही छोड़ दीजिये, और उन्हें होने दीजिये। क्या आप सबके किये अब तक कुछ हुआ है, आपका मनचाहा? . . . फिर चिन्ता किस बात की? मुझ पर आपको शक्ता हो, तो देखते रहिये यह खेल। मैं तो बुनियादों में खेलता हूँ, मैथानों में नहीं। जीर्ण बुनियादें यदि टूट गई हैं, तो जानिये कि मेरा फहला मोर्चा सफल हुआ; आगे के खेल में मैं न भी दीखूँ, तो नदी बुनियादें पहते और भवन उठते तो आप देख ही लेंगे। और श्रितिज यदि हैं आपकी निगाह में, तो ओरल नहीं हो सकता। कभी उस पर सूर्योदय हो ही सकता है। इतना ही जानें, कि क्षितिज को पकड़ और बांध कर नहीं रखा जा सकता। क्योंकि वह अनन्त है। . . .'

. . . चलते हुए बापू ने बताया कि यहीं कुछ परियदों के लिए बे ठहरेंगे, मैं चाहूँ तो जा सकता हूँ। फिर आ कर मातामही के चरण छुए और बिदा चाही : कि आज ही रात के शेष प्रह्लर में प्रस्थान कर जाऊँगा। उनके आसू अविराम वह रहे थे, और वे मुझ में विराम छोजती-सी कोली :

' . . . कितना समझाया, पर चंदन नहीं रुकी, बेटा! जाने कहाँ चली गई। कल से लड़ी दैठी है, बोली कि : 'नहीं, मुझे किसी से नहीं मिलना है!' मंथागार

से लौट कर भरी आई थी, मेरी गोद में फूट पड़ी । बोली—‘अपना राज रक्खो तुम सब, बद्धमान तो चला ही जायेगा । तुम्हारी राह का फलदा कट गया, अब खुणियाँ मनाओ तुम सब ।’ ‘और तुम्हारे इस राज में तब मेरे निए भी छौर नहीं !’ ‘ठीक है, अपनी राह में भी चली ही जाऊँगी !’ —मैंने बहुत समझाया उसे, तुझ से मिल कर बाल करे, और समाधान पाये । ऊँ हूँ—एक नहीं मानी उसने । ‘नहीं, मुझे नहीं मिलता है किसी से । बद्धमान की मेरी नहीं पड़ी, तो मुझे भी उसकी पड़ी नहीं है ।’ तू आया, तो महल-उद्यान सारे में खोज आई, जान कहा खो गई है चबूत्र ।

‘इस न ढेढ़ो नानी-माँ । वह ठीक अपनी जगह पर चौकस है । और मुझ से नागङ्क होने का हक उसका पूरा है । उससे अधिक शायद किसी का नहीं !’

मेरे माथे को नानी-माँ ने छाती से चौथ-चांप लिया : और मेरे बालों को एक गहरी उसीम के साथ बै सूधती बलों गई । वहाँ से मुकित आसान न थी । — पर मैं अगले ही क्षण बैशाली की सीमान्तक राहों पर अपना रथ केक रहा था ।

* * *

सांझ बैला में जब देवी रोहिणी के आवास-बबन पहुँचा, तो साथ महालय-आपर में नीचे तक सहस्रों दीपों से जगमगा रहा था, और पौर के मामने के मार्ग पर बैशालीकों का उत्पन्न-उत्साह बेकार्य था । मैंने चूपचाह रथ पीछे उद्यान को राह भीतर ले लिया । शयनागार में रोहिणी मासी मेरी प्रतीक्षा में थीं ।

‘मान, देवी आश्रयाली का निर्जी अनुचर मणिमद्र, बाहर तुम्हारी प्रतीक्षा में है ।’

‘स्वागत है उनका, मामी !’

शोषी ही देर में एक विजान काय दात्पत्य-मूर्ति बुद्ध पुरुष ने आ कर भूमियात् दण्डवत् लिया और कहा

‘देवी का एक निर्जी पत्र ने काश सेवा में प्रस्तुत हूँ, स्वार्पन् !’

‘देवी आश्रयाली प्रसन्न हों । मैं देवी का क्या प्रिय कर सकता हूँ, भन्ते ।’

‘घन्य भाग प्रभु, आपके दर्शन पा सका ।’

रुह कर एक छोटी-सी रुन-जटिल मंजूषा उसने मेरे हाथ में भसा दी । उसे छोलते ही जान कौसी पर पार की-सी दिव्य गन्ध कक्ष में व्याप गयी । पट्ट छोल कर पहाँ :

‘‘तुम्हें एक बार नथन भर देखने की माध्य, चिर दिन से मन में मैं जोये थी। पश्चिम में और कुछ देखने की चाह अब नहीं रह गई है। जब सुना कि तुम वैशाली के संथागार में आ रहे हो, तो अब तक जो तुम्हें जाना और माना था, वह एक विजली ने जैसे कौध कर भूल दिया। अभिमान हो आया, नहीं ॥ नहीं आज़ैगी तुम्हारे सामने। मेरी क्या हस्ती ! तुम वैशाली के देवाशी राजपुत्र ! और मैं तुम्हारे मण की एक तुच्छ गणिका ! और कोई मुझे कुछ समझे, तुम्हारे सामने हल्की नहीं पढ़ूँगी, और अपनी गर्हित काया को सामने रख कर, तुम्हें अपमानित होये नहीं देख सकूँगी ।

‘‘किन्तु जाने क्या भीतर धक्का दे रहा था । मैं अवश्य ही गई, तैयार तक हो गई ; छार पर रथ प्रस्तुत करने का आदेश भी दे दिया । आईने के सामने हो कर एक बार अपने को देखा । चूर-चूर ही गई । अपने रूप की विजली में जलकर, जड़जा और अनुताप से अस्म की होरी हो रही । असह्य लगा, अपना यह किलोंक-मोहन गौन्दरे ; नहीं, भी यह पर जने हृषि वर्षाक है, हेनाना ही यूला नहीं हो सकती । जाउँगी संथागार में, तो तुम्हारे गणपुत्र मेरे रूप की धूल उड़ायेंगे । लुफान के बबंडर उठेंगे । वैशाली का सूरज उगसे ढूँक आयेगा । नहीं, यह नहीं होने दूँगी ; वैशाली की बेटी है, और चाहूँगी कि उसके सूरज का आवरण न बनूँ । उसकी प्रभा को अपने रूप की रज से मतिजन न होने दूँ । वैशाली का जनगण खुली और्ध्वों अपने इसे गूर्यपुत्र का दर्शन करे ।

‘‘मौं अपनी इस निर्मल्य माटी को अपने श्री में संमेट कर, शंखा में और्ध्वों पड़ रहो ॥ ॥

‘‘संथागार से लीट कर मेरी अभिज्ञ महचरी बासवी ने वह सब बताया, जो वहीं उसने देखा और मुना था । ॥ मैंने उसे जाने को कह दिया, और मेरी छाती में जन्मान्तरों के दबे रुदन और विलोह घुमड़ने लगे । ॥ उस अभागी छाती को अब किसकी प्रतीक्षा है, जो फट न गई । ॥ ॥

‘‘तुमने वैशाली और आश्रपाली को एक कर दिया । तुमने एक गणिका को शणदेवी के आशन पर बैठा दिया । अनथं किया तुमने, बहुमान ! मुझ अभागिनी की मणान की लग्ज अपने दोनों हाथों में उड़ाकर तुमने मारे जम्बूदीप में आग लगा दी । भैंदियों के बीच तुमने मुझे सिंह पर आसीन कर दिया । इस सारे जंगल का पशुत्व अब बलवा कर उठेगा । यों ही मैं कम हल्कारी नहीं थी । अब तुम चाहते हो, कि मैं रक्त की नदियों पर चलूँ ? कैसा खतरनाक खेल तुम खेल गये, महावीर ! तुमने मुझे मौत के बीच अरक्षित खड़ी कर दिया है । ॥ ॥

..... और अब तुम कहोँ दो कि तुम वैशाली में नहीं रहोगे; तो होलो-
मुझे अब यहाँ किसके भरोंभ छोड़े जा रहे हो ! नहीं । नहीं चाहिये मुझे तुम्हारे
ये पूजा के फूल ! प्यार नहीं कर सकते मुझे, तो किस अधिकार से मुझे यो मार
कर, अपनी राह अकेले जले जाना चाहते हो ? । । मेरा कहीं कोई नहीं । ।
आकाश की जायी मैं चिर अनाधिनी, किसी तरह अपने रूप की माया में अपने को
भुलाये थी । तुमने उम्म माया के पाण की भी छिप बरके, निरी नगन मुझे अपने
आपने-मामने कर दिया है । । । मैं तो अकेली ही था जनम की । तुमने मुझे
अन्तिम रूप से अकेली कर दिया ! मेरा मरना और जीना दोनों ही तुमने मेरे हाथ
नहीं रखा । कौन हो तुम भरे, ओ बलात्कारी, जो मेरी सत्ता के यो बरबस ही स्वामी
हो बैठे हो ? आधार नहीं दे सकते, तो अन्तिम रूप से निराधार क्यों कर दिया
इम दुःखिनी बो । और अब कहत हो, छोड़ कर जले जाऊंगे, इस वैशाली को,
जिसे तुम आश्रपाली कहते हो । इतने निर्भम तुम हो सकते हो यह तो कभी नहीं
सोचा था ।

‘‘...जानती हूँ, मेरे हार पर तुम कभी नहीं आओगे। तुम्हारे चरणों की धून बने कर इस स्वप्न को सार्थक कर सक्ते, ऐसी स्पर्धा एक गणिका के से कर सकती है! हाय, मरण के इस महाशूल्य में किसे पुकारें? कहाँ है मेरा परिवारा? दिशाएँ निमत्तर हैं...! तुम्हारों देख रही हूँ, केवल पीठ फेर कर जाते हुए।... बोलोगे नहीं?...’’

अमृता

जो किसी की नहीं

अगले मूलाधार में घुमड़ आये प्रनय को, अपने औंगुठे तले कलम से दाव कर भीते लिखा :

... किसी की तुम्हें इसलिए नहीं होने दिया गया, क्योंकि तुम्हें सब की होना था। काषणियों और सुवर्णों की श्रीत दासी नहीं, सर्व की आत्म-बल्लभा मर्ही!

‘... नहीं, तुम कभी कहीं अकेली नहीं हो, अम्बा ! ... अकेली जब तक प्राद थीं भी, तो आज निष्पत्ति ही कह नहीं हो तुम ! ... मैं कहीं जाऊँ, कहीं रहौं, दूर दिशा आस्तपाली हो, रहेगी। वहीं मेरे स्वागत में खड़ी नहीं भिसोगी क्या दूसं ?

‘...परिवाता तुम्हारा अहनिष्ठ तुम्हारे साथ खड़ा है। वह अन्यथा कहीं नहीं है। महाराज यदि कोई अन्य और अन्यथा है, तो वह भी नहीं। उस अपर और एकमेव अपने को पहचानो !

‘...एक दिन आऊंगा तुम्हारे पास । अपने में निःलालत अपनी ही कर रहना । वही महानीर है ! ...’

अनन्य
बद्धमान

‘...पश्चोत्तर की रस्त-भंजूशा दोनों हाथों में झेल कर, मणिसद्ग ने बार-बार उसे सर-आँखों में लगाया । उसकी आँखें छलछला रही हैं । भूमिष्ठ प्रणिपात कर, बिना मूँझे पीड़ दिये, पीछे पर चलता हुआ, वह द्वार पार कर ओपल हो गया ।

* * *

रात के तीसरे पहर, भवन के शिहरीपर पर रथ लगा । महानायिक सिहर्मद्र मंगा-शीण के स्कल्पावार पर गये रुए हैं । मामी अकेली मुझे पहुँचाने द्वार पर आयीं । पाँखों को बार-बार अकेले हाथों पक्काढ़ने वाली, हिल्कुश के दर्द की वह सिहनी, ऐसे री पड़ेगी, ऐसा तो कभी सोचा नहीं था । अपनी बाहुओं की पत्त्यंचाबों में मुझे बांध कर, मेरी छाती पर वह फूट पड़ी ।

‘मुझे समूची निःशस्त्र और मर्वहारा कर दिया तुमने, नहावा ! क्या मैं पीट केर जाने के लिए ... ?’

‘भूल गई थादा, यान्धारी ? मेरे सूरज-युद्ध की एकमात्र साक्षी होने वाली हो कि नहीं तुम ? सिहनी मौ यदि दूध नहीं पिनायेगी, तो विस बल पर एकाकी यह विश्व युद्ध नहूँगा, मामी !’

उन्होंने मेरे सारे जेहुरे को अपनी छाती में प्रगाढ़ता से समा लिया । ‘... छूट कर मैंने उनकी चरण-धूलि माथे पर छड़ा नी ।

‘बाह्य मुहर्त में जब उल्ल-कुण्डपुर के भाग पर अपने रथ की रस को कम-कम कर खींच रहा था, तो नगा कि मेरे पीछे जाने कोन एक निःसीम अंचिल बल्ला बन कर मेरे जीवन-रथ का मारूथ कर रहा है ।

परिक्षाता का पाणिग्रहण

मुझे तो कहीं कोई दुख नहीं, काष्ट नहीं। कोई अभाव, कोई आरति में नहीं जानता। बाहर राजमहल का चिपुल देखत है, भोग-सामग्री है, भीतर सहज भृक्ति की तुर्गित सदा अनुभव करता रहता है। जगत के सारे सम्भव सुख-भोग, सम्मुख समर्पित खड़े मेरा ऐसे ताकते रहते हैं। पर भीतर कोई अभाव अनुभव नहीं होता, तो क्या कर्ण! क्यों भोग, क्या भोग, कौन भोग? नगला है, मेरे ही भीतर से ये भोग, नाना रूप धारण कर धारूर धार्वाहित हीले रहते हैं। दोषों नीं ही, भोग भी मैं ही। फिर भोगने और न भोगने का प्रश्न ही कही उठता है।

‘फिर भी आज तीन दिन हो गये, जाने कैसी यह एक वेदना मेरे तन के अण-अण में व्यापती चली आ रही है। हवा और पानी की पर्ती से भी भीतर जाने कितने सूक्ष्म कल निरन्तर मेरे प्राणों को बीधते चले जा रहे हैं। मेरी अचान्य और अभेद्य अस्थियों में यह कैसा उत्तमता जाना और लोहा-मा विदता चला आ रहा है। तीन रात, तीन दिन हो गये, ठहराव अक्षय नहीं रहा। लेटना-वैठना तो दूर, खड़े तक नहीं रहा जाता। उद्ध्रुत और वैचैन इस महल के सारे खण्डों में चक्कर काट रहा है। चल रहा है, चल रहा है, अविराम चल रहा है। चलते ही जल जाना है। चल जाना है, जाने कहीं जल जाना है। कहीं जाना होगा, पता नहीं। पर आकाश और धरती के दीव अब कोई मुक्काम सम्भव नहीं है।’

आज मध्य गांव के इस स्तरधर अन्धकार में यह कौन चोख उठा है! यात्रा राजमहल डॉल उठा है; धरती और आकाश विशीर्ण हो गये हैं।

‘गम्, काम्बाजी अब ग्रियकर शानदार पर आ उड़ा दूआ है। कह चाहीमीं को पुकार रहा है।’

‘गारुड, वया चाहता है वह?’

‘तीन दिन-शत हो गये, वह सूटपटाता हुआ घुड़माल में केरी देता रहा है। उसकी तिचमिलाहट और हिनहिनाहट सही नहीं जाती। जान नहता है यात-

दिन ऋत्तन कर रहा है : शाश्वत-मुहूर्त में अचानक मेरी पलकों पर बृंदें-सी टपकी । हड्डबढ़ा कर जागा, तो देखा आपका साड़िला प्रियंकर मेरे चहरे पर भर्दन भुकाये चुपचाप खड़ा है । उसकी आँखों में आँखू टपक रहे हैं । ॥१॥ सकेत पाकर मैं सफल गया । मैंने उसे लैधार कर दिया । वह राजद्वार पर स्वामी की प्रतीक्षा में आ खड़ा हुआ है ।

॥२॥ ठीक है : मुझे नहीं, प्रियंकर को ठीक पता है, मुझे कहाँ जाना है । ॥२॥ और आने कब शेष रात्रि के जामली अंधेरे में गाया, कि प्रियंकर का आगोही, एक असूज समसारण्य को विजली के तीर की तरह भेदता जाना जा रहा है । अविराम और अविधानत दीड़ते घोड़े की गति के भिवाय और चुछ भी मेहे लिए दृश्य नहीं रह गया है । देख और बाल में परे, एक दुर्लत गतिमत्ता के भीतर, अपने को एक आम्याचक की तरह जैसे अह्माङ्क की परिक्रमा करते देखा ।

॥३॥ बड़ते हुए अपराह्न की मन्द पड़ती धूप में भूगोल का भान हुआ । देखा कि मगध की भूमि पर धारमान हूँ । ॥३॥ उद्धपुर गूजरा; नालक फ्राम से सरे आजार दीड़ता घोड़ा निकल गया । बहुचेतक के सीमा-प्रदेश में गहुंबत साज नम आई । ॥४॥ अस्तंगत सूर्य की किरणों में बहुत दूर राजगृही के पंच झंगों के विच कूट सहसा ही जैसे रक्त से अभिप्तित दिखाई पड़े ।

॥५॥ और क्या देखता हूँ कि गृद्धकृट की उात्यका में लपलपाती अग्नि-जिह्वाओं कई ज्वानाएँ अड़क-भड़क कर आकाश चूम रही हैं । गत-शत कण्ठों की हवन-मत्र ध्वनियों के अविराम धोप, प्रचण्ठ में प्रचण्ठितर होते जा रहे हैं । धूत, पुरोडाश, मौद्रिक और नाना हृष्य धूपों तथा सामनियों का गम्ब से बालावरण व्याकुल है । रक्त-मास, स्वचा, चत्रियों, अंतिहियों, हड्डियों के जलने का तीव्र श्वास-रोधक दुर्गम्भि से आकाश, हवा, जन, बनस्तीति, धरसी के प्राण पुट रहे हैं । पंच तत्त्व जैसे पीड़ित ही कर, स्वयं ही अपनी हृत्या कर थेन को चिरग ही थे ॥५॥

और बहुचेतक के प्रान्त में आ कर, अचानक ही घोड़ा पत्थर की तरह स्तम्भित, अचल खड़ा रहा गया ॥६॥

मामने दिखाई पड़ा : गृद्धकृट और किनुवालय के हालों पर जैसे ज्वानाएँ फैलती चली जा रही हैं । वे सदा के नुगम्य धर्वेत नहीं रह गये हैं : मार्गी पृथ्यी उत्तमें सिमट कर मरनी दुर्दलि ज्वालामूँडों ही उठी हैं । और उगमें मंत्र-गहेष धनस्त्र, जलधर, नमधर प्राणियों का एक अनहीन और ममवेत आर्णवाद्व इठ रहा है । अन्तरिक्ष के मारे पटलों को भेद कर, जैसे लोक की त्रस-ताड़ी मरवाम से कटी जा रही है ।

‘‘एक हिलोलन्सा उठा भीतर : कि एक छलांग में उस दुर्दायि ज्वासामृष्टी में कूद पड़े । बल्या की तरह अपनी मृदुयों में उन अग्नि-शिखाओं को एकड़ कर, उस प्रलय को बाँध लूँ और उस पर सवार हो जाऊँ । अपनी उन छाती में उसे प्रोष्ठ कर, शान्त कर दे । ‘‘मैंने घोड़े की छह दी । वह टस से मम न हुआ । मैं उन्मत्त हो कर उसे एड़ पर एड़ देता चला गया । पर घोड़ा नहीं, चट्टान है, अटल और अनम्य । ‘‘मैंने उग पर मेरे कूद कर, इन्हें के कब्जा की तरह उस सत्यानाश पर दूट पड़ना चाहा । ‘‘पर नहीं : उस चट्टान में मैं अभिष्ठ भाव से प्रसरणीभूत हूँ, जड़ीभूत हूँ । ‘‘घोड़े के उम स्तंभित प्राण से अलग, मेरा कोई प्राण अस्तित्व में नहीं रह गया । यह स्थिति मेरी समझ से परे है, केवल उसके निस्तर्व बोध में ही मैं रह सकता हूँ ।

‘‘और अपने भीतर सुनाई पड़ा : ‘‘नहीं, अभी समय नहीं आया है !’’ पाव एक निष्कर्म दर्जन की मुद्रा में मैं देखता ही रह गया । प्रदोष बेला के धिने धूश्वलके भें, क्षीणसर होनी अग्नि-शिखाओं में, एकीभूत आसी कल्दन का छोर झूबता सुनाई पड़ रहा है । ‘‘और राशिङ्कुत प्राणी मेरी शिराओं में सरसराते चले आ रहे हैं ।’’

* * *

लौट कर जब नन्द्यावर्त पहुँचा तब रात का अन्तिम प्रहर ढल रहा था । मेरे काम के द्वार पर, एक प्रतिहारी मेरी प्रतीक्षा में अखण्ड रात जागती खड़ी थी :

‘‘देव, एक पथ आपके लिए उस चौकी पर रखकर है । कल सांझ की हामा बेला में कलिंग का एक अश्वारोही वह ले कर आया था । कलिंग-राजनन्दिनी यशोदा का वह अनुचर अनिधिष्ठाना में प्रतीक्षमान है ।’’

मुक्ताफलों की एक दृढ़ गीपीनुमा मंजूबा चौकी पर पड़ी थी । खोल कर एहाँ :

‘‘दर्शन की प्रत्याशी हैं । शुति-पलाश चैत्य-कानन में कल सांझ प्रतीक्षा कर्हेंगी । —यशोदा’’

हैं ॥ अविदल्य उसी के नीचे आक दिया भैंने “नशान्तु ॥” और मुक्ताफल-मञ्जूबा प्रतिहारी को लौटा दी ।

* * *

बिनी भन्द्या के चमारे आलोक में सारा उपवन बहुत मृदु हो आया है । बन्धुक फ़लों की महावर में रची भूमि पर पड़ती, अपनी पगड़ों को लालित होती अनुभव कर रहा है । शेफाली और मालती की भीनी महक में यह कैमी पथ लूँचन और पुलक तैर रही है ।

मध्यन ग्वेत फूलों से लाये सप्तचतुर्दश के तमदेश में दिखाई पड़ा : एक तने के महारं, ऊपर एक आई एक डाल को भूमिगम झाँह से थामे, कोई प्रतीक्षा चहाँ और्खों के कुवलय बिछाये हैं। कालोदधि समुद्र के अंगूरी मौतियों की जाभा उस प्रलम्ब देह-यज्ञि में लचौली हो आई है।

मुझे सामने पा कर, सहसा ही जानुओं पर डालक कर, उसने अपनी दोनों बाहुएँ मेरे जग्गन-सटीं में पभार कर माथा धरती पर डाल दिया। जैसे वह सारा सप्तचतुर्दश वन अवश धरती पर लुड़का आया। ' ' ' तो उस पर बैठ जाने की मानो मझे विवश हो जाना पड़ा ।

वह उठ कर भी झुकी ही रह गई। और्खों वे रुक्की ही रह गई :

'मुनती हैं, मुझे छोड़ कर चले जा रहे हो !'

'मब से जुड़ने जा रहा हूँ, तो तुम्हें क्यों छोड़ जाऊँगा ?'

'मब से जुड़ने को आकाश भले ही हो आओ। मेरे पैरों तसे की धरती तो छिन ही जायेगी। असीम आकाश तसे मुझ नान्कूछ की क्या हस्ती ; मुझे कौन याद रखेगा ?'

'ना-कृष्ण हो जाओ, यश, तो रागा आकाश तुम्हारा होगा !'

'आकाश को बांध सकूँ, इतनी बड़ी बहिं मेरे नाम कहाँ ? उस मूनेपन में हाथ-पैर मारती, उसका बगूला भले ही हो रहूँ ।'

'जिसे बांधना चाहती हो, उसे क्या इनना असमर्थ मानती हो, कि तुम्हारी बोहों को वह असीम न कर सके ?'

'छोड़ो वह ! नहीं चाहिये मुझे तुम्हारा आकाश !' मैं धरती की हूँ, और वह तुम मुझ से छीन लो, यह नहीं होने देंगी ।'

'धरती की नहीं, स्वयम् धरती हो तुम, देवी ! तुम हो कि आकाश की सत्ता गम्भव है। तुम हो कि आकाश देखा जा सकता है, पापा और गहा जा सकता है। चाहो तो वह तुम्हारी अंगूती में बैध आने तक को विवश हो सकता है ! '

'तुम्हारी वह कविता और तत्त्वज्ञान मेरे बग का नहीं। मेरी उंगलियाँ अन्तरिक्ष की नहीं बनीं : वे ठोस रक्त-मांस की हैं। और उन्हें ठोस रक्त-मांस की पकड़ चाहिये ! '

'स्वयम् कविता हो, कल्पाणी ! लेकिन कविता, बस होती है, वह अपने को समझती नहीं, पहचानती नहीं। पर मैं उस कविता की खोज में हूँ, जो अपना बोध आप ही पाये : अपने मौन्दर्य में आप ही रमण करे। उसे अपने

भावक पर निर्भर न करना पड़े । यणोदा को मैं ऐसी ही कविता देख रहा हूँ । और तब वह निश्चय ही पेरी कविता है !'

वह जुक कर जैसे अपने ही वश में लीन होनी-मी दीखी । उस चुप्पी की सरकी में मैं निमज्जित-मा हो रहा ।

'... तुम्हारी जनम-जनम की दासी हैं । तुम्हारे मिवाय शिलोक और शिकान में मेरा पाणिग्रहण कोई और नहीं कर सकता ! ...'

'पाणिग्रहण करने के लिए ही तो मेरा अन्म हुआ है, थशीद । अब तो हाथ पकड़ने आया हूँ, तो क्या तुम्हारा नहीं पकड़ेगा !'

'वह सब मैं नहीं यमझती । एहते मेरा पाणिग्रहण करो, फिर जहाँ चाहों जाओ, नाहे जिम्मा जाथ पकड़ो, मझे आपत्ति नहीं ।' 'तुम्हारी हथेलियों के ये कमन मेरे हैं, तुम्हारे ये चरण-युगल चिर जन्म में इस दासी के हैं । आनी खोई निधि को पहचान लिया है और या गई है, तो उसे मुझ में छीनने बाले तुम कौन होने हो !'

'वहाँमान दानियों को नापसन्द करता है । उसे दासी नहीं, स्वामिनी जाहिये । और स्वामिनी को अपने स्वामी पर इतना अविष्वास कैसे हो सकता है, कि उसे इस पर अन्म में अधिकार का दावा करना पड़े ।'

'स्वामी ! ' 'तुम था गये ? ... मेरे स्वामी ! ... वहो, मुझे छोड़ कर नहीं जाऊंगे !'

'स्वामिनी पहले अपनी हो रही, तो स्वामी तो तुम्हें तुम्हारा अपनी वहाँ में अनाश्रय आवद्ध मिलेगा । ऐसा अन्तिम और अचूक, कि जिसके छोड़ कर जाने का अदेश होता ही नहीं । इस बाहर छुड़े स्वामी वहाँमान का भरोसा करोगी तो गङ्कट में पड़ सकती हो । हमका क्या भरोसा, यह कब छोड़ जाये ? ... !'

'मच ही सुना है : बहुत निष्कृत हो तुम !'

'नन्दित है तुम्हें अपने भयोगी पर, तो जानो कि वह तो तुम्हारा संयोगी है ही नहीं । तुम्हे सन्देह है कि वह अन्तिम रूप से तुम्हारा नहीं है, इसी से तो भय बना है तुम्हें कि वह छोड़ कर जा यक्ता है । ऐसे अर्णिक और मांसपथ प्रोनभ की माया में वहीं पड़ी हो ?'

'तुम्हारी कमोटियों पर मुझे नहीं उतरना । ... निर्भय कहीं के ? ... !'

'मेरो दया पर जीना बहती हो ? तो सुनो, जो दयनीय और पराधीन है : वह महाबीर की प्रिया नहीं हो सकती !'

'नाथ !'

वे बड़े-बड़े पलक-पद्म उठ कर सामने देख उठे, और उसमें आँखु मालों
पर दूरक आये।

'अपना नाथ यदि सत्त्वमुच पाती हो मूँजे, तो नाथेगा ही तुम्हें। मेरी
नथड़ी पहनने को, अपनी नाक तँस्हे मज्जे से नथवानी होगी कि नहीं ?'

'नाथो मुझे, मेरे नाथ, और पहनाओ अपनी नथड़ी। तुम्हारे सिवाय
मुझे शोहाग और कीन दे सकता है ?'

'तब नाक ही नहीं, अपनी मारो इन्द्रियों मूँजे सौप देनी हींगी। जो नाक
को नाथेगा, वह तुम्हारी हर सीस को नाथेगा। तुम्हारी प्राण-अंति का अन्तिम
रूप से शोदन करेगा। तब कोई भी तुम्हारी इन्द्रिय, मुक्त और एकल्पन्द नहीं
रह सकती।'

'सत्त्वम्ब ले लो, और मदा-सदा को मेरे स्वामी हो जाओ !'

'तो अब वही कर सकोगी, जो मैं कहूँगा। तुम्हारा कहना और करना
मदा को समाप्त हो गया।'

'मैं ही समाप्त हो गई इन वरणों में, तो कहना और करना मेरा अब
कहीं बचा ?'

'तो तुम आज से मेरी सहधर्मचारिणी होई। सो स्वधर्मचारिणी होई।
तो अपने स्वधर्म में रहो, और मुझे अपने स्वधर्म की राह पर जाने दो। तुम्हारा
स्वामी, तुमसे अनुमति चाहना है।'

'अद्वैत का वचन दे कर, किर द्वैत की भाषा बोल रहे हो ?'

'स्थिति में अद्वैत, गति ने अद्वैत, स्वभाव में अद्वैत, किन्तु गति में, प्रगति
में, परिणमन में, जीवन की लीला में, द्वैत अनिवार्य है, यशोदा। एकान्त अद्वैत,
एकान्त द्वैत, दोनों ही मिथ्या हैं। एक वारमी ही अद्वैत भी, हृत भी, यही सत्ता
का स्वभाव है। यही जीवन है, यही जगत है, यही मृक्षित है।'

'आदेश दो, यश प्रस्तुत है !'

'चिलोक और चिकाल को सारी आत्माएँ मुझे पुकार रही हैं। वे मेरे साथ
एकात्मता पाने की विकल हैं। वे चिरकाल की अनायिनी हैं, और मुझ में
अपना नाथ खोज रही हैं। तो बोलो, उन्हें कैसे मुकर सकता है ?'

'पर प्रथम और अन्तिम रूप से समूर्ण मेरे नाथ रहोगे तुम !'

'यही चाहती हो न ? नो अनिवार्य है कि पहले स्वयनाथ बनूँ, ताकि संवनाथ हो सकें। इनके बिना तुम्हारा सम्पूर्ण नाथ नहीं हो सकता। वह स्वयाव नहीं।'

'भेरो और देखो... ! बोलो, क्या चाहते हो ?'

'देख रहा हूँ, तुम्हारी ये आँखें ! प्राणि-मात्र की पीड़ा, करणा, विरह-वेदना इनमें झलक रही है। तुम्हारे इन सुन्दर भौलि मुखनयनों में, हल्यारी की स्वार्थी बलि-वेदियों पर हीम जाने की धड़े, कोटि-कोटि कातर कन्दन करते, निर्दोष मृग-जाति का मुझे जाण के लिए पुकार रहे हैं। तुम्हारी इन कजरारी आँखों की अमेद मांहरात्रि में भटकती जाने विभवी ही आत्माएँ, मुक्ति के लिए छढ़पटा रही हैं। देख रहा हूँ तुम्हारी चित्रन की अन्तहीन दूरियों में : वहाँ अनन्त विरह की गाँधियाँ आर्त विनाप कर रहीं हैं। ... क्या नहीं चाहोगी, कि तुम्हारी भीनी पलड़ी के इन करण-विद्वल कूलों की सीमाएँ लोड जाऊँ ? इनकी विरह-रात्रियों की भवता हुआ, चिलोक और त्रिकाल के अनन्त चराचर जीवन का संगी और संप्राता हो जाऊँ। सर्व का रमण ही कर, सर्व की चिर अतृप्त रमण-नालसा को, परम-परम तृप्ति प्रदान कर सकूँ। मेरी अविकल रमणी ही कर रहना चाहती हैं, तो मुझे मवल का रमण हीने ऐ भी ही, आजे धारवदा रमण ही हो, मैं रमण कर सकारी। ... बोलो, क्या फ़हती हो ?'

'मेरे दरम रमण, जैसे चाहो अधर्नी रमणों में, अवाध रमण करो... !'

'... और वह यशोदा गहना ही एक मुक्ति, अतिक्रान्त चित्रन भे मेरी खूली छानी की ओर देख उठो :

'उह... ! यह क्या ? मेरे प्रभु, रक्त... ! तुम्हारो छानी से यह किसा रक्त उफन रहा है... ?'

और वह आँखे मूंद कर, मूँछित-सी हो, मेरे बझ गर लूँक आगे को हुई। मैंने उसदी दंतों मुकुमार भुजाओं की आगे दोगों हाथों में एकड़, इसे अपनी जगह पर ही धाम दिया।

'मेरी छानी के इस रक्त से आँखे मंदोगी ? गलापन करोगी ? नहीं, इसकी प्रेर मेरे मूँछित नहीं हुआ जा सकता, यथा। इसे खूली आँखों देखना होगा, सहना होगा, इसका सामना दरना होगा। हल्यारों की यश-वेदियों पर, आहुति बनने की जड़ कर्णोंहीं मूँक पणुओं और सानबों का यह निर्दोष रक्त है। हमें सही, इसे आने आँचल में डेलो। यह तुम्हारे मर्वमातृका वक्ष में शरण खोज रहा है... !'

वह अपना अंचल खसका कर, उसे पोछने को उत्तम हो आई ।

‘नहीं, इसे पोछो नहीं, इसे दबाऊ नहीं । इसे अपनी बहतर हजार नाड़ियों में जात्साल करो । इसे अपने औचल के दूध में अभय और मुक्त करो । इससे अपने अण्-अण् को आण्कावित कर, जीवन माय को अपाल्य और अधिक्षय कर देना होगा ।’

‘... और सहसा ही पाया कि उसका माथा मेरी छाती से उफनते उस रक्त पर छलक आया है ।

‘लो, तुम्हारी माँग भर मई, यशोदा ! तुम्हारी लिलार पर मीभाग का तिळक उजल आया । मेरी नीमन्तिनी, अपने भीमन्त के कूल में चिरकाल की इस अनाथ रक्षधारा को सनाय करेगी तुम !’

‘मेरे भगवान, अन्म-जन्मान्तरों की तुम्हारी नियोगिनी दासी, कुतकुल्य हो गई ।’

‘नियोगिनी होकर तो सदा वियोगिनी हो रही तुम । आज तुम शोगिनी हुई । दासी मिट कर सदा को स्वार्मिनी हो मई, अपनी, मेरी, और मदकी !’

डान पर पूरे पक आये आम-री, वह रस-सम्भार से आपूर्ण हो कर, महाबीर के चरणों में ढक्क पढ़ी । एक अमेद नीरवता में, जाने कितनी देर हम निर्वापित हो रहे । ‘सहसा ही मैंने आपने पैरों को आँखों के एक अगाध, असीम समुद्र पर चलते देखा ।

‘फिर कब दर्शन दोगे, देवता ?’

‘कलिंग के समुद्र-सौरण पर, ठाक भूतों में, एक दिन तुम्हारा पारिण्यहण करने आऊँगा । बहसे पानियों की बेदी पर, तुम्हारा दग्ध करेगा महाबीर ।’

‘कलिंग की राजबाला उन समुद्रों पर आँखें बिछा में रहेगी ।’

‘प्रियंकर के उद्धीयमान अश्वारोही का अनुसरण करती दो आयत्त औरें, पानी हो कर तत्सीन हो रही ।

प्रति-संसार का उद्घाती प्रति-सूर्य

'रो रही हो, बैना ? ... तब तो मेरा जाना और भी जरूरी है। प्रकट है कि अब भी ऐसी विद्योगिनी ही हो, योगिनी नहीं हो सकती। अभी तक सुलभ हैं न तुम्हें, इसीमें स्वल्पभ न हो सका। उसके लिए आवश्यक है कि सुलभ न रहें, बल्कि बाहर अन्य तरफ हो जाऊँ।'

'जानती हूँ, जाओगे ही। मैं गोकर्ण वाली होती कौन है ? मेरा तो कहीं कोई था ही नहीं। नुग ने कहा कि नहीं, तुम हो, और मैं अकेली नहीं हूँ। ... क्यों मुझे यह माया में डाला ? तुम्हारा दोष नहीं, भूल मुझी से हूँ। तुम्हें पा कर अपनी अकिञ्चनना को भूल बैठी। ... मैं चिर अवाधिनी, फिर वही हो गई। मेरा भाष्य ! तुम छहरे समाट ! मृण हुँखिनी का तुम पर क्या दाढ़ा हो सकता है !'

'मैं यह कहीं कोई नहीं, या कोई नहीं है : ये दोनों ही भाव माया हैं, बैना, मिथ्या हैं। आज यदि मैं यह कहीं कोई हूँ, तो कल उसे—कहीं कोई नहीं—होना ही है। कोई एक जब नक अपना रहेगा, और अन्य सब पराये रहेंगे, तो एक दिन यह अपना भी पराया हो कर ही रहेगा। क्योंकि वह कोई एक दंडाया, जो स्वयं पूरा अपना नहीं, तो तुम्हारा कब तक यहा रहेगा। स्वयं अपनी और आप ही जाओ, तो किसी एक की अपेक्षा न रहेगी, सब अपने ही जायेंगे। किसी एक की पर्याय विशेष तो विनाशीक है, उससे यित्योग अनिवार्य है। अदृढ़ संयोग के बल पर्यायी के साथ सम्भव है : जो अविनाशी है, अविकल्प एकमेव है। पर्याय विशेष के साथ वह सम्भव नहीं। मोह की उस मरीचिका में कब तक चला जा सकेगा ! उसका अन्त यदि सामने आ गया है, तो युग्म होना चाहिये कि नहीं ?'

'मरीचिका यदि टूटी है, तो इस बेसहारमी में, तुम जो एकमेव हो, वह भी औख से ओसल हो जाओ, तो खड़ी कैसे रहँगी मैं ?'

'मैं जब नहीं था, तब विसके सहारे खड़ी थी ? पल-पल संकट, अस्पताल, अरक्षा, मौत के बीच जो अचल परम अकेली चल रही थी, वह कौन थी ? ... उसे तुम भूल गई ?'

'इसी आशा में तो चल रही थी, कि कभी कहीं तुम मिलोगे। तुम मिल गये : तुमने मझे तार कर तट पर खींच लिया। तुम्हें देखते ही पहचान गई कि तुम्हीं अन्तिम हो, मेरे स्वरूप की माकात् मूर्ति हो। तब तुम्हीं कहो, क्या वही अकेली, बेचारी, पीड़िता बनी रहती ?'

'अन्तिम हूँ, और तुम्हारे स्व-स्वरूप की मूर्ति हूँ, तो क्या इतना सीमित और अल्प है, कि तुम्हारी आँख पर ही समाप्त है ? आँख में ओझन हो वह जो खो जाये, मन्दिराश, अनिक्षित, विपूक्त हो जाये, क्या उसी की तुम अन्तिम, एकमेव और स्व-रूपी कहसी हो ? तुमने मेरे स्व का नहीं, पर का वरण किया। तुम मेरे योगी में नहीं, वियोगी से चिपटी रहीं। इसी से मेरे आँख में ओझल होने की बात आने ही, वियोगिनी हो उठी हो, और रो रही हो ! '

क्षण भर एक चामोङ्गी व्याप रही। फिर पूरी आँखें मेरी ओर लचका कर बह बोली :

'सच, कितने अच्छे हो तुम ! कितने अपने ! बोलते हों, कि आवरण उठते चले जाते हैं। आँखों से आगे का तुम्हारा स्वरूप, सचमुच देख रही हूँ सामने। नाथ, तुम्हीं मेरी आँखें बन जाओ न ! तुम्हीं मेरा दर्शन, स्पर्शन, जान हो जाओ। मेरो हर इन्द्रिय तुम्हाँ बन जाओ ; तो शर्मिद्धी की यह दीना और बाधा ही समाप्त हो जाये। बनोगे न ? '

'बन गया बैना, इसी से तो एकाएक ऐसी खिल आयी हों। वह एक क्षण पहले की बैना अब कहीं रही। जिस स्वरूप की अलक अभी पाई है, वह उसी में तन्मय रहो, फिर अन्तिम और अनल तुम्हारा है, चाहे जहाँ रहें। रहें या न रहें की भाषा में परे, वही एकमेव मैं हूँ, तुम हो, नित्य, अविनाशी, संयुक्त !'

'जिस मुहर्त में तुमने अपनाया था, उसी क्षण जान गयी थी कि कल्प-दर्शण सार्थक हो गया, समाप्त हो गया। काम, गरुड़, शिव तब तक भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ और धाराएँ बन कर भुक्ष में संचरित थे। कभी यह होती थी, कभी वह होती थी। निरन्तर संक्रमण में चल रही थी। संक्रांतिकाल था वह मेरा। तुमने उस दिन कहा था: 'बैना, ये तीनों केवल आत्मा हैं : आत्मा के अतिरिक्त कहीं कुछ नहीं।' वही तक पहुँचने को संक्रमण की एक पूरी अवधि पार करना थी। लगता है, वह आज पार हो गई, मैं अतिक्रान्त हो गई—तुम्हारे भीतर, अपने अन्तर्गतम में। जहाँ केवल तुम हो मेरे, मैं हूँ तुम्हारी, और कोई नहीं ! देवता, आगरम्पार हो तुम !'

और मेरे एक पग को दोनों हथेलियों में कमलायित कर, मेरे पदनख पर उसने माथा छाल दिया। और उसे चूम लिया।

'तो तुम स्वर्य हुई, और मेरी संगिनी हुई। क्योंकि तुम असंगिनी हो गई ! मैं आप्यायित हुआ।'

'अचला, हमें ये बताओ, कब, कही जाओगे ?'

'अभी श्रीराधा, जहाँ तुम हो, मैं हूँ सदा। केवल मेरे जाने पर ही अब भी तुम्हारी निगाह लगी है ! यह जो आया हूँ, अभी तुम्हारे पास संयुक्त, उसे नहीं देखोगी . . . ?'

'देख रहे हूँ . . . वहीं तो देख रही हूँ। लेकिन प्यार करने के लिए, दुर्लभ रहोगे, तभी तो सम्पूर्ण स्व-लभ हो सकोगे। मैं मोक्ष में नहीं, जीवन को द्वैतिनी लीना में ही तुम्हें अद्वितीय भाव से अपने संग पाना चाहती हूँ। क्या यह सम्भव नहीं ?'

'नयास्तु . . . ! अंतकाल में कुछ भी असम्भव नहीं।'

और बैनतेयी को आँखुओं से उमड़नी आँखों में मने अपने की तैरते देखा : जल-कंठद्वा करते देखा।

'लो, ये कबि सोमेश्वर चले आ रहे हैं ! . . .'

'अरे सोमेश्वर, कहीं रहे इतने दिन ? बाद कर रहा था तुम्हें, कि लो, आ ही गये तुम !'

'तुम जब तक याद न करो दर्ढपान, तब तक तुम्हारे पास कौन आ सकता है ! दिन-दिन दुर्लभ जो होते जा रहे हो !'

'तो ठीक हो रहा हूँ। यह जो सुनभता है न, यह मुझे सच्च मिलन में धाधक दीखती है। यह हमें, परस्पर को पुरातन और व्यतीत ही मिला पातो है, नूसन और चिरतन् नहीं मिलाती। सुनभ नहीं, स्व-लभ हम हूँ जायें परस्पर, तो मिलन में हमेशा एक ताशणाई और लाजगी रहे।'

'तुम जैसे रखेंगे, वैसे ही तो हमें रहना है। तुम जो मूँझे बाहो, वही होना चाहता हूँ। सो चूप और दूर रहता हूँ।'

'इसी से लो मेरे बहुत पास हो। परिसर में नहीं, अस्यन्तर में हो। और सुनाओ, क्या खबर है ? सुना, हघर कई दिन यात्रा पर रहे ?'

'तुम कहीं टिकने जो नहीं दे रहे। धक्के देते रहते हो, तो यात्रा अनिवार्य हो गई। पहले दक्षिणावते के छोर तक गया। फिर पश्चिमी समुद्र के हीपों और पार्श्व तक भी पहुँच गया। तब उत्तर-पश्चिम के राज्यों और गणतंत्रों में हो लिया।

गामधार में आचार्य बहुलराज के दर्जन किये। फिर सिन्धु सौवीर से भूमुकच्छ हो कर, उज्जयिनी, कौशलाम्बी, शावस्ती, चम्पा, मणध होता हुआ, वैशाली पहुंचा था। कल ही तो लौटा है।

'तब तो बहुत खबरें लाये होंगे। कोई खास खबर है, सोमेश्वर ?'

'बहुत खिलाड़ी हो, बद्रमान ! खबरों का दरिया खुद बहा कर, कैसे देख बर और भोले बने बैठे हो ! भरत क्षेत्र से ले कर, हैमवत्, विदेह, हैरण्डवत्, ऐरावत तक, जम्बूद्वीप की आमयद्व धरती में भूचाल उठाया है तुमने। लक्ष्मीदधि के पानी चबल रहे हैं, और जम्बूद्वीप के केन्द्रस्थ जम्बूद्वध की जड़ें क्लिस रही हैं।'

'अरे कविता ही करते चले जाओगे, सोम, कि कुछ कहोगे भी !'

'संधारार में उस दिन नुम बोले, तो आर्यवर्त के सोलहों सहाराज्य बौखला उठे हैं। वैशाली की गण-परिणद विभाजित हो गई है। वहाँ अन्तर-विश्रह प्रवलतर हो रहा है। तुम्हारे स्वपक्षियों और विपक्षियों में वरावरी की टक्कर है। वैशाली गृह-मुद्द के खतरे में है।'

'तो मेरी वैशाली-वादा सार्वक हो गई। सचाई यह है, मित्र, कि हम सभी तो अपने भीतर विभाजित हैं। और वह किभीजन खुल कर सामने आ जाना चाहरी था। सूचिके कण-कण, जन-जन से लगा कर, जातियों और राष्ट्रों तक में सर्वत्र एक अन्तर्विश्रह सदा चल रहा है। वह फूट पड़ा है, तो यहाँ काम हो गया। लगता है विरुद्धोट बुनियाद में हुआ है, तो सम्पूर्ण संयुक्त हो कर रहेगी। और दत्ताओं, अवन्ती और मणध क्या कहते हैं ?'

'एक अजीब तमाशा हुआ है। सारे राजे-महाराजों पर यह आतंक छा गया है, कि गणतंत्रों का यह बेटा, हमारे सारे राज्यों में बसवा करका कर, तमाम आर्यवर्त में वैशाली का गणतंत्री संघराज्य स्थापित करने वा यहाँ परंत्र रख रहा है। उधर गणतंत्रों के दिलों में वह दहमत पैदा हो गई है कि बद्रमान साम्राज्यवादी है, और वह विम्बिसार को अपना हृथियार बना कर, अखण्ड भरतक्षेत्र में अपना एकराद साम्राज्य स्थापित करना चाहता है ! . . .'

मुझे जोरों की हँसी आ गई। बोल पड़ा मैं : 'बहुत अच्छा, बहुत अच्छा ! बड़ा भनोरंजक है यह उद्वत्त सोम, सचमुच ! ये बड़े-बड़े शस्त्र-सज्जित छथधारी, इनके अनुल शम्बवास्थों से लैस लक्ष-सक्ष सैन्य, इनके फौलादी दुर्ग, और मैं अकेला निहत्या, नादान लड़का ! और ये सब मुझ से भयभीत हैं, आतंकित हैं ? सचमुच अद्भुत है महासत्ता का यह खेल !'

'तुम्हारी महासत्ता को शायद, पहली बार इतिहास में ऐसा खिलाड़ी मिला है ! चारों ओर यह स्वयम्-सिद्ध देख आया हूँ कि इन तमाम शस्त्र-स्वामियों, इनके

अपार शस्त्रों और सेन्यों से तुम निहत्ये आदमी अधिक खुतरनाक हो। क्योंकि शस्त्र-बय से चिर दमित और आतंकित पृथ्वी और प्रजाएँ, एक निहत्ये पुरुष-पुण्य का, तमाम भूस्त्रधारियों के विरुद्ध अपने पक्ष में उठते देख कर, तुम्हारे पीछे छड़ी हो गई है। तमाम दुनिया की सामूहिक शस्त्र-शक्ति का, अकला चुनौती दें। कला व्यक्ति, आज तक तो पुराण-इतिहास में दुग्ध नहीं गया।

‘अचल हुआ सोमेश्वर, तुमने समय पर सावधान कर दिया मुझे। इस मौर्तिक और संयुक्त शस्त्र-सत्ता का सामना करने के लिए मुझे भी तो कोई मौर्तिक और अमोघ अनस्थ बल छोड़ निकालना होगा। सोचता हूँ मेरी निष्क्रिय और नगर काया, उसके मुकाबले कम नहीं पड़ेगी। और सुनाओ, चण्डप्रद्योत, उदयन, प्रसेनजित, थेणिकगज क्या कहते हैं?’

‘चण्डप्रद्योत तो सदा का उद्घाट है ही। समय से पूर्व ही वह क्षिप्रा के पानी पर अपना ढण्डा बजा रहा है। कहता है—‘जिज्ञादियों की बैशाली में कुलद्वैही जन्मा है।’ दूध के दौस हैं श्रभो, और दहाड़ रहा है सिंह बन कर। भरने का मचल पड़ा है नादान लड़का।’ ‘पर तुम्हारा भाई वह बत्सेश उदयन बड़ा रोचक और विचित्र युवक है। जब से उसने यह उदन्त सुना है, वह अपनी भातंग-विमोहिनी बीणा बजाने में और भी गहराई से तल्लीन हो गया है, और सुन्दरियों के स्वप्न-लोक में पूरा खो गया है। कहता है—‘दौक कहता है वर्द्धमान—किसना ही लोहा बजाओ, लोहे पर टिका क्षणभंगुर हिसक साम्राज्य एक दिन टूटेगा ही।’ सत्य और नित्य है केवल संगीत और सून्दरी का साम्राज्य। मेरे लिए कही काफी है।’ ‘विचित्र है न यह उदयन, वर्द्धमान।’

‘जानता है, मीम, उदयन विलक्षण है। उसकी बीणा का सप्तक पर सेरे स्वर बजाये। यह आज का उद्दीपनासी उदयन, कल का चिद्रविलासी है। मुझ से अधिक पह कोई नहीं जानता। और शावस्ती क्या कहती है?’

‘प्रसेनजित तो, जानते ही आयुष्यमान, कायुष्य है। पुरोहितों, वैदों और कुटनियों के भरोसे जीता है। जब से तुम्हारा सन्देश उसने सुना है, चाटु और पेटू ब्राह्मणों के बहकावे में आ कर राजसूय बज वी तैयारी कर रहा है, ताकि सेतमेत में सारी पृथ्वी पर उसका साम्राज्य स्थापित हो जाये। सुर और मुन्दरी में रात दिन टूटा है, और वैशाली के सारे शत्रुओं की शावस्ती में स्वन्धावार रखने के लिए निमश्च दे रहा है। अगराज दर्शवाहन भयभीत है कि तुम नम्बा के नहरानों लिये को अबुग सुर्दर्शन शास्तों पर ला कर दरिद्रों वाले लुटा देना चाहते हो। मगर उनकी बेटी शीलवन्दना गिसी भाविक भक्त है तुम्हारी कि, रो-रो कर वह शदा नुम्हें ही पुकारती रहती है।’

'चल्द्रभद्रा शीलचल्दन, तुम्हें ठीक महाबीर की बहन की तरह तलवारों की छाया में चलना होगा। तीव्र रहो। मैं तुम्हारे साथ हूँ।'

'और भगव्येश्वर तो, बद्धमान, जब से यह उद्दल सुना है, तुम्हारे गृण गते नहीं असाते। कहते हैं—'अधिपतित ऋतियों के बीच यह एक ही तो नरशादूल जन्मा है। सारे ही दैदल्य एक सिरे से भविष्य-वाणी का रहे हैं कि वह अन्मजात चक्रवर्ती है। गणतंत्री हो कर वह नहीं रह सकता, वह भारतों का राजराजेश्वर हो कर रहेगा। मेरी प्रेम और सौन्दर्य-पूजा का मर्म केवल वही तो समझता है। बद्धमान मुझे साथ ले कर तमाम जन्मशून्यप में एकराद् साम्राज्य स्थापित करना चाहता है।' 'सो मिथ, जिस मराध सम्मान की आकामकता से बैशाली आतकित है, उसे तो चुटकी बजा कर ही तुमने चौपि लिया। उधर कुटिल वर्षकार भी हृष्ट मे गढ़ाद् हो उठा है। यह एक ब्रगत-विस्फात तथ्य है कि काञ्जिसंघ की एकता अटूट है; और जब तक लिच्छवियों में यह एका है, बैशाली अजेय है। तुम्हारे भाषण से बज्जियों में अन्तर्विश्वल जाग उठा है, और वर्षकार अब बैशाली की खुटकी बजाते भैं जीत लेने की सौच रहा है। उसने चौगुने बेग से आक्रमण की तैयारी शुरू कर दी है। आर्योवर्ती के सारे दबे हुए अन्तर्विश्वों की आग को तुमने खुले चौराहों पर प्राज्जयल्पमान कर दिया है। अब तक मंत्र-दर्शन की बात केवल सुनता रहा है, तुमने अपने शब्द की शक्ति से उसे गेढ़ कर दिया। तुम्हें पहचानना कठिन होता जा रहा है, आपृष्यमान्।' 'असम्भव हो तुम, इसी से अनन्त-सम्भव हो।'

'असम्भव की सीमा-रेखा, असम्भव पुरुष ही तोड़ सकता है। व्यक्ति में यदि सत्ता साक्षात् प्रतिभासित और परिभाषित हुई है, तो जानो सोमेश्वर, मैं और तुम से परे कोई तीसरी ताकत इस समय काम कर रही है। और तुम मुझे उसके देवदूत लग रहे हो। कवि होकर, अध्यक्षों, असम्भव सम्भावनाओं, पारान्तरों और भविष्यों के द्रष्टा हो तुम।' 'और कहो, परिचमी सीमान्तों और उसके बार के देशों की भी कुछ खबर है?'

'वही तक की क्या पूछते हो। भरत-क्षेत्र से मनुष्य द्वारा अगम्य विदेह धोत्रों तक का उद्दन्त सुनो मुझसे। कहते हैं कि, विदेह धोत्रों के नित्य विद्यमान तीर्थकरों की दिव्य-ध्वनियाँ प्रखर और प्रभाग्न की तरह बेगीली हो उठी हैं। उनमें सुनाई पड़ा है कि: 'जरे भव्यो, अपूर्व और अप्रतिम है भरत-क्षेत्र का यह कुमार तीर्थकर महाबीर। अमल केवल ज्योति के नये पट्टम यह खट-खटा रहा है। आदिकाल से चले आ रहे जीवन, जगत और समाज का ढाँचा इसने तोड़ दिया है। सहस्राव्यों के धिसे-पिटे वस्तुओं और ज्यवस्थाओं के अड़ीभूत ढाँचों की उसने अपनी एक ही

ललकार में रहा दिया है। विश्व की तमाम तलवारें न कर सकीं, वह उसने अपनी एक ही ललकार में कर दिया है। उसने ज्ञाता और ज्ञेय में अन्तर्निहित एक नभी ही किया-शक्ति का ओत खोल दिया है। शुद्ध और पूर्ण ज्ञान को, शुद्ध और पूर्ण किया में परिणत कर, वह धर्म और कर्म की, लोक और सौकोत्तर की एक अपूर्व संयुति पृथ्वी पर सिद्ध करने आया है। '... अब तुम्हीं कहो बद्धमान्, मर्ही के पूर्व-पश्चिम की क्या सुनाऊँ? फिर भी सुन लो, पश्चिमी गणतंत्र तुम्हारे भीतर विश्व का प्रथम गण-मण्डाट देख रहे हैं। गान्धार में तो प्रजाओं ने तुम्हें सर पर उठा लिया है। परम्पुरी का शासानुभास तुम्हारी मैथी को उत्सुक हो उठा है। क्योंकि वह सौचने लगा है कि आर्थिक अब तुम्हारी मुट्ठी में है; और ऐसी संयुक्त शक्ति की मैथी के बिना वह अपना अस्तित्व सम्भव नहीं देखता। आर्थिक में तुम्हारा स्वागत सबसे अधिक ब्रह्म-शक्तियों और संकरों में किया है। शुद्ध, कम्पकर और चाण्डाल अपना पीड़ियों-पुरातन भव और दैन्य त्याग कर, रात-दिन तुम्हारी जगकारों से आकाश गुजित कर रहे हैं। ऐसा लगता है, कि जानी हुई सप्तशता पृथ्वी के दिग्न्त तुम्हारे इस ग्रन्थनाद से हिल उठे हैं। अनुभव कर रहा है, कि तमाम सूषिट में विष्व की एक हिलोर दौड़ी है, और कुलाचल दोलाय-मान हुए हैं। ...'

'और कुछ कहीं हुआ हो या नहीं सोम, पर तुम्हारी कविता में जल्द एक अतिकास्त हुई है। और तुम्हारे जैसे पारदर्शी कवि की कविता असत्य नहीं हो सकती। उसमें यदि यह सब घटित हुआ है, तो कल पृथ्वी पर वह विश्वय रूपायमान होगा। मैं तुम्हारा कृतज्ञ हूँ। ...'

'लेकिन बद्धमान, यह क्या सुन रहा है कि तुम जा रहे हो? आखिर क्यों और कहीं?'

'तुम्हीं तो कह रहे हो कवि, कि जारी और से मेरे लिये पुकार आ रही है। पुकार यदि मैंने मन्त्र में वैदा की है, तो उत्तर देना होगा कि नहीं? तब इस महल की चहार दीवारी में बन्द कैसे रह सकता है। मेरी आवाज से तुम्हारे भीतर ऐसा विराट् स्वप्न जागा है, तो उसे सिद्ध करना होगा कि नहीं? कण-कण यदि मेरे शब्द से ज्वालागिरि हो उठा है, तो क्या उसकी लपटों से बच कर, यहाँ बैठा रह सकता है?'

'तो सोक के बीज आओ, लोक का त्याग बरके, उसे पीठ दे कर, अरम्भो के एकान्त में निर्वासित हो कर, वह कैसे सम्भव है?'

'बर्तमान संसार को यदि मैंने तोड़ा है, तो एक नया और मौलिक प्रतिसंसार मुझे रखना होगा। बर्तमान के लासोन्मुख काम-साम्राज्य को यदि मैंने छिप-छिप किया है, तो मौलिक सत्ता के स्वरूप पर आधारित एक अभीष्ट और ऊर्ध्वोन्मुख प्रतिस्थानाज्य मुझे अपने भीतर से अवशीण करना होगा।'

'तो क्या उसके लिए अपने ही किये इस गत्यानाश से प्रलायन बातें अपने एकान्त में खो रहे गे ?'

'प्रलायन नहीं, यह पुनरुत्थान की दिशा में महाप्रस्थान का प्रथम चरण है। लोक में जो भी आमूल असिक्कान्ति करने आये, उन्हें एक बार तो लोक से निष्काल्प हो दी जाना पड़ा है। जो बर्तमान देश-वालि को आगूत-चूल उलझार बदल देने आये, उन्हें सदा एक बार तो लोक से बाहर खड़े हो दी जाना पड़ा ! . . .

'सोचता हूँ, इतिहास के विपथगामी दौर को जो उलट देने आया है, उसे इतिहास के चौराहे पर खूल कर खेलना होगा। धारा जो जो माड़ देने आया है, उसे उसके सम्मुख खड़े होकर अपनी सुनी छाती पर उसे प्रतिरोध देना होगा। . . .

'ऐसा यूँ घृणा के मैदानों और चौराहों पर नहीं लड़ा जाता, सोभिष्वर ! उपरी कड़ियों की जोड़-तोड़ से, मौलिक एवंता पर आधारित रखना भूमिका रही। उससे केवल उपरी सदाचारों के पावड़ पत्तें हैं। गुविधा, सुधार और समझौतों की स्वार्थी राजनीति का जन्म होता है। वह स्थिति को सुलझाने के रजाय, और अधिक उत्तमाती है। उसमें मौलिक धर्म-सत्ता का स्थान मानवों की कृतिम और स्वार्थी कर्म-सत्ता के लेती है। यर्तमान का विपथ्य इसी का तो प्रतिफल है। . . .

'मूनो साम, धारा यदि विकृत हो गई है, तो मानना होगा कि अपने प्रकृत उत्स से वह उचित ही गई है। उसे मैंने तोड़ा है, तो इसी लिए, कि उसके अतल उत्स में उत्तर जाऊँ, और उसके प्रकृत प्रवाह को लोगों में अनियरि प्रवाहित कर दूँ।'

'तुम्हारी बात को पूरी तरह भझड़ नहीं रहा, बद्धमान, कुछ और स्पष्ट करो !'

'जगत् को जीने विना, उभयं जी जहा स्थान्तर नहीं लाया जा सकता। और जगत् को जीतने के लिए उपर्की जड़ में जाना देंगा। वृक्ष के फूल, फूल, ग्रास्त्रा जब विपत्र और विकृत हो जाने हैं, तो भाली उन पर मीध औपर्धि प्रयोग नहीं चारता। वह वृक्ष की जड़ का उपचार और मंशोदृग्दान चारता है। मून की व्यस्थ किये विना चुन के ढाल, फूल, फूल, व्यस्थ और सम्बन्ध नहीं हैं। महते !'

'तो मूल वा उपचार तुम कैसे करना चाहते हों ?'

‘उसके लिए पहले अपने ही मूल में जाना होगा। अपनी ही आत्म-शुद्धि और संखोदन करना होगा। अपने मूल में आत्मस्थ होना, निःर्गतः समग्र महाभस्ता के मूल से जुड़ जाना है, उसमें स्वरूपस्थ और सदाकार होना है। तब अपने ही वैयक्तिक जीवन और सत्ता में आपोआप एक आमूल अतिक्रान्ति और रूपान्तर घटित होता है। फलतः व्यक्ति निरी व्यष्टि न रह कर, समष्टि का केन्द्रीय मुमें-मुरुष हो जाता है। अपने आप में मुसम्बादी और संयुक्त हो जाने पर, समग्र विश्व-सत्ता में वह स्वभावतः संयुक्त और सुसंबद्धिता की एक परमाणविक विश्वानु-शक्ति का संचार कर देता है। इसी से सर्व का रूपान्तर करने के लिए, पहले अपना सम्पूर्ण रूपान्तर कर लेना अनिवार्य होगा। सब को जो भूमि रूप में बदलने चला है, उसे पहले स्वयम् सही अर्थ में बदल जाना होगा।’

‘तो उसके लिए तो और भी आवश्यक होगा, कि लोक के दीचो-दीच घड़े रह कर, अपने आत्म-रूपान्तर को प्रक्रिया सम्भव करो। तभी तो उसका प्रभाव सर्वत्र पड़ सकेगा।’

‘मैंने कहा न सोमेश्वर, यह काम यातह पर रहे कर नहीं, तद्र में खो कर ही सम्भव है। केन्द्रस्थ होने के लिए, बाहर की सारी जड़ीभूत हो गई परिधियों को तोड़ कर, उनमें शिकान्त हो जाना पड़ेगा। यहाँ तक कि भीतर-बाहर शून्य हो जाना होगा। क्योंकि शून्य में ही केन्द्र का अवस्थान है; और वहाँ से आपातिक नव्य-नूतन सृष्टि सम्भव है।’

‘तो उसके लिए क्या गृह-स्थान अनिवार्य है? यहाँ रहे कर भी तो अब तक तुम अपनी एकान्तिक अन्तर्यात्मा का जीवन बिताते रहे हो।’

‘इस चहार दीक्षारी में रहे कर अब आगे की यात्रा सम्भव नहीं, सोमेश्वर। विकाम के इस मोड़ पर पहुँच कर, मैंने स्वयम् हीं तो इस चहार दीक्षारी को लोड़ दिया है; जहाँ खबा हूँ उसी घरस्तो को तो मैंने ध्वस्त कर दिया है। बाहर के मारे आधार मैंने छिन्न-भिन्न कर दिये; जब यहाँ टिकाव सम्भव नहीं; अपने और सृष्टि के भीतर चले जाने के लिवाय और कोई विकल्प अव नहीं बचा।’

‘वर्तमान व्यवस्था का भंजन तुमने किया है, अद्यपान, तो उसके सुवधार हो कर तुम्हे, अभी और थहाँ उसे नयी अंवस्था और व्यवस्था प्रदान करनी होगी कि नहीं?’

‘जिस व्यवस्था का मैं आमूल उच्छेदन चाहता हूँ, उनका अंग हो कर मैं कैसे रह सकता हूँ? यह मारी व्यवस्था स्वार्थियों की सुविधा और उनके यमझीतों

पर टिकी हुई है। इसका अंग ही कर रहेंगा, तो इसके स्थापित स्वार्थी, मुविधाओं और समझीतों को जाने-अनजाने अंगीकार करना अनिवार्य हो रहेगा। यहीं का कुछ भी सत्य, न्यायोचित और समवादी नहीं। इस व्यवस्था से प्राप्त जीवन-साधनों का उपयोग जब तक करता है, इनका क्षणी और अधीन जब तक है, तब तक चोर हो कर ही रह सकता है। चोरी और सीनासारी एक साथ कैसे चल सकती है! बैशानी और नन्दावर्ती की बृनियाद में मैंने उस दिन मुरंग लगा दी, सीमेप्पर, तो इस सारी व्यवस्था की शरती में सुरंग लग गई। घटस्फोट की प्रतीक्षा करते। सीधे भूमि के गर्भ में गूँद वग्ग मूले उसके बिहून डिम्ब का विस्फोट करना करते। तभी सत्य और मुन्दर का गर्भाधान सम्भव होगा। तभी भूमा का होगा। तभी सत्य और मुन्दर का गर्भाधान सम्भव होगा।

'निवृत्ति में जाकर, प्रवृत्ति कैसे सम्भव है, मान?'

'पूर्ण निवृत्ति और पूर्ण प्रवृत्ति दोनों एक ही बात है। प्रवृत्ति में निवृत्ति और निवृत्ति में प्रवृत्ति, यहीं परिपूर्ण जीवन का महामंत्र है। जो भीतर से नितान्त निवृत्ति है, वहीं याहर की अनन्त प्रवृत्ति की परिपूर्ण और गमीचीन मतालना कर सकता है। क्योंकि उसके भीतर महाशक्ति के संतुलन का कौटा सतत प्रक्रियाशील रहता है।'

'नचिकेतस् और पाश्वन निवृत्ति की राह चल कर ब्रह्म-परिनिर्वाण पा गये; पर उनके उस ब्रह्मलाभ से जगत की क्या प्राप्ति हुआ, आपुष्यमान?'

'हर तीर्थकर, योगीउवर या शुग-विधाता प्रह्लादप्य, एक विशेष द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की तत्कालीन मौग पूरी करता है। नचिकेतस् और पाश्वन के जगत में, मनुष्य की पुकार वैदिकिक मुक्ति की खोज में आगे न जा सकी थी। उसे प्राप्त कर उन्होंने, अपने पीछे कैबल्य-ज्योति के चरण-चिह्नों से अंकित एक प्रशस्त आलोकपथ छोड़ा है। पर आज के युगन्धर के सामने भगव्य की इहलौकिक मांगलिक मुक्ति की चूनीतों उठ खड़ा हुई है। मैं यहीं इसी लिए हूँ कि वैयक्तिक मुक्ति के कैबल्य-मूर्य को केवल निर्वाण के लद में विलीन हो जाने को न छोड़ दूँ; उस भू और द्यु के क्षितिज में उतार कर, लोक और काल के उदयाचल दूँ; एक अप्रवे मर्वद्याल्तरकारी क्रिया-शक्ति के रूप में उद्योतमान करूँ। मैं निर्वाण को पादुका की तरह धारण कर, मिठ परमेष्ठी को लोक के सम्बादी पुनरावताण के लिए, लोकालय की राहें और चौराहों पर नौदा लाना चाहता हूँ। . . . नचिकेतस् और पाश्वनाय में पूर्व, कृष्णदेव, राजय भरत, जनक विदेह और याज्ञवल्य, निवृत्ति और प्रवृत्ति के समन्वय की पथ-खेता हमारे बीच छोड़ गये हैं। वर्तमान का आमामी तीर्थेकर उसी पथ-खेता की आगे ले जाने वाला पुरोधा और अपूर्व प्रतिमूर्य होगा।'

'वर्तमान्, तुम्हारी पहचान फिर हाथ से निकल गयी। तुम आँख से ओझल हुए जा रहे हो !'

कहते कहते सोमेश्वर मेरे एक हाथ की उद्बोधनी मुद्रा को, अपने दोनों हाथों में धकड़ कर, रोतार ही रोता था । ४५ की दुसी आँखों की वरीनियाँ भीनी हो आईं ।

और बैनलेयी की झासू-घुली पारदर्श आँखें पूरी छुल कर, उस आगम्य दूरी में मेरा अनुसरण कर रही थीं, जहाँ वर्तमान के क्षितिज का तटान्त तोड़ कर, मैं आगे बढ़ा जा रहा था ।

' . . . बैना, आने कवि को तुम्हारे हाथ सौंपे जा रहा है । उसे ऐसा न लगे कि वह अकेला थीछे छूट गया है । दोनों संयुक्त और युग्मित चलोगे, तो उसकी कविता भव्यतर और दिव्यनार होती है, महावीर में साकार होती चली जायेगी । वहीं तो तुम होगी बैनलेयी . . . !'



विष्णुव-चक्र का धुरन्धर

‘...एक वर्ष हो गया, वर्षीदान चल रहा है। हमारे सारे ख़जाने खाली हो गये, और क्या चाहते हो, बेटा?’

‘खाली हो कर ख़ल्म हो गये? क्या भरते नहीं जा रहे, तात?’

‘बेप्रक, खाली होकर फिर भरते ही जा रहे हैं। वर्द्धमान का यह प्रसाद तो उसके जन्म के दिन से ही देख रहा हूँ, कुण्डपुर में।’

‘खाली कह कर ही आप चुप हो गये न, बापू? भरते की बात तो आपने मेरे पूछने पर कही। इसी से पूछना पड़ा?’

‘हमारे ख़जाने तो खाली हो ही गय, बेटा। अब जो है, वह तो वर्द्धमान का प्रसाद है। चमत्कार के समझ तो चुप और चकित ही रहा जा सकता है न, उसे अपना कैसे कहूँ?’

‘तो सुनें बापू, यह प्रसाद हर घर और हर आत्मा तक पहुँचा देना चाहता हूँ। लाकि जन-जन के भीतर-बाहर के ख़जाने अखूट हो जायें। यह चमत्कार नहीं बापू, चिन्मय का साक्षात्कार है। बस्तु सामने आ रही है, तो क्या आप उससे अच्छे फेरेंगे? प्रत्यक्ष का भी प्रमाण चाहेंगे आप?’

‘तुम अन्मे उसी दिन से हमारा तो कुछ रहा नहीं, लालू। यह सारा विभव तुम्हारा है। इसके स्वामी तुम हो, हम नहीं। जो चाहो इसका कर सकते हो!’

‘बहुत कुछ रह गया है, महाराज! और उसका स्वामी मैं नहीं। मेरे स्वामित्व में मेरा कुछ रह नहीं सकता। नन्दावर्त और वैशाली पर अभी भी आपके संगीन पहरे हैं। स्वामित्व मेरा होता तो अब तक...’

‘बोलो, क्या चाहते हो, अम्युच्यमान?’

‘मेरा वश चले, तो मैं नन्दावर्त और वैशाली को भी दान कर देना चाहता हूँ... इस वर्षीदान का समापन केवल यही हो सकता है।’

प्रियकारिणी क्षिण्डा के शशन-कक्ष की रत्न-विभाग में हजारों औरें कुल कर, स्तब्ध ताकती रह गई।

'किस दान कर कर देना चाहते हो ?'

'लोक को ! जो समस्त लोक का है, वह उसी के पास रहौं जाये। ताक मृद्यम् लोक का है, वस्तु मृद्यम् वस्तु की है। यहीं कुछ भी किसी का नहीं। मेरा भी नहीं, आपका भी नहीं, अन्य किसी का नहीं। सब अपना-अपना है।'

'वैशाली को तो तुमने यत्पानाश के कामारे पर छाड़ा कर ही दिया है। वह अब यिफ तुम्हारे वालिनी द्वका के इत्तरारे है ॥। अब वैशाली नहीं बिलं कहाँ रहेगा ?'

पहाड़नी-माँ मासने के रहनासन पर शिलीभृत, अपलक मुझे मृद्या पी जाना चाहती थी, कि चुप हो जाऊँ।

'थारि वह प्रतीति आप सब पा गये हैं, तो शुभ ममाचार है, बापू ! और वह अन्तिम धरका देने के लिए, मुझे नन्दावर्ण और वैशाली छोड़ जाना होगा !'

'नारी या मारी ! इस समय समार केवल तुम्हारी है। हम कोई नहीं रहे। जो चाहो कर यकने शुरू ।'

'मत्ता मैं किसी की नहीं स्वीकारता। अपनी सी औरों पर नहीं। वह कण-कण और जन-जन की अपनी स्वतंत्र है। वैशाली अब तक केवल नाम का गणतन्त्र है। दरअसल तो वह कुलतंत्र है। अष्ट-कुलकों का राजतंत्र है। मैं उसे एक विशुद्ध और पुणे गणतंत्र के रूप में देखना चाहता हूँ। उस दिन संथागार में एक जनगण ने सीधी और साफ़ माँग की थी, कि बद्धमान वैशाली के लिए खतरनाक है, और उसे वैशाली में नहीं रहने दिया जा सकता। उसकी माँग पूरी करके, मैं वैशाली में शुद्ध गणतन्त्र का शिलारोपण कर जाना चाहता हूँ !'

'पर तुमने उत्तर में यह भी तो चुनौती दी थी कि वैशाली के बाहर छाड़ा हो कर, बद्धमान उसके लिए और भी खतरनाक हो सकता है ?'

'बेशक ही माकता है, ताकि शिश्व की नमाम शक्ति-लोलूप राजसेत्ताओं के लिए वैशाली के द्वार निष्पत्ति और मुक्त हो जाये। ताकि बत्तमान की सारी पुंजीभृत शस्त्र-मत्ता एक साथ उस पर आक्रमण करने आये, और माँ यैशाली की गोद में आकर वह अनापास निष्पत्ति और शरणागत हो जाये ॥ ॥ ॥'

'कहने में यह बहुत सुन्दर लगता है, बेटा, पर करता का क्या इतना आसान ही सकता है ?'

'बापु, देखते तो हैं, कि बद्धमान ने व्यवसन से जो चाहा, चुपचाप करता ही रहा है, कहा तो उसने कभी नहीं। आप सबने कहा कि बोलो, तो मैं पहली बार बोला भी वह, जो मैं किया चाहता हूँ, और जो अनिवार्य है।'

'चक्रवित्ति के चिह्न ललाट और पगतिलियों पर लेकर जल्मे हो, वेदा, तो अपने स्वप्न का वह चक्रवित्ति, लोक के बीच खड़े हो कर, लोक में स्थापित करो। निजें कान्तारों में निर्वासित हो कर वह कैसे रम्भव होगा ?'

'मेरा चक्रवित्ति आपके मानचित्रों के लोक तक सीमित नहीं रह सकता, महाराज ! चक्रवर्ती मैं लोक-लोकान्तर, दिग-दिगन्तर, काल-कालान्तर का ही हो सकता हूँ। और दिवकाल का चक्रवर्ती दिगम्बर ही हो सकता है। और वह मैं हो आना चाहता हूँ।'

'भानु ! ! !'

एक चिहुक के साथ, दोनों हाथों से मुँह ढाप कर मौं पीठिका पर छुलक रही। उनकी छाती में इबती सिसकियों को मैं सुन सका।

... इस चोरी के गाज्य का एक सत्ता भी जब तक मेरे तन पर है, अचौर्य का साम्राज्य स्थापित नहीं हो सकता। यह महल, यह वैशाली, ये सारे राज्य, बर्तमान का यह सारा लोक, चोरी के प्रवंच पर ही टिका हुआ है। चोरी की साठ-गाठ से प्रतिफलित है यह सारा ऐश्वर्य। मेरे तन पर यह चोरी का माहारं उत्तरीय पड़ा हुआ है। चोर निरावरण सत्य का सामना कैसे कर सकता है ! नग्न होकर ही, नग्न सत्य के आभने-सामने खड़ा हुआ जा सकता है !

'तुम्हारे अकेले के नाम हो जाने से क्या होगा, वेदा ?'

'आखार नग्न जब खड़ा हो जाऊँगा लोक में, तो उस दर्पण के सामने सबके छल-छद्दा और अशान के कपड़े आपोआप उत्तर जायेंगे, लात ! उसके बाद जो कपड़े बच रहेंगे, वे चोरी के नहीं, असली और अपने होंगे। वे मानो आवश्यकतानुमार अपने ही भीतर से बुन कर, उपर आ रहेंगे। जैसे पराम पर फैलुड़ियाँ : बादाम की गिरी पर उसका रक्षक छिलका ... !'

'यह तो भाव की बात हूँ, तो निश्चय ही भाव की शुद्धता ऐसी रहे। म्यूल पदार्थ का राज्य और आपार तो अधिकार और आदान-प्रदान पर ही सदा रो जलता आया है।'

'सदा से जो चलता आया है, वही सत्य और हृष्ट हो, तो जगत में इसने दुःख को सृष्टि किस लिए? मात्र ही वस्तु का असली स्वभाव है। और वस्तु के स्वभाव को हम जानें, उसमें जिये, तो फिर जगत में विभाव और अभाव का चास हो ही च्यों? वस्तु का रवभाव-राज्य स्वांत्र आत्मदान से चलता है, अधिकार और सीदे के आशन-प्रदान में नहीं। वस्तु के मूल सत्य और उसके व्यवहार को एक ही जाना होगा। तभी जोकि में जीवी के निर्वैर प्रेम का अहिंसक और सन्दर्भ राज्य स्थापित हो सकता है।'

'अमण भगवन्नों ने तिष्वय और व्यवहार का भेद तो किया ही है।'

'वह शुतज्ञानियों द्वारा उपर्दिष्ट रहनियत और सुविधा का मिश्या-दृष्टि विद्यान है। . . . यह जो व्यवहार सम्बन्ध-दर्शन कही जाता है न, यह सत्य के नामने और सीधे लेकर जिने रो जो भयभीत हैं, उनका पलायनवादी विद्यान है। व्यवहार गम्भीर-दर्शन, अगते भीतर छुए भौह को गर्भी से सत्य की महलाकर शुभाये रखने वाला एक छोटा व्यापार है। . . . वह पार्वंड का एक सुन्दर और पारदर हथियार है।'

'अमण भगवन्नों ने तो व्यवहार को निष्वय की सीढ़ी कहा है, वर्दमान !'

'सत्य नीहियै चड़ वर प्रकट नहीं होता, बापू। वह तो अन्तमूहर्ते मात्र में होने वाला साक्षात्कार है। वह एक आकस्मिक और अछृष्ट विस्फोट है। ये सीढ़ियाँ, सुविधाजीवी स्वास्थ्यियों का, अपने असत्य और अनाचार को धर्म की बाड़ में छुआ कर अनर्गत चनाने का पड्यांत्री आविष्कार है। तथाकथित व्यवहार-सम्बन्धदर्शन की पक्की सड़क से चल कर, प्रवाही सत्य तक कैसे पहुँचा जा सकता है ?'

'वर्दमान, क्या तुम नहीं मानते कि मनुष्य को यहीं जो कुछ प्राप्त है, यह जो सुखी-दुखी, धनी-निर्धन, ऊँच-नीच के भेद दिखाई पड़ते हैं, ये सब मानवों के पूर्वोपाजित पुण्य-पाप के फल हैं? अरिहंतों ने इस कर्म-विद्यान को ही लोक की परिचालना का परम नियम कहा है।'

'अरिहंतों ने, जो हीता है, जो मर्यादा है, केषम उसका कष्टन किया है। मैं कई बार काह चुका, कर्म-वन्धु एक नकारात्मक भृक्ति है, वह विद्यायक विद्यान नहीं। वह केवल तथ्य की अराजकता है, सत्य की व्यवस्था नहीं। सत्य की व्यवस्था, समवादी और सम्बादी ही हो सकती है। तथ्य के वैषम्य को अपने

आत्म-संकल्प से छिन्न-भिन्न करके, हमें सत्य की समस्ता-मूलक व्यवस्था स्थापित करनी है। जिनेश्वरों ने कर्म को काटने की कहा है, पूजने को नहीं। पुण्य और पाप दोनों ही मूलतः कथाव हैं। वे दोनों ही बन्धक हैं, मुक्तिदायक नहीं। नकारात्मक कर्मशब्द से यदि लोक में वैषम्य, वर्ग और भेद की सृष्टि हुई है, तो वह घन्यं कह कर पाये जाने योग्य नहीं, मिटाने योग्य है। पुण्योदय यदि किसी के हुआ है, तो वह अकेले भोगते के लिए नहीं, सबमें बांट देने के लिए है। उस तरह पुण्य बन्धक कथाव न रह कर, मुक्तिदायक स्वभाव हो जाता है। जो यहीं पुण्य की अपनी न्यायोचित उत्तरार्जन समझ कर, उसे अपने ठेके की वस्तु बनाने हैं, और उसे शीरचार्वक अकेले भोग कर, अपने अहं और स्वार्थ को पोषते हैं, वे अपने और अन्यों के लिए, पाण वा नया और चक्रवृद्धि नरक ही रखते हैं। यहीं अधिकांश में पुण्य की रैमें पाप में प्रतिष्ठित होते ही देखा है। तथाकथित पुण्यवानों को लोक के सबसे बड़े भागी होते देखा है। पुण्य आधिक तो कथाय की ही राखान है, इसे पाला और पूजा कैसे जा सकता है, उसे तो भंहारा ही जा सकता है। व्यवहार-सम्बन्धीन का भुखीठा पहन कर, पुण्य यहीं शोषण का एक अमोअद, मुन्दर और वैध हृथियार बना है। वह पूजा-प्रतिष्ठा के सिहासन पर बैठ गया है। '...सदियों से धर्म की आड़ में चल रहे पुण्य के इस षड्यंत्र का मैं भंडाफोड़ कर देना चाहता हूँ। पुण्य के इस हिरण्यमय बट का चिस्फोट करके मैं उसमें छूपे कथाय के हिरण्य-कश्यपु का सदा के लिए बब्र कर देना चाहता हूँ। ताकि सत्य प्रवर्ट हो, और लोक में सर्व का समत्व-मूलक अभ्युदय हो।'

'यह तो कुछ अपूर्व सुन रहा है, आयुष्मान्।'

'सत्य मदा अपूर्व ही होता है, बापू। सत्ता अनेकान्तिक और अनन्त है; सो वह अपने हर नये प्रकटीकरण में अपूर्व ही हो सकती है। अब तक नें हर तीर्थकर, पिछले से अपूर्व हुआ, तो अपला भी अपूर्व होगा ही।'

'अरिहन्तों का तो यहीं दर्शन सुनता आया हूँ, आयुष्मान्, कि तत्त्वतः यहों कोई व्यक्तित अन्य व्यक्तिका, कोई पदार्थ अन्य पदार्थ का उपकारक नहीं हो सकता। अनन्त वस्तु और अनन्त व्यक्ति हैं यहीं, और सबका अपना स्वतन्त्र परिणामन है। सब अपने स्वभाव में रमाण और त्रियमाण हैं, परं भेद कोई किया या परोपकार तत्त्वतः ही सम्भव नहीं। रूप-पर के भेद-विज्ञान को क्या तुम मिथ्या मानते हो? जिसे जिनेश्वरों ने त्रिकाल असम्भव कहा, उसे सम्भव कहना और बनाने की बात करना, क्या मिथ्या-दर्शन ही नहीं होगा?'

'क्रिकाल-ज्ञानी तीर्थकार, 'क्रिकाल असम्भव' जैसी पक्की और अन्तिम माया बोल ही कैसे सकता है? अनन्त ज्ञानी कभी अन्तिम शब्द नहीं कहता। सत्ता जब स्वभाव से ही अनेकान्तिक और अनन्त है, तो उसके विषय में अन्तिम शब्द कैसे कहा जा सकता है। कथन मात्र सामेज़ ही हो सकता है, निरपेक्ष और अन्तिम होकर तो वह सत्याभास ही ही जाता है। महासत्ता बहुत है, अवान्तर नहीं है। अद्वितीय द्वितीय दोनों अपनी जगह सत्य हैं। उनकी पारस्परिक लीला का रहस्य इतना गहन, अमेघ और अकथ्य है, कि कथन डारा उसका अन्तिम निर्णय मात्र मिथ्या-दर्शन ही हो सकता है।'

'तब तो तीर्थकरों का सामना मायाबद्ध तत्त्वज्ञान तुम्हारे लेखे मिथ्यादर्शन है?'

'कोई भी दोटूक भाषा में बहु तत्त्वज्ञान, एक हृद के बाद मिथ्या-दर्शन हो ही जाता है। अरिहत्तों ने सप्तभांगी नय से ही पदार्थ के कथन को सत्य-विहित माना है। और अन्ततः उन्होंने सातवें भांग में पदार्थ को अनिर्बन्ध कह ही दिया। यानी के तत्त्व अनन्ततः कथनातीत है। वस्तु अन्ततः बचनातीत है। उसे कथन से परे केवल अनुभव विद्या जा सकता है, जिया जा सकता है। मैं सत्य को केवल जीना चाहता हूँ। उसकी अनेकान्तिक और बहुआयामी प्रभा को आपने व्यक्तित्व और अधिरण में प्रकाशित किया चाहता हूँ। तब उसका जो यथार्थ स्वरूप है, वह अपो-आप प्रकट हो ही जायेगा। मैं कथन डारा उसके निर्णय के झामेले में क्यों पढ़ूँ! कथन को लेकर जो चले, वे सब बादी हुए और सब वादियों में प्रतिवादियों की एक पूरी झुंझला खड़ी कर दी। उससे सम्बन्ध-दर्शन नहीं, मिथ्या-दर्शन ही प्रतिफलित हुआ। उससे कल्पाण नहीं, अकल्पाण का ही बिल्फोट हुआ। धर्म और सत्य के नाम पर, उससे अधर्म और असत्य भेदों और सम्प्रदायों की सूचिट हुई। तीर्थकार बादी नहीं, सूचिट और मुक्ति के मौन सम्बादी और सूष्टा होते हैं। इसी से उनकी बाणी निरक्षणी और अनाहत दिव्य-घ्वनि होती है; वह शाविदक विधान और उपदेश नहीं होता। वे कुछ कहते नहीं, बताते नहीं, अपनी कैवल्य-स्थोत्रि के विभक्तों से, सूचिट में कैवल्य प्रतिफलित होते चले जाते हैं। वे मूर्तिसान सत्य और कल्पाण होते हैं। उनकी कैवल्य-कान्ति एक अनहृदनाद डारा, सूचिट में चुरचाप व्यापती और व्यक्त होती चली जाती है।'

'अद्भुत और अपूर्व प्रतीतिकारक है, तुम्हारी बाणी, बैटा। प्रकट में वह अहंतों के परम्परागत धर्म-दर्शन की किरोधिनी नग सकती है। पर यथार्थ में वह

उसकी विरोधिनी नहीं, सम्भासिती और समावेशिनी है। जो शासन और बाह्यमण्डल सूत्रबद्ध होकर जड़ हो गया है, उसे तुम अपने उद्द्वेष्यन से मुक्त और जीवन्त किये दे रहे हो। बोलते हो तो जैसे आपोआप परदे उठते चले जाते हैं, और प्रवाही सत्ता भीतरी चेतना में बहती चली आती है, उत्तरोत्तर अपने अनन्त रूप में प्रकाशित होती चली जाती है।'

'...और मैंने देखा कि माँ निश्चल, स्तम्भित, मुग्ध, एकटक मृजे निहार रही है। और उनके अशु-धौत मुखमण्डल पर एक अपूर्व सीन्दर्य और शान्ति की आभा झानमला उठी है।

'एक बात पूर्ण बेटा, तुम जो नयी व्यवस्था स्थापित करना चाहते हो, उस कौन लाये, कौन उसका विधान करे? तुम तो आरण्यक हो कर, अपनी आत्मा के एकान्त में निर्वासित हो जाना चाहते हो।'

'मेरी व्यवस्था धर्म की है, वह वस्तु-धर्म पर आधारित है। वस्तु-धर्म में तो अपनी जगह नित्य विद्यमान है। तो लोक में उसकी व्यवस्था को बाहर से स्थापित नहीं किया जा सकता। यह जो ज्ञाता-द्रष्टा मनुष्य है न, वह अपने आत्म-धर्म को जाने, उसमें स्थित हो, आसपास के व्यक्तियों और वस्तुओं के साथ स्वाभाविक और सत्य सम्बन्ध में जिये, तो वह व्यवस्था आपोआप मानव-द्रष्टाई में से प्रकट होकर, सर्वत्र प्रसारित होती चली जायेगी। बाहर के कृतिम शासन-विधान, नियम-कानून, सेना और कोटुगालिका के बल पर जो भी व्यवस्थाएँ रची जाती हैं, उनमें व्यक्तियों के न्यस्त स्वार्थ और काषाय अनजाहे ही बद्धमूल होते हैं, सो वैसी व्यवस्थाएँ अपने आप में विकृति और विभाव के बीज छुपाये रहती हैं। फलतः कालान्तर में वे विकृत और अधर्मी होकर नष्ट हो जाती हैं। प्रश्न यह संगत है कि कौन वह मौलिक धर्म की व्यवस्था लाये? ...वही जो स्वयम् धर्म-स्वरूप हो जाये, जो धर्म का स्रोत हो जाये। तब वैसी व्यवस्था, वैसे एक व्यक्ति की चेतना में से नदी की तरह प्रवाहित हो कर, समस्त लोक-जीवन में व्याप जाती है। उसमें प्रिदृकर, शिच कर, उसके स्वाभाविक धर्म को लोक के कर्म, सम्बन्ध और व्यापारों में प्रफुल्लित कर देती है।'

'तो कहना चाहते हो कि, तुम अपनी एकान्त आरण्यक साधनों में जीन हो रहोगे, और यहाँ धर्म अपने आप फलीभूत हो जायेगा?'

'एकान्त शब्द से किसी भ्रान्ति में न पड़ें, बाषू। एकान्त में जाना चाहता हूँ, अपने अनैकान्तिक स्वरूप में स्थित होकर, उससे प्रकाशित हो उठने के लिए। एकान्ती हो रहता चाहता हूँ, एकमेव हो जाने के लिए, ताकि स्वतः सर्वमेव हो

जाऊँ। ... फिर, तीर्थकर की साधना के बल अपनी निजी, आत्मिक मुक्ति पर तो समाप्त नहीं होती, वह सर्व की मुक्ति का मार्ग बन कर लोक में प्रकाशित होती है। हर तीर्थकर सदा एक बार तो अपनी आत्म-प्राप्ति के लिए अवश्य, अरण्य की तपोभूमि में निर्वासित हो गया, पर सिद्धि पाने पर उसकी सर्व-व्याप्ति के लिए जोकि वे लौट आया। वोकि ऐ उसका उपकरण रखा गया, जहाँ सर्व की समत्व, समाधान और शरण प्राप्त हुई। और परम भीतरागी होते हुए भी, अंतिम सौस तक उसके श्रीमुख से सकल चराचर का सम्पूर्ण कल्याण करने वाली विष्व-ब्वनि प्रवाहित होती रही। इसी को मैं ज्ञानासोकित व्यष्टि में से, समष्टि में धर्म के प्रवाहन, प्रसार और प्रस्थापना की मौलिक प्रक्रिया मानता हूँ।'

'तो तुम अपने वैयक्तिक निवाण में छो नहीं जाओगे, सर्व के परिवार के लिए लौट कर लोक में आओगे.....?'

'वह नियति और अस्मिता तो मैं लेकर जन्मा हूँ, तात् ! मैं कौन होता हूँ, जो अपने निर्णय से, उससे बच सकूँ। महासत्ता ने मेरी आन्तरिक संरचना में ही, इस अनिवार्य सम्भावना को नियोजित कर दिया है। मेरे व्यक्तित्व को पहले स्वयम् साधना की तपामि से, सम्पूर्ण शुद्ध और सर्व का आरपार दर्पण हो जाना पड़ेगा। सत्ता और अनैकान्तिकता, मेरे व्यक्तित्व में जाज्वल्यमान और मूर्तिमान होगी। जब मैं भीतर-बाहर सम्पूर्ण निरावरण हो जाऊँगा, तो सत्य स्वयमेव ही यहाँ अनावरण हो उठेगा। तब आपोआप ही, नित-नव्य सत्य का सूर्य लोक में संचरण करने लगेगा। भगवान मानव होकर पृथ्वी पर चलेगे; मानव भगवान होकर अन्तरिक्षों में विहार करेगा; भगवता मानवता का वरण करेगी, और मानवता भगवता को यहाँ साकार करके उसे धन्य और कृतार्थ करेगी। ... तब कण-कण में एक ऐसी क्रान्ति और अतिक्रान्ति चुपचाप प्रज्ञवलित हो उठेगी, जो समकालीन संसार में, एक तत्कालीन अभीष्ट परिवर्तन घटित करेगी; पर समस्त विश्व में स्वाभाविक वस्तु-धर्म के व्यक्तित्वरण, और निखिल के आमूल रूपान्तर को घटित होने में, सहजान्वित लग सकती हैं। आने वाले युगों में जो भी क्रान्तिकारी योगी, तीर्थकर, अवतार आयेंगे, वे प्रकट में अद्वैत और परस्पर-युरुक के बजाय भले ही विरोधी दीर्घों, पर मूलतः और वस्तुतः वे इसी एकमेव वैदिक अतिक्रान्ति और रूपान्तर के संवाहक और सहयोगी होंगे। एक ही महाविकाय की वे विविहमुखी प्रक्रियाएँ होंगी। ... एक ही शुंखला की कढ़ियाँ ... !'

'साधू-साधु बेटा, बहुत मौलिक और नयी बात कही तुमने। परम्परागत अमणों और शास्त्रों से तो ऐसा समूल समाधान नहीं मिलता। कोई अहंत् और प्रगत शास्त्रा ही ऐसी बात कह सकता है।'

'छोड़िये उस अहंत् शास्त्रा को अपने रास्ते पर। मैं तो केवल आपका, बैशाली का, और इथाकुओं का एक योग्य बेटा भर होना चाहता हूँ। बोलो बापु, अपने दरबंधे से और क्या चाहते हो . . . ?'

'... सुन कर एकाएक माँ खिल कर तरल हो आई। बोली : 'बच्चा इन्हीं का नहीं, मेरा भी हो है। और मैं चाहती हूँ कि वह एवं चल कर हमारे साथ भोजन करे। बहुत अचेर हो गई, लालू ! मेरा पर्याप्त तेरी प्रतीक्षा में है।'

'भोजन तो, माँ, तुम्हारे आशीर्वाद से, मेरे भीतर सदा होता ही रहता है। तुम्हारे पयोधर से एक बार पिया पर्याप्त क्षया चुक सकता है? वह तो मेरे अणु-अणु को निरन्तर जाप्तावित किये हैं। आज और कोई नया पर्याप्त पिलावीणी क्षया? तो प्रस्तुत है, तुम्हारा बेटा !'

सुन कर माँ का सारा चेहरा तरल और कातर हो आया। '... बरसों बाद आज दोपहर माँ और पिता के साथ भोजन किया। बहुत मौलिक और शाश्वत लगा आज के इस प्रसाद का स्वाद। माँ के आनन्द का पार नहीं है। उदास तो ये किञ्चित् भी नहीं लगती। बल्कि आज जैसा चलफुलित उन्हें शायद ही पहले कभी देखा हो। . . .'



पूर्ण सम्बादिता की खोज में

माँ और पिता मुझे समझ रहे हैं। यह कम बात नहीं। बात करता हूँ, तो उनकी जेतना में एक गहरा भ्रमाचाल व्याप जाता है। पर उनके मन-श्वास औह से कातर और विद्धि ल है। आसन्न विछोह की कल्पना से वे भीतर ही भीतर धर्म उठ रहे हैं। वे अच्छी तरह जान रहे हैं, कि अब मैं यहाँ रुक नहीं सकता। किसी भी संभवता है। उनकी ओर से एक ही चित्र अटके दे रहा है। ' ' एक दिन अचानक ऐसा होगा कि मैं नन्द्यावती की सीदियाँ उत्तर जाऊँगा। सदा के लिए इस राजद्वार को पार कर जाऊँगा। फिर कभी इस जीवन में लौट कर, इस महूल में नहीं आऊँगा। ' ' सूना हो जायेगा सदा को यह मेरा कक्ष ! मेरी अनुपस्थिति का सूनायन, इस महूल के एक-एक छण्ड, उद्यान, आड-गाँछ, सरोबर, पत्ती-पत्ती, कण-कण में व्याप जायेगा। अपने पीछे के इस विछोह के क्षत्र और उदासी का रुद्धाल मुझे भी कभी-नभी आता है। पर मेरी अविद्येही, अछण्ड जेतना में बह रहा नहीं पाता : धारा में बह कर जाने कहाँ खो जाता है। लेकिन परिजनों की विरह-व्यथा को पूरी तीक्ष्णता से अनुभव करता है, और उनके साथ तङ्ग हो कर, कभी-नभी हिल उठता है। अपनी तो कोई व्यथा मुझे नहीं व्यापती, पर स्वजनों की व्यथा से बच नहीं पाता हूँ।

' ' तिस पर समाचार आया है कि बैशाली में गृह-युद्ध कूट पड़ने को सम्भावना है। देवी आन्नपाली में अपने सात-भूमिका प्रासाद के द्वार बन्द कर लिये हैं। सारी नगरी अवसर, उद्देशित और सफाटापन्न है। मूल से गण-परिषद् को कोई काशा नहीं : क्योंकि मेरा मार्ग अपनाने का साहस उनमें नहीं। फिर, पार्बदों में भी परस्पर तीक्ष्ण भत्तभेद की खाई खुल पड़ी है। एक ओर मेरे अभिनविक्षण के सदमे से माँ और पिता कागि हुए हैं। दूसरी ओर उनके अस्तित्व के आधारों पर ही सत्यानुषय का काम भैरव मैंदरा रहा है। घर के बेटे ने ही घर को तोड़-फोड़ दिया :

और अब वह उन्हें छोड़कर चला भी जाना चाहता है। विचित्र है उनकी रिश्ति। इस बनहोने बेटे पर गवं करें, या उसके सामने खड़े हो बुक्का फाड़ कर रोयें, और उससे अपने लुट्ठे अस्तित्व के बाण वीर भग्नि : क्या करें वे ? उनके असमंजस का अन्त नहीं। पर मेरे मन में तो कोई असमंजस नहीं। . . . क्योंकि मैं कोई नहीं, मेरा कोई विद्यान नहीं। अन्तिम विद्यान भग्सता का है, जिसने भहाबीर को इस रूप में यही घटित विषया है। जाने बाला में कौन होता है ? मैं निरा व्यक्ति नहीं : उस परम सत्य से चालित एक निर्बन्ध शक्ति मात्र है। परिचालना उसी की है, मेरी नहीं। . . .

आज अपराह्न अचानक माँ और पिता मेरे कक्ष में आये। विनयाचार के बाद हम यथास्थान बैठे। शब्द बहुत देर तक सम्भव न हो सका। तनाव के शिकोण में, एक विस्फोटक संभाटा घुटता रहा। . . .

'बहुमान, प्रलय की इस घड़ी में तुम्हीं पहल करो। जाओ वैशाली और इसके सिहतोरण में खड़े हो कर, अपने सत्य के बम-गोले का विस्फोट कर दो। इस घुटन में अब एक पल भी हम जी नहीं सकते। जाने से पहले तुम्हीं अपने अगाये ज्वालागिरि का दो टूक फैसला कर जाओ। मा तो हमें मार जाओ, या तार जाओ। हमें फौसी के फंदे में दम घोटते छोड़ कर, सुम जा नहीं सकते।'

'शान्त हों तात, जाना-जाना तो देश-काल की एक माया मात्र है। मैं तो सदा जबके माय हूँ, तो आपके साथ भी हूँ ही। स्पष्ट कहें, क्या चाहते हैं आप मुझ से ?'

'वैशाली के सिहपौर पर खड़े हो कर धोषणा कर दो, कि तुम वैशाली के राजपुत बहुमान, वैशाली को लोक के प्रति दान करते हो। तुम्हारी चाह पूरी हो। किर उसका फल भोगने को हम भर्ही हैं ही। तब तुम निर्देष जा सकते हो।'

वृद्ध पिता की घुमड़ती आवाज में गहरा रोष था, अभियोग था, और आर्तनाद था। सहसा मैं कुछ बोल न सका : एक टक सम्यक् दण्ड से मैं उन्हें आरपार देखता रह गया।

'वापू, मेरा जो भी कर्तव्य होगा, वह मुझ से पूरा होगा ही। आप निश्चिन्त रहें। वैशाली मुझ से बाहर कहीं नहीं। वह मुझ में, और मैं उसमें ओत-प्रोत हैं। उसका विनाश या उत्थान, दोनों मेरी सासीं पर होगा। मुझ से बाहर कोई वैशाली है, तो उसे दान करने का दम्भ फैसे कर सकता है ! हर बस्तु अपना दान स्वयम् ही कर सकती है, दूसरे का उस पर वैसा कोई अधिकार नहीं। उस दिन सथागार

के द्वार पर पैरे अवल-मुख्यांगों के भल की नुस्खा करके जो जननाम का अभिवेक कर दिया, और फिर उसके संच से जो मैं बोला, उसके बाद मैंने देखा कि बैशाली ने स्वयम् ही अपना आत्मदान जगत के प्रति कर दिया। अब जो कही हो रहा है, वह उस दान की लोक-व्याप्ति की एक अनिवार्य प्रक्रिया है। इस आत्मदान में से बैशाली का और आपका कल्याण ही प्रतिफलित होगा, इसमें मुझे रंज भी सम्भेद नहीं है। इस प्रक्रिया को आप केवल स्वैयंपूर्वक देखें : और विश्वास रखें कि इस विष्वव-चक्र की बल्गा वर्द्धमान के हाथ में है। वह यहाँ रहे, या विजन काल्पार में रहे, इस चक्र की धुरी पर वह बैठा है, यह अस्त्या अपने मन में अदृष्ट रखें। क्या आपको अपने बेटे की सचाई पर विश्वास नहीं ?

‘अविश्वास तुम पर कहे बेटा, तो अपनी आत्मा को ही खो देनगा। जब तुम बोलते हो, तो आवश्यकता की समाधि-सी अनुभव होती है। पर तुम्हारी चेतना के शिखर पर, सदा तुम्हारे साथ खड़े रह सकने की सामर्थ्य तो हमारी नहीं। सुन्, क्या हमारे परिक्षण का वह उपाय, जो तुम्हारे मन में चल रहा है ?’

‘परिक्षण केवल मेरा या आपका नहीं, सर्व का एक साथ ही हो सकता है। उसकी मार्ग-रेखा इस सामने के सूर्यों की तरह मेरे हृदय में स्पष्ट है। मुझे अपना ही निःशेष आत्मदान कर देना होगा। अपना सम्पूर्ण आत्मोत्सर्ग करेगा वर्द्धमान ! इसके लिए उसे कायोत्सर्ग में चले जाना होगा। देख तो रहे हैं आप, लोक में आरों और अनर्गल-इच्छा-वासनाओं के हृवन-कुण्ड घघक रहे हैं। स्वार्थी सर्वर्णी ब्राह्मण-शशिय-वैश्य एक जुट होकर, अपनी लालसाभों और स्वार्थों की पूर्ति के लिए, साथों पशुओं और निर्बल मानवों की, अपने पांखड़ी यजा-कुण्डों में आहुतियाँ दे रहे हैं। फिर भी देखता हूँ, उनकी इच्छाओं का अन्त नहीं। उनकी वासनाएं तृप्त नहीं हो पा रहीं। उनकी निःशेष वासनाओं की चरम तृप्ति के लिए, वर्द्धमान स्वयम् सर्वकामपूर्ण यज्ञ करेगा। वह स्वयम् ही होगा उसका एक मात्र अग्निहोत्री। उसका स्वयम् का जीवन बनेगा उसका हृवन-कुण्ड, और स्वयम् वर्द्धमान उसका होता हो कर, उसमें अपनी निःशेष आत्माहृति देगा। इन साथों निर्बल, f ~ गणयों और अज्ञानी मानवों का हत्याकांड और शोषण जब तक लोक में = तब तक किसी का भी त्राण सम्भव नहीं। अपनी आत्माहृति प्रारा, मैं दकाल से सन्तप्त, परस्पर एक-दूसरे की हत्या में रत जीव मात्र को उद्बुद्ध बना ! उसी परम यज्ञ का यात्रिक बना कर महासत्ता ने मुझे यहाँ भेजा है। और मैं भी मेरी अपनी निःशेष आत्माहृति चाहता है। ऐसी कि तपामि मैं तपन्तप कर, गल-गल कर, भस्मसात् हो कर, इस सूचिट के कण-कण के साथ आत्मसात् हो जाऊँ। केवल

मैं रह जाऊँ या वह रह जाये । ऐसी बहुत प्रीति का प्रकोश जब तक लोक में प्रवाहित न हो, मेरा, आपका, दीशाली का या जगत का, किसी का भी ज्ञान सम्बन्ध नहीं, दायू । जब तक एक भी जीव लोक में सत्त्वत है, तब तक उन्हीं की असंख्य जीव-गाथ, उसके संताप और संकाश से अस्तुती नहीं रह सकती । ही मने तो पारस्परिक संताप, मन्त्रास, हल्दा और शोषण की इस दुष्ट शृंखला की, मैं सदा के लिए तोड़ देने आया है । हिसा के इस आदिम दानव को सदा के लिए समाप्त करके ही, बद्धेमान चैन ले सकेगा । जब तक मार की इस शृंखला में मैं रवयं मुक्त न हो जाऊँ, तब तक इसका मारनहार, और जगत का तारनहार अरिहंत मैं नहीं हो सकता । वह ही जाने पर, मैं भीक्ष लाभ करके भी उस भीक्ष से भीने उत्तर आऊँगा । जीवन के दीनोंदीन जीवनमुक्त रह कर अनन्त काल में असत्य, अशान और हिसा के इस असुर के विरुद्ध लड़ता चला जाऊँगा । दत्तिहास में महात्माद्विदों के आरपार यह महान अनुष्ठान चलता रहेगा । महाकीर और अहिसा यहाँ पर्याप्तवाची हो कर, लोक-हृदय में संकरण करेंगे । हिसा विदि गत्य नहीं, भवभाव नहीं जोध की और पदार्थ का, सो कोई कारण नहीं, कि समय सृष्टि में अहिसा भी पूर्ण मम्बादी कल्पाणी जीवन-रचना सम्बन्ध न हो । जो सृष्टि और पदार्थ का सौलिक सत्य है, स्वभाव है, अह उसकी बाह्य रचना में भी सम्पूर्ण प्रकट हो जाए सकता है । इसी अनिवाय सम्भावना और आपका का हूसरा नाम भहारीर है । । । ।

पिता ने जैसे मेरे भ्रीतर सला का एक और आरूप आयाम खुलते देखा । विस्मित और प्रश्नापित वे भूजे ताकते रहे ।

'अब तक के तीर्थकरों ने जो नहीं कहा, जो करने में वे असफल रहे, वह तुम करने को कहने ही, बेटा ? तब तो वे सारे पूर्वगामी तीर्थकर मिला हो जायेंगे ?'

'अब तक के तीर्थकरों ने अपने अनन्त केवल्य में से जो अनन्त देखा, कहा, उसे सान्त श्रुतज्ञानी पूरा ग्रहण ही नहीं कर सकते थे । तब वे उसे कह कैसे सकते थे । अरिहन्तों ने तो अशेष देखा जाना था, जो कथनार्तीत था । वह केवल ज्ञेय था, ज्ञोद्य था, कथ्य नहीं । उनसे मुझ तक, ज्ञान की एक अनाहत धारा चली आ रही है । उसमें जो मेरे भ्रीतर प्रवाहित और प्रकट हो रहा है, वही तो मैं कह रहा हूँ । इस अखण्ड प्रवाह में, मैं उन्हीं का एक अगला प्रकटीकरण हूँ । वे वे कि मैं हूँ, उनसे अभिन्न, उन्हीं का एक और विस्तरण । मैं उन्हीं की एक प्रतिपत्ति हूँ, फल-शुभि हूँ, प्रतिफलना हूँ । । । ।'

। । । और विगत तीर्थकरों ने जो अहिसा की वाणी उच्चरित की, उसका प्रतिफलन प्रकट के लोक में चाहे आज नृपत्राय दीखे, पर तत्पतः वह ताणी व्यर्थ

और विफल नहीं हुई है। वह विकास के बीज दन कर विश्व-वेतना में अन्तर्भूति हो गई है। उसी का एक उत्कर्ष महाबीर है। उनकी वाणी यही सिद्ध और कुतार्ह हुई है, कि महाबीर का क्वतरण सम्भव हो सका है।

'तब यह जो 'जीवो जीवस्य जीवन' ही प्रकृति का नियम-विधान सुनता है, यह क्या है?'

'सूठ है यह, सरासर गलत है यह विधान। शून्यांश पर हिसा नहीं, अहिसा ही है। वह है कि सृष्टि सम्भव हो सकी है, जारी रह सकी है। सृष्टि का ओष्ठ फल मनुष्य पहले हिसक और शोषक हुआ, तो उसी के अनुसरण में प्रकृति के भीतर कीट और पशु-जगत में, सबल प्राण निर्बलों के हिसक और शोषक अपने आप होते चले गये। यह जो सिंह, हरिण और ख़रगोश जैसे निर्दोष प्राणियों के आहार पर जीता है, उसका दायित्व प्रथमतः आदिम मनुष्य पर है।'

'जरा सार्वत्रीयी, मानुष्यांग !'

'कहना चाहता हूँ, कि यह 'जीवो जीवस्य जीवन' का विधान, अजानी, स्वार्थी, इन्द्रिय-लोलूप मानवों का, अपनी स्वार्थतुष्टि के पक्ष में किया गया एक झूठा आत्म-समर्थन है। अपनी हथेली की रेखाओं की तरह मैं यह स्पष्ट देख रहा हूँ कि प्रकृति के तिर्यक पशु-राज्य में जो एक जीव दूसरे के भक्षण पर ही जीवा दिखाई देता है, इस शोषक परम्परा का सूत्रपात भी प्रथमतः मनुष्य ने ही किया है। मनुष्य को यह जो मन और बुद्धि मिली है न, उसका इसके उसने अपने जीवन-आरण के लिए अन्य जीवों को अपना भक्षण और वनाने को, एक सर्क-संगत विधान का ही आविष्कार कर दिया। पहले म अपने से निर्बल मनुष्यों और पशुओं का भक्षण-शोषण करने लगा, तो निम्न व-जगत भी उसका अनुसरण अनायास करने लग गया। हिसा का जो दुश्वफ मनुष्य ने चालित किया, वही सारी प्रकृति के सूक्ष्मतम जीवों तक अनिवार्यतः व्याप्त ही गया। सीधी-सी तो बात है, एक सर्वोपरि बलवान अपने से निर्बल का भक्षण कर जायेगा, तो वह निर्बल अपनी बारी से अपने से निर्बल का भक्षण आप ही करने लग जायेगा।'

'तो तुम कहना चाहते हो कि प्रकृति में मूलतः हिसा कहीं है ही नहीं ?'

'निश्चय ही नहीं है, तात। कहा न, शून्यांश पर हिसा नहीं, अहिसा है, नहीं तो सृष्टि सम्भव और संक्रमित न होती। सत्ता अपने स्वभाव में ही धार्मिक है, सर्व की धारक और निर्वाहक है। जीवों के पारस्परिक उपग्रह और प्रेम-मिलन पर ही जीवन टिका हुआ है : पारस्परिक विश्व ही और भक्षण पर नहीं। सत्ता के मूल

में ही अहिंसा है। वह अस्तित्व की शर्त है। अस्तित्व का विनाश कदाचि काल सम्भव नहीं। तो विकास के दौरान लोक के सम्पूर्ण अभ्युदय के लिए, सम्पूर्ण अहिंसा का उदय अवश्यंभावी है। विशुद्ध सत्ता, स्वभाव से ही अहिंसक है, इसी से तो जब अरिहन्त स्वयम् मना-स्वरूप हो जाते हैं, तो वे मूर्तिमान अहिंसा बन कर लोक में विचरते हैं। तब समस्त जड़-जंगम प्राणी उनके भीतर अभय और शरण पाते हैं। सिंह और माय उनके चरणों में एक साथ पानी पीते हैं। उनके सम्मील्य में सिंह-शावक गाय का थन पीने लगता है। और गोब्रत्स को सिंहनी अपने स्तन प्रवाने लगती है। स्वयम्-सिद्ध है कि प्रकृति में, स्वभाव में, हिंसा का कोई तात्प्रिक, विषायक अस्तित्व नहीं। हिना और अस्तित्व परस्पर विरोधी तत्व हैं। जीव के ज्ञान से जब उसकी परिणति विभावात्मक और विवृत होती है, तो उसी के पल-स्वरूप प्रकृति में विवृति का आविभाव होता है। विवृति समा में, स्वभाव में, अस्ति में, आत्मा में कहीं ही नहीं : वह हमारे आत्म-रवरूप से रखलन की निष्पत्ति है। वह हमारी स्वाभाविक स्थिति नहीं, वैभाविक परिणति है। . . .

'सच पूछिये, वापु, तो सत्ता में मूलगत रूप से ही, सम्बादिता, सम्भव, प्रेम, करुणा, संसुलन विराजमान हैं। अपने स्वरूप का विस्मृत वर, जब हम इच्छायासनाकुल होते हैं, तो अपने विकृत आचरणों से हम यृष्टि के, सत्ता के इस मौलिक सन्तुलन को भंग करते हैं। जिनेश्वरों ने लोक में प्रेसे क्षेत्रों का अस्तित्व बताया है, वहीं सर्वदा जीव मात्र एक सम्बादिता में जीते हैं। आपने तो ज्ञात्यों में गहा ही होया कि इसी जन्मबूद्धीप में जो विदेह-क्षेत्र है, वह हमारे इस भरत-क्षेत्र से आत्म-विकास के उच्चतर धरातल पर प्रतिष्ठित है। कहते हैं कि वहाँ ईति-भीति नहीं, जीवों में एश्वरिक शोषण-भक्षण नहीं, स्वराष्ट्र-परराष्ट्र के खेद और विग्रह नहीं, दुर्भिक्ष और महामरी नहीं। वहाँ तीर्थकर, अरिहन्त और जलाका-युद्ध शाश्वत विद्यमान हैं। तब स्वयम्-सिद्ध है, कि सत्ता में पूर्ण सम्बादिता की यह सम्भावना मूलतः अन्तनिहित है। कहीं वह व्यक्त हो गई है, कहीं वह अव्यक्त रह गई है। यदि विदेह क्षेत्र में यह सम्भव हो सका है, तो अन्यथ भी वह सम्भव हो ही सकता है। अर्थात् पूर्ण अहिंसक, पूर्ण सम्बादी जीवन-जगत्, अपने स्वभाव में ही एक अनिवार्य सम्भावना है। विकास के उस चरमोत्कर्ष पर फूटेंचने में ज्ञायद हजारों-लाखों वर्ष लग जायें, पर वह इस धरती पर रिष्ट हो कर रहेगा, इसमें मुझे रंज भी सन्देह नहीं। सामने के इस सूर्य की वेण प्रभाणित करना होगा ? मानव-इकाई अपनी जीतना को इस क्षण स्वभाव में आत्मस्थ करे, अपने को रूपान्तरित करे, और विकास का यह सम्बादी चक्र इसी क्षण चलायमान हो कर, विवृति के क्रम को

खसट कर, प्रकृति को उसकी मौलिक सम्मतिता में स्थापित करता चला जाएगा । तीर्थकर का धर्मचक्र-प्रवर्तन और किसे कहते हैं, तात ?'

'... तो महाबीर के धर्म-चक्र-प्रवर्तन की हम प्रतीक्षा में हैं । वही हमारी एकमात्र आशा है । तो अब चलूँगा । तत्काल वैशाली जा रहा हूँ । तुम्हारा मह आशा का सन्देश परिषद् तक पहुँचाऊँगा ।'

मैं हार तक उन्हें पहुँचाने गया । कितने सुबोध, भोले, निरीह, निष्ठल हैं मेरे बापू ! धीर निष्ठल पग लौटते अपने उन पिता की पीठ देख, एक अजीब आश्वस्ति अनुभव हुई । . . .

मैं सिद्धालय से फिर लौटूँगा

‘‘‘और तब सौंठकर देखा कि स्फटिक के भद्रासन पर भी और्ज्ञ भूमि अध-
लेटी-सी हैं।

‘माँ, उठी न, ऐसे क्यों लेट मर्द गई? क्यों उदास हो गई?’

उठ कर कुछ दैठती-सी माँ की आँखों की कोरों पर पानी की लकीरें उजल आईं। विस्फारित नयन वे मझे देखती रह भईं।

'माँ, बोलो। ... बोलोगी नहीं मस्त से।'

'बोलने की अब बचा ही क्या है ? . . .'

'फिर भी, जी मैं जो हो, मझ से कहो ... !'

‘‘‘‘‘‘तुम नहीं जा सकते, मान, तुम कहीं नहीं जा सकते। मेरी आँख से तुम थोक्सल हो जाओ, यह होने नहीं दैगी।’

‘तो मत हीने दो । पर पूछता हैं, तुम मेरे लिए और मैं तुम्हारे लिए, क्या आख पर ही समाप्त हैं? आँखों से परे, जो हम एक-दूसरे को सदा सुलभ है, वह नहीं देखती ?’

'तुम्हारा यह शान सुनते-सुनते मैं थक गई, लालू। मुझे नहीं चाहिये तुम्हारा शान : मुझे मेरा मान चाहिये। और उसे तुम मुझ से छीन लो, यह नहीं होने दूँगी। नहीं, तुम नहीं जा सकते . . . तुम मुझे छोड़ कर कहीं नहीं जा सकते। . . .'

माँ का स्वर रुआँसा हो आया ।

'सोचो तो माँ, कहीं जा सकता हूँ मैं ? इसी लोक में तो हम-तुम हैं, सदा थे, सदा रहेंगे माय ! लोक से परे तो सिद्धात्मा भी नहीं जा सकते । और यह लोक तो तुम्हारे और मेरे ज्ञान में अखण्ड समाया है । खण्ड को ही देखोगी, अखण्ड को नहीं देखोगी, माँ ?'

‘मैं तुम्हारे इस खण्ड और अखण्ड की वक्तव्यता से तग आ गई। खण्ड और अखण्ड, लोक-लोकान्तर माँ के लिए केवल तुम हो। तुम, जिसे मैंने अपने पिण्ड में घारण कर, पिण्ड दिया, कि तुम सामने खड़े हो और यह सब जान बधार रहे हो।’

‘पर हम पिण्ड में ही बहुपाश हैं, बाहर तो कहीं नहीं। तब जाना-आना तो एक प्रयोगनक्त उपचार मात्र है। आखिर, जाकर भी कहीं जाऊँगा। जा रहा है, तो हसी लिए न, कि जाने-अनेकी की उपर्युक्त ही भद्रा को मिट जाये। तुम्हारा और मेरा स्विकृत अट्रट ही जाये। किथोग सदा को समाप्त हो जाये, और योग में हम सदा को आवागमन से परे संयुक्त हो जायें।’

‘वह सब मेरी समझ के बाहर है। जो होना हो, करना हो, यहाँ करो, मेरी जांचों तले। . . . देखूँ, कैसे जानि हो! मैं द्वार रोक कर खड़ी हो जाऊँगी, हम कश का। क्या मुझे धकेल कर जाओगे? तुम्हें एक जाना पढ़ेगा; मेरी छाती को सामने नेटी देखोगे, तो उसे रोद जाओ, यह तुम्हारी हिम्मत नहीं होगी।’

‘जब तक, मैं हम हथ खण्ड और हैनू में हैं, तब तक रुकना और रोकना क्या हमारे-तुम्हारे बग का है। मान लो कि इसी अण मेरा या तुम्हारा देहपात हो जाये, तो क्या हम एक-दूसरे को रोक कर, बाँध कर रख सकेंगे? क्या नहीं चाहोगी कि काल और कमे-चक की इस अधीनता से मुक्त हो कर, रोकने-रुकने की लाचारी से परे, मैं रादा तुम्हें सुनभ हो रहूँ? . . .’

‘माँ के हृदय की विवरणता को माँ हो कर ही समझा जा सकता है, मान। चाहे तुम अरिहन्त हो जाओ, मर्बंज हो जाओ, माँ के प्राण की इस विकलता को तुम कभी नहीं समझोगे। किस पुरुष ने कभी नारी की इस अनितम विवरणता को समझा है? हमारे गर्भ से पिण्ड धारण कर, तुम पुरुष सदा ही हमारे गर्भ को धोखा दे गये, ठुकरा गये। तुम्हारी इस स्वार्थी मुवित को भी का प्रबंचित हृदय न कभी समझा है, न समझना चाहिए।’

‘मुकिल अपनी ही नहीं, सभी की तो चाहता हूँ, माँ। मेरी ही नहीं, सब की माँ हो तुम, यर्व चराचर की माँ। यदि उन सब के काल्प की पुकार से पीड़ित हो कर, उन सबके अण के लिए जाना अनिवार्य हो गया है, तो क्या मेरी जगदम्बा माँ उसे नहीं समझेगी? . . .’

‘मान, समझ मेरी समाप्त हो गई। तुझ से आगे अब वह नहीं जा पा रही, तो मैं क्या करूँ?’

'सब को छोड़ो, पर क्या मेरे ही हृदय की व्यथा और विवशता को अनदेखा करोगी? रात-नदिन जो बेदना मेरे पोर-पोर को जला कर भस्म किये दे रही है, उमेर तुम्हीं न समझोगी, तो और कौन समझेगा?'

'तुझे भी बेदना हो सकती है, पहले मैं कभी कल्पना भी न कर सकी। फिर अपने मन की बात तो तू मूँह से कभी कहता नहीं। बोल देटा, मन खोल कर कह, सब सुनूँगी।'

'...एक आधी रात अचानक एक चीख़ सुनाई पड़ी थी। मानो भूगर्भ से आई हो। मानो तुम्हारे ही गर्भ से आई हो। और तब मुंह-बिधियारे ही मेरा घोड़ा मुँह यहीं से निकाल ले गया था वहाँ, जहाँ से वह चीख़ आई थी। अपने घोड़े पर से ही मैंने यज्ञ-देवी पर यूप से वैधा एक घोड़ा देखा: एक बूप्त देखा। उनकी शूक भयात्त औंखों से आँसू वह रहे थे। और वे शशगति हुए मामने धधकते हृवन-कुण्ड की सर्वभक्ति लपटों को लाफ़ रहे थे। ...जिनमें उन्हें अभी-अभी भोक़ दिया जायेगा। ...और मैंने असंख्य पशुओं तथा मानवों की भयाकुल, अवश्य, आँसूधरी औंखों को अपनी ओर गिहारने देखा। ...मेरी अस्थियाँ सड़क उठीं। इस एक शरीर को सीमा अमल्ह हो गई। वे सारे शरीर, वे सारे प्राण मैं हो गया। और तब जो युजीभूत संत्रास मैंने अनुभव किया, उराकी कल्पना कर सकती हो, माँ?'

'तेरी जनेता हूँ, तो तेरे साथ ही वह सब अनुभव करना चाहती है।'

'...छहशाव तो अच्युत से ही मैं रहीं अनुभव न कर सका। जी मैं एक उचाट लेकर ही मेरा जन्म हुआ है। ऐसी उच्छिन्नता, कि अपरिचित द्वारा विना यज्ञ भी जैन नहीं। ...पर उस दिन उन प्राणियों की औंखों के बीच मजल किनारे, मुझे लोक के अन्तिम समुद्रों के पार स्थीत ले गये। ...तब से इस शरीर में, इस मुझे लोक के अन्तिम समुद्रों के पार स्थीत हो गया है। अपनी ये सौंसे तक अपनी नहीं लग रही हैं। जैसे अपने से ही विद्युत गया है। यह असीम अवकाश और काल मुझे अवलम्ब नहीं दे पा रहा। अन्तिम न्यवम् जैसे लिय-भिज्ज होकर मुँह में शरण खोज रहा है। सीनों सौ, कंसा नगता होगा मझे ...!'

'सोचना क्या है, वह तो मामने देख रही हैं ...!'

'ये दूरियाँ, दिग्नन्त, शिलिङ, ये सारे विष्वार मुझे बरबस छीचे ले रहे हैं। घड़ा नहीं रहा जाता। या तो इन्हें अपनी बाँहों में समेट लूँ, या इनमें सिमट जाऊँ। ...बालपन से ही इन दूरियों को देखकर मेरा जी बहुत उदास हो जाता

था। देखा है, कई सौंझों में हिमवान की अगोचर चूड़ाएँ मेरी आँखों में झलकी हैं, और मेरे प्राण आकल्द कर उठे हैं। पार-पाराल्टरों की विह़ल पुकार मुनाई पही है। जैसे सब कुछ को जाने बिना, सब कुछ में पहुँचे बिना, मैं रह नहीं सकता, जी नहीं सकता। हर दूरी के छोर पर, मानो मेरा कोई है। . . . दिग्न्त के बातायन पर वह कौन प्रिया, जाने कब भै मेरी प्रतीक्षा मै है। एक अज्ञात और अवृज्ञ विरह-बेदना मेरी आत्मा में सदा ठीमती रही है। . . .

'मेरी भटकनें और उचाट स्था मुझ से छिपे हैं ! बस, चुप रह कर सब सहती रही। पुकारे आई ने जी की व्यापा, पर तू या तो चुप रहा, या टाल गया। इसी में तो कई बार चाहा, लालु, कि अपने मन को मुन्दरी तू चुन ले, विवाह कर ले, तो तेगा यह भटकाव समाज दूष ले . . . !'

' . . . जानता है, मेरी व्यापा तुम्हें सबैया अनजानी नहीं थी। मुझे विरमाने और बहलाने के अम जलन तुमने नहीं किये। सारे आर्यवंतों की सबैसुन्दरी बालाओं को तुम इस महल में जे आई, कि मैं किसी को अपना खूँ, जून लूँ। पर अपने स्वभाव की विवशता का क्या कर्त्ता, मौ। किसी एक पा कई सुन्दरियों को अपना कर भी मेरा जी विरम नहीं पा रहा था। . . . तब विवाह की मर्यादा में अपने को कैसे दीशता। बाह्य-वार यही लगा है कि त्रिलोक और त्रिकाल की तमाम सुन्दरियों को एकाग्र और समझ पाएं तिना मुझे देन नहीं आ सकता। असीम और अनन्त के उस आलिंगन-काम ने, किन्हीं दो बांहों में मुझे दैधने न दिया। लगता है, जाने कितनी प्रियाएँ, कहाँ-कहाँ, कितने जन्माल्लरों में मुझ से बिछुड़ी रह गई हैं। जाने किन अपरिक्रमा-यित सागरों के कट्टिन्दनों में वे मेरा आवाहन कर रही हैं। जाने कितने अज्ञात द्वीपों और देशों में, जाने कितने दीपालोंविल कालों में भेरी मिलन-शेया बिछी है। सौन्दर्य और ल्यार की ऐसी अन्तहीन पिपासा और पुकार, प्राण में लेकर, तुम्हीं बताओ मौ, मैं कैसे किसी एक बांह, बद्ध, कक्ष या फैणा में बन्दी हो सकता था। जो भी प्रिया, प्रीति या सौन्दर्य सामने आया, उसे अपनाया, समा लिया अपने में: पर उसकी सौमा में समा बार, मैं अटक न सका। उसे अपने में समेट कर, मैं सदा उससे, अपने से तक अतिक्रान्त होता बला गया। यह मेरे स्वभाव की विवशता रही मौ, मैं कर ही क्या सकता था !'

'कुछ ऐसा ही तो मन आलापन में तेरी मौ का भी था, मान। ऐसे ही सबैदनों से मेरी किणोर जैसना सदा कहाँदती रहती थी। इसी से तो तेरी इस बेदना को अपने मन के मन में अनजाने ही अनुभव करती रही हैं। तेरी यह कसाक जैसे मेरे गर्भ

में टीकती रही है। मेरी छाती में उमड़ते दूध ने उसे बूझा और चीन्हा है। . . . देख रही है, मेरे ही कुमारी हृदय की वह पुकार, तुझ में विराट् और अनिकार्य हो उठी है। मैं तो नारी होकर जन्मी थी। सो मेरी काया पृथ्वी से परिमित थी। ताकि पृथ्वी को अपने में धारण कर सकूँ। लोक की अनाथ आरति को अपने रक्त में आन्मसात् कर सकूँ। तुम्हें अपनी देह में, अपने मर्म में धारण कर जन्म दे सकूँ। पर तुझमें तो आकाश को यहीं अवर्णिण होना था; तो उसे झेलने को स्वयम् समूची पृथ्वी हो कर अपने में समाहित रहने को ऐ पित्रण थी। धिरत् भी घोर ते देता जी उन्मन् था, पर समर्पित हो रही उसके प्रति, ताकि मेरे भीतर मेरा हु, भू की माटी में सबीग साकार ही मके! . . .

'तुम आज कह रही हो, माँ, पर तुम्हारे भीतर बैठी उस कुमारी की अलक मुझे बार-बार मिली है। तुम्हारे चित्त की वह व्याकुलता ही तो मेरे भीतर महावासना बन कर संक्रान्त हुई। मुनो माँ, तुम्हारे ही श्राण की उस पुकार का उत्तर तो मैं खोजने जा रहा हूँ। तब क्या रंब भी तुम मुझ से कहीं छूट या टूट सकोगी? . . . मेरी इस खोज की महायात्रा में तुम मुझे यों देखो, जैसे अपने ही को दूर-दूरान्तों में जाते देख रही हो! . . .'

'अपने किये मुझ में कुछ न होया, मान। एकदम ही आत्महारा और शून्य हो गई हूँ। तुम्हीं मेरी और्खों बन कर मुझे यहीं छड़ी, और तुम्हारे भीतर जाती देखो! . . .'

'दर्पण में नहीं, तुम्हारी और्खों में ही मैंने अपना चेहरा देखा है, और अपनी इयस्ता को पहचाना है, माँ! तुम गँड़े अपनी और्खों का तारा कहती हो, तो क्या तुम्हारी पुतलियाँ में केवल मैं ही नहीं हूँ?'

'मोह की तस्तिका को भी तुम कौसी महरी ममता से बेधते हो, बेटा! मानो अपने अगाध प्यार से, मोह को काटने के बजाय, उसे ही मुकित में फलित करते चले जाते हो। . . . फिर भी जाने क्यों एक अंधेरा हमारे बीच घिर-घिर आता है, और मैं तुझ से बिछुड़ जाती हूँ। . . . अकेली पढ़ जाती हूँ!'

'यह वह अन्तिम और गहिरतम् अंधेरा है, जिसमें से सबेरा फूटने वाला है, माँ। तुम्हारी उदास और्खों के तटों में उस ऊषा के लाल ढोरे जाकर हो हैं। कितना मुन्दर और भव्य है तुम्हारी और्खों का यह विषाद! सारे विश्व की अपार कहणा इसमें जैसे घटा बन कर छायी है। . . . और तब यहीं ठहरना एक पल को भी

दुसह हो जाता है। अपनी माँ की मनोव्यवस्था के इस दुस्तर समुद्र को मुझे तैर जाना होगा।

शृण भर चुप रह कर मैंने माँ को आँखों के उस आकूल विश्वास-सामर में अपने की एकत्री यात्रा करते देखा। एक गहन धून्ध में मैं खोता ही चला गया। और उसके भीतर मैं ही जैसे आकूल-सा कर उठा:

‘‘माँ, मुझे, देखो, मारे लोक को अपने भीतर साकार होते देख रहा है। कटि पर दोनों हाथ धर, लोक-पुरुष को पैर पैलाये खड़े देख रहा है। असंख्यात् छोप-समुद्रों से यह आकीर्ण और बलयित है। रवयम् ही वह अपने को जानने को विकल, बेताब, अविराम अपने ही अनेक पेटालों, और प्रदेशों में यात्रा कर रहा है। मैं ही कर भी वह कोई और है, मुझ से उत्तीर्णः वह चला जा रहा है, जैसे चौदू और सूरज के डग भरता हुआ। और इस महराती धून्ध में मैं नितान्त अकेला, अवश्य और स्वंभित खड़ा रह गया हूँ। मेरे पैर जैसे किसी बादली चट्ठान में कीलित हो गये हैं।’‘ और सामने प्रस्तुत हैं ज्वाला की दो पादुकाएँ। उनमें चूनीती है कि उन्हें पहनूँ, और वह जाऊँ। पर मेरे और उसके बीच, मेरे पैरों की धेर कर, काल का भुजंगम बैश्यमार कुण्डल मारे पड़ा है। मैं केवल खड़ा रह सकता हूँ और सामने खुलते दृश्यों को देखने को विवश हूँ। गति के लिए आकूल मेरे पैरों की कसमसाहट असत्य है।’‘ मेरे पांगों की यह अजगरी सौंकिल तोड़ो, माँ। मुझ से खड़ा नहीं रहा जा रहा।’‘

‘मान तुझे एकाएँ क्या हो गवा? आविष्ट की तरह तू यह सब क्या बोल रहा है! मुझे डर लग रहा है।’

‘इरो माँ, पुरो उर जाओ। इस भय से भागो नहीं, इसका सामना करो। यह भय ही तो भूत्यु है: इसकी आकान्ति को समूचों सह लोगी, तो भूत्यु की खन्दक पार हो जायेगी।’‘ हो मके तो देखो, मैं भूत्यु की करान डाहों में हूँ, और उसे भेद जाने को विचल हूँ। अतलान्तों तक चली गई सुरंगें और सीढ़ियाँ खुलते देख रहा हूँ।’‘ और आहिरी पटल है अह लोक का।’‘ लो, यह आदिरी सीढ़ी भी टूट गयी। और उसके तल में खुल पड़ी है, सात राजुओं में किस्तृत एक धून्ध भरी जगती। घड़े में भरे धी की तरह असंख्यात् जीवराशि यहीं अपने ही में आलोड़ित हो रही है। वह निर्गोदिया जीवों का लोक है। केवल एकेन्द्रिय, स्पर्श का एक निःसीम गिर्ष मात्र है वह। ये जीव मेरे अपने एक श्वास में अजारह बार जन्म-मरण कार रहे हैं। और मैं इनकी एक अवृक्ष वेदना मात्र रह गया हूँ। आँखों

से अदृश्य होने पर भी, ये जीव अपने स्पर्श की छटपटाहट से ऐसे तत् के अणु-अणु में भिड़े जा रहे हैं : ये यहाँ से निकल कर, मूँख में शरण पाना चाहते हैं। पर इनके और ऐसे बीच जाने कीसे अवरोध की टकाराहट है। एक अन्धकार की शिला पड़ी हुई है ! . . .

'देखने-देखते, माँ, जीव के स्पर्श की वह ऊप्पा उप्पीर्ण हो गई है। . . . दस लोकाकार गुरुष के चहूँ और अनन्त शून्य का विस्तार पैला है। उसमें कोई अस्तित्व नहीं : निषट नम्न नास्तित्व का अन्तर्हीन प्रसार है। इस शून्य में खोया जा रहा है। नास्ति हुआ जा रहा है। अपनी दृष्टि, अपना स्वरूप हथा से निकला जा रहा है। मैं नहीं रह गया हूँ : केवल अपरिभावेय शून्य का स्वतः स्तम्भित समुद्र रह गया है। इस अपदार्थता में बोध गमात हो गया है। मेरी इस बेदना को समझ सकोगी, माँ ? . . . एक विरह खानीपन में निरन्तर ही जाने की यह पीड़ा कहने में नहीं आती। . . . हूँ कि नहीं हूँ . . . 'कौन बताये मुझे . . . माँ-माँ-माँ . . .'

'लौ, एकाएक किसी अस्पृश्य तट से टकरा गया हूँ। . . . लौटने की अनुभूति ही रही है। अस्ति का यह पहला किनारा है। . . . यह तनु-वातवलय का प्रदेश है। अनेक परस्पर मिलित रंगों का यह एक वायवीय प्रस्तार है। यह अपने ही अन्दर समाता हुआ, जहाँ उसीर्ण हुआ है : वहाँ देख रहा है घन-वातवलय : मूर्गिया रंग का एक दुस्तार वलयन। . . . और अपने ही में लुढ़कता यह कहीं जा गिरता है, और छपाक के माथ खुल पड़ा है घनोदधि-वातवलय : एक पीताम तमिला का साम्राज्य। ऐसा लगता है, घनघोर शीत के प्रदेश से किसी ऊप्पा का प्रान्तर सहसा ही छू गया है। इन तीनों वातवलयों को एक चित्र की तरह साप्ट सामने देख रहा हूँ ; ये सब दण्डाकार लम्बे हैं, घनीभूत हैं, चहूँ और स्थित, चंचलाकृति, परस्पर सकाल, ये आमूल-चूल लोक को आवेदित किये हुए हैं। . . .'

'मेरा कौतूहल बढ़ रहा है, पर तू हाथ से निकला जा रहा है, लालू। देख, ऊपर खड़ी मैं सुझे खीच रही हूँ। मेरे पास जाजा न . . .'

'तुम ठीक छड़ी हो माँ, और तुम्हारे बिचाब में मैं बैठा हूँ। . . . मेरे पैर जैसे अस्ति की अचल चट्टान से बैंधे हैं। तुम निश्चिन्त रहो। मैं आवित होकर भी याचित नहीं, रियत हूँ : पर दृश्य के इस जनावरण से निरत्तार नहीं। . . . अरे कहो गया वह घनोदधि वातवलय ! एक महातमिला से मैं समूचा आवृत हो गया हूँ। . . . ओ, यह महातम-प्रभा नामा सातवें नरक की पुण्यी है। वही यातना अनुभूति को अतिकान्त कर गई है। एक पिंडीकृत अन्धकार-राशि : अनुभूति

से परे होकर यहाँ जीव की मूर्छा का उत्पीड़न और घुटन पराकार्ता पर है । . . . और एक पर एक, कल्पर-अयरी छह और पृथिव्यों के पटल अपने आप में उलट-पुलट रहे हैं । तम-प्रभा, धूम-प्रभा, पंक-प्रभा, बालुका-प्रभा, शर्करा-प्रभा, रत्न-प्रभा । . . . पूरे सात नरकों को एक साथ देख रहा है । उनका भिक्षात्मक बोध नहीं पा सक रहा है । गढ़-मढ़ होती हुई, विकाराल जन्मुओं, पशुओं, नारकियों, भानवों, देवों की एक आत्मोद्धित शक्षि : एक विराट् नसेनी पर आवागमन करती हुई, परस्पर टकराती, घबके खाती, एक-दूसरे को शून्य में फेंकती, उछालती, एक पूरी संसृति । चिशुद्ध पातना के ये चिरन्तन अंधियारे लोक, अपने-अपने छोर पर विविध वर्ण प्रभाओं से जैसे आवेषित हैं । अन्धकार, धूल, धूआ, पंक, बालू, कीले भी अन्ततः जैसे किसी प्रभा की मोद में है । . . . महात्मस् अपने आप में अन्त नहीं : इसकी पराकारा पर एकाश ही छहा है । अण्ठर पीड़क ही कर भी गण नी कोई सत्ता नहीं । वह निरी एक विभावात्मक माया है । . . . पर अपनी ही आत्म-च्युति से रचित इन नरकों को स्पष्ट देख रहा है । अन्धता और बटाटोप अंधियारों के इन प्रसारों में यातनाओं के विविध और असंख्यात् विल हैं, विकर हैं, वामियाँ हैं । और वे सब अपनी गहराड़ीयों में गुणानुगृहित होते चले गये हैं । जीव के आबद्ध कर्मों के अनन्त गाखाजाल : ऐठन की बेशुमार ग्रन्थीभूत सर्प-दाशियाँ । आत्म-पीड़न और पर-पीड़न का अन्तिम, तात्त्विक, नग्न संघर्ष । एक अकल्पनीय तुमुल घमासान । . . . जीव का कपट खुद ही, कीले बन कर, अपने आवगणों और प्रथियों को छेद रहा है । गर्न अपनी ही शूली बन अपनी सीमाओं को भेद रहा है । कोध अपना ही कुठार बन अपनी आत्मनाशी प्रगतता के पदे फाड़ रहा है । अधोगामी याम अपने ही स्पर्श-घर्षण के आघातों से लहूलुहान, अतृप्त, पराजित, ऊर की ओर फेंक दिया गया है । भयावह बग्नि-कुण्डों सी महस्त्रों योनियों में लिंगकार हो कर भिन्नता, अन्धा, संश्वस्त, पछाड़े खाता, मृज्जित हो कर भी, कामात्मा नीचे नहीं आगर की ओर उछाल दिया गया है । बड़ा से बड़ा पाप भी जीवत्मा को एक हृद के आगे, नीचे नहीं गिरा सकता । क्योंकि अन्ततः आत्मा का स्वभाव पतन नहीं, उत्थान है । अधोगमन नहीं, कङ्खेगमन है । . . .

'मान, इस भयावह मूल्यु के बीच भी, तू कौसी उद्वोधक, चरम आशा की बाणी बोल रहा है । . . .'

'लेकिन मौ, लग रहा है, जाने किसने जन्मों में, कितनी बार इन नरकों में मै भटका हूँ । बहुत परिचित और भोगे हुए यथार्थ सी लग रही हैं, यहाँ की तमाम

यातनाएँ। ' ' ' देख रहा हूँ माँ, एक नारकी जीव, दूसरे नारकी जीव के लिए, उबलती कड़ाई बन गया है। जन्मान्तरों में अनेक बार भोगी पिशा के अंग-प्रत्यंग, महसूओं शूलों के आलिंगन-कथाओं से जीव की भोह-भूच्छा को भेद रहे हैं। अपनी ही मध्यों का कपाय-किलष्ट रक्त पहाँ की बैतरणी के रूप में बह आया है। उस पर झुक आये हैं, सेमर वृक्षों के अभेद्य तमसा बन। उनके पते और ढालें भालों और अमिधारों-में वेधक हैं। इस बैतरणी में एक-दूसरे पर लुढ़कने, खदबदाते, सीमते जीव ऊपर छाये असि-फलों से निरन्तर छिद्दते-भिद्दते अपने आप ही अपने कपट-कालायों के अखेट हो रहे हैं। ' ' ' माँ, नहीं ' ' ' नहीं ' ' ' नहीं ठहर सकता अब मैं तुम्हारे अँचिल की सुखद छाँव में ' ' ' इस महल के ऐश्वर्य-कक्षों में। अनादि-अनन्त काल में, अज्ञानवश जो ये असंख्यात जीव ऐसे दामन, दुराह कट्टों में ढूबे हैं, इनकी भूच्छान्ध आत्माओं में से मुझे यात्रा करनी होगी। उनके साथ उद्घोष हो कर, उन सब की समीकृत यातना को एक बारगी ही, अपने भीतर भोगना और सम्बेदित करना होगा। ' ' '

' ' ' यह कौसा विचित्र अनुभव है, मान ! ' ' ' मैं अपने परतलों में ही तेरी पह मारी निर्गोदिधा जीव-राशि इस क्षण जा रही हूँ। ' ' ' मेरे जघनों, जानुओं, जंघाओं में ये सारे नरक के पटल अपने तमाम विवरों के साथ मुलग उठे हैं। अपनी माँ की गोद में लेट जाओ बेटा, और मारे नरकों को एक साथ भोगो, पर मेरे अंगों से जुड़े रहो, फिर जो चाहो करो। ' ' '

' ' ' देख रहा हूँ माँ, नसीनी की भव से ऊपरी सीढ़ी पर आ पहुँचा हूँ। यहाँ पृथ्वी विशीर्ण हो गई है। अधर अन्तरिक्ष में एक गहरे हरे पर्व वीं नद्वीन पर पैर धरे थड़ा है। और ऊपर आकाश में भक्त-न्वासी और व्यंतर देवों के विषुल मुख-भोगों से धरे अनेक रंगी प्रभाओं वाले विमान तैर रहे हैं। पर वडे अभागे हैं ये देव; भट्टकी हुई है इनकी नेतना। अपहुँ मूल्दरी देवांगनाओं और सुख-शीयाओं को छोड़, ये जाने किन अंधेरों में अपनी ही कपायों की प्रेत-छायाओं से संघर्ष कर रहे हैं। पंकिल खन्दकों, शिर्जन वीरानों, खण्डहरों, सूतकारों में ये आत्म-गीड़ित अबूल टक्करें खाते, किस मुख को छोज रहे हैं? काश, मैं इन्हें आगे में ला सकता; इन्हें इनकी देवांगनाओं की मिलन-शीयाओं में लौटा सकता। लौटना होगा इन्हें, अपने बैमव में; उसके बिना मुझे चैन नहीं। ' ' ' नहीं ' ' ' नहीं ' ' ' मैं नहीं ठहर सकता इस उत्तुग महल के बातायनों पर! ' ' '

' ' ' देखो माँ, कूद पड़ा हूँ अपने इस नवम् खण्ड के उत्तरी बातायन से। और आ पड़ा हूँ जाने कहाँ। पर यहाँ मैं ठीक तुम्हारी श्रिवल्ली पर लेटा हूँ। मेरे

सिरहाने हैं तुम्हारा नाभि-कमल । इसमें जगा है एक चिनाट जम्बू-वृक्ष । जिसके शाखा-जाल और पल्लव-वितानों तले सारी मर्त्य-पूर्वी आधय छोज रही है । यह मध्य सोक है : मर्त्य-मानवों की लीला-भूमि । तिमंच पश्च प्राणियों, बनस्पतियों, जाने कितने पर्वत-मानवों, नदियों, अरण्यानियों से आकीर्ण । सोक-मध्य में यह जम्बूदीप है : इसके ठीक केन्द्र के जम्बू-शीथ में सुम्हारे नाभिज इस जम्बू-वृक्ष के शिखर पर बैठा है, अनन्त दूरियों का सिंहावलोकन कर रहा है । असंख्यात दीप-समुद्रों से आवेस्ति यह जम्बूदीप अद्भुत है । यह नवण-समुद्र से स्पर्शित है । वज्र-मधी लट-वेदिका से घिरा है । इसके केन्द्र में महामेरु छड़ा है । एक लाख योजन है इसका विस्तार । । ।

‘‘ और देख रहा है, इस विस्तार में, विचित्र रंगी विभाओं से भास्वर छह कुलाचल पर्वत । प्रकृति के सारे परिवर्तनों और प्रलयों में ये अदल रहे हैं । हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मी और शिखरी । इन छह कुलाचलों के स्वर्णाभ भूंगों पर दृग भरता चारों और निहार रहा है । इन अनादिकालीन पर्वतों ने तमाम जम्बू-दीप को सात क्षेत्रों में विभाजित कर दिया है : भरत, हैमवत्, हरि, विदेह, रम्यक्, हैरण्यवत् और ऐरावत । उत्तरान्त में ऐरावत की अन्तिम केशरी छवजा उठते देख रहा है । दक्षिणान्त में भरत क्षेत्र की वह नीली पताका फहरा रही है । . . . भरत क्षेत्र के ठीक मध्य माग में विजयार्थ पर्वत पूर्व से पश्चिम समृद्र तक फैला है । दोनों महा-समुद्र जैसे उसके फैले हाथों की अंजुलियों में उछल रहे हैं । इस विजयार्थ के रूपाभ प्रसारों में विद्याधरों की हाजारों सुरम्य रत्न-दीपित नगरियाँ फैली पड़ी हैं । इसके सिद्धायतन, दक्षिणार्थक, छण्ड-प्रपात, पूर्णभद्र, विजयार्थ-कुमार, भण्ड-भद्र, तमिश्च-गृहक, उत्तरार्थ, वैश्ववण — इन तौ कूटों को अपनी पगतलियों में कसकते अनुभव कर रहा है । . . . सिद्धायतन कूट पर पूर्व दिशा में सिद्धकूट नामक एक उज्ज्वल जिन मन्दिर चमक रहा है । अन्तरिक्ष में तंत्रसे एक विशाल हीरे की तरह चूतिमान यह मन्दिर अविनाशी है । भण्डभंगुर पुदगल के पर-माणवों तक ने यहाँ शाश्वती में पुजीभूत हो कर, पदार्थ की अन्तिम अनश्वरता का परिचय मूर्तिमान किया है । एक अद्भुत आश्वासन अनुभव कर रहा है, मी ! । । ।

‘‘ तो साक्षी पा गई हैं, मान, कि सचमुच ही मेरी त्रिवली का यह त्रिकोण, यह मेरा नाभि-कमल अविनाशी है । और मेरा द्रष्टा वेदा सदा इस

पर सेटा, अनन्त नव्य-नूतन सूष्टियाँ रचता रहेगा, और उनके साथ खेलता रहेगा । । । ।

‘ । । । । सच ही विचित्र है यह अनुभूति । देख रहा हूँ मौं, मारी चीजों का एक ज्ञान-शारीर भी है । उसके भीतर बिनाशी और अविनाशी का भेद समाप्त हो जाता है । वहाँ मानो सारी सृष्टि अपनी तमाम सम्भावनाओं के साथ शास्त्रत विराजमान है । लग रहा है, जैसे कभी कोई कुछ खो जाने वाला नहीं है । सभी कुछ वहाँ सुरक्षित, सुप्राप्त है । । । और यह क्या देख रहा है, इन छह भवाकुलाखलों के बीच खुल पड़े हैं कई विशाल सरोवर । पद्म, महापद्म, तेगिच्छ, केसरी, महापुण्डरीक, पुण्डरीक : हर सरोवर में से उत्तीर्ण होता, एक नवीनतर पूर्णतर गरोवर । उनकी जल-प्रभावों के रंग और मुग़द्धों की संजायित नहीं किया जा सकता । एक निराम सौन्दर्य-बोध और आनन्द के सिवाय, और कुछ याक्य नहीं इस अन्तर्जीगत में । प्रवाहों और तरंगों को विस नाम और मूर्ति पर अटकाया जा सकता है । अद्भुत है पदार्थ के ये अन्तर्कंक । परमाणु के भीतर पूरे लह्याण्ड की लीला चल रही है । । । और लो देखो, इन सरोवरों से कितनी सारी महानदियाँ निकल पड़ी हैं । गंगा, मिन्धु, रौहितास्या, हरितकान्ता, नारी, नरकान्ता, मुखर्णकूला, रुद्यकूला, रक्ता, रक्तोदा । । । और इस पद्म सरोवर का और-छोर नहीं । एक विशाल छवि की तरह, पूरे योजन का एक कमल इस पर उत्कृत है । और उसकी कणिका के मंडल में सौरभ और मकान्द के जाने कितने प्रदेश हैं, महल है, जिनमें श्री, ल्ली, कीर्ति, लुद्धि, लक्ष्मी देवियाँ निवास करती हैं । और इस सरोवर के चित्र-विचित्र मणियों से देवीप्रभान तोरण बाले वज्र-मुख से मंजा फूट पड़ी है । हिम-गर्वेत के दक्षिण तट पर जिङ्घिका नामा यह कोई प्रणाली है, जो गोमुखी और वृषभाकार दिखाई पड़ रही है । इस प्रणाली में गंगा गोशृंग का आकार धारण करती हुई, श्री देवी के भवन के आगे गिरी है । और इन मारी नदियों के समृद्ध-प्रवेश-तोरणों में दिक्कुमारियों के आवास दिखाई पड़ रहे हैं । दिग्नदों की अगम्य सौन्दर्य-विभा, इनमें देखती हो कर, मृश्य और ग्राह्य हो गई है । कैसा अनिवाच मार्दव और आश्वासन है, उनके स्पर्श में । । । ।

‘ । । । । और तेरा स्पर्श इस क्षण कितना प्रगाढ़ हो गया है, मानु । कैसी प्रतीति है, कि मेरे इस स्पर्श में से छूट कर नू कभी कहीं, जा नहीं सकता ।

'लेकिन' माँ, इसं सीता नदी को तो देखो । नील-पर्वत पर बहती यह केनिला, एकएक अदृश्य होती-सी, विदेह क्षेत्र का भ्रष्टन कर रही है । मेरु-पद्मस की ईशान दिशा में इसी सीता नदी के पूर्व तट पर नील कुलाचल के समीप वह जम्बू-स्थल है, जिसके केन्द्रीय जम्बू-वृक्ष की छाँब में इस समय लेटा है, तुम्हारे नाभि-कमल के सिरहाने । योजनों में फैले हैं इस जम्बू-वृक्ष के मूल, तने, शाखाएँ । नीलमणि-प्रभ है इसका महास्वन्ध : इसकी हीरक शाखाओं और पत्रों के पत्तों में यह कैसा अनोखा लचाब है । और इसकी डालों में सूखते जम्बू फलों के जूमखे तुम्हारे बक्ष पर झुक आये हैं, माँ, और इनका आमूनी-गूलाबी रस, कैसे रम्पस-आसदाद से मुझे विसृध किये दे रहा है । . . . और देखो, वह मेरु-पर्वत की नीरहत्य दिशा में है प्रालमणी-स्थल : उसके शालमसी धूक्ष की दक्षिण शाखा पर अविनाशी जिन-मन्दिरों की एक पूरी श्रेणी भास्वर है । . . देख रहा है, नील-पर्वत के डालों में नीलवान, उसर-कुरु, चन्द्र, ऐरावण, माल्यवान नामा महाहृद । उनके रत्नों से चित्र-विचित्र सट । उनके कमलों पर बने लोगकुमार देवों के फौलोज्ज्वल भवन । . . और कांचन-कूट नामा इस गिरिमाला पर, बधर में आसीन वे जिन-प्रतिमाएँ । उनकी वैद्युत विधा में अलकते प्रकृति के नव्यन्नूतन परिणाम ; मेरु-पर्वत के पठि-कमोत्तर में गन्ध-मादन महापर्वत पर, भोगकरा, भोग-मालिनी, वत्समिला, अचलाक्षती देवियों को नीलमी घासों में श्रीड़ करते देख रहा है । . . नीलाचल को पार कर गन्ध-मादिनी, केन-मालिनी, ऊभि-मालिनी नदियों के प्रवाहों पर पग-धारण करते, एकएक दिखाई वस गई हैं विदेह क्षेत्र की वे अविनाशी नगरियाँ । ग्रह-नक्षत्रों की नाना रंगी ज्योतिषों से दीप्त हैं उनके भवन, काल, अन्तरायण । वहाँ नित्य उद्योतभान कैवल्य-सूर्य तीर्थंकरों के समवशरणों में भेरी अस्मिता विलृप्त प्राय है । . . इन विदेह क्षेत्रों में अहंता और अशब्दता ही, भोग्य पदार्थ बनकर, जैसे पलभल भनुष्यों की सारी भोगाकाशाओं को विपल मात्र में तृप्त कर देती है । भूमा यहाँ भूमि में फलद्रूप हो उठी है । कैवल्य-सुख यहाँ भोजन के स्वाद तक में उत्तर आया है । . . .'

'रुको मान, यही रुक जाओ । मेरे पास आओ, मेरे पास आओ, तुम्हारी इन्द्रियों और देह में झरते इस अतीन्द्रिय सुख में मुझे ढूब आने दो . . . !'

'लेकिन माँ, अवस्थान अभी सम्भव नहीं हो रहा । प्रस्थान और अभियान की बिजलियाँ मेरे पैरों में खेल रही हैं । अम्बूद्धीय की अन्तिम तट-

बेदी में खड़ा देख रहा है, लबणोदधि के निःसीम जल-प्रसार। उससे परे वातकी-खण्ड द्वीप, फिर कालोदधि समुद्र की छोरान्त रत्न-वेलाएँ, फिर पुष्करांच और पुष्करवर द्वीपों की जगतियाँ...। आकाश ही जिसमें आकृत हो उठा है, वह मानुषीतर पर्वत, जिसके आगे मनुष्यों की गति नहीं।... फिर वह पृथ्वी का अन्तिम और अन्तहीन स्वयम्भुरमण-समुद्र, उसके प्रकाण्ड मगर-भृष्टों के पेटालों में विचित्र रत्न-सरंगित ज्योतियों के महल।... यह है भृष्य लाक का छोर, मत्यों की उस पृथ्वी का अन्तिम किनारा, जहाँ भृष्य मानव-पुरुषीतम जरा-मृत्यु, ह्लास-विनाश के साथ निरन्तर जूझते हुए अमरत्व-सिद्धि के नित-निव्य सौयान अनावरण कर रहे हैं। स्वर्ण और भौग-भूमियों के अवाल्पनीय घौतिक सुख, मृत्युजयी संघर्ष की इस शाष्वत साधना-भूमि पर निश्चावर होते हैं। अमर लोकों का देवत्व जहाँ मानवत्व का बरण करने को तरसता है। मनुष्य की अमुर देह में उत्तर कर ईश्वरत्व जहाँ अपने परम पुरुषत्व को कसोटी पर चढ़ाता है...। अरे माँ, अप्रसेय विस्तारों में कैले ये असंख्यात द्वीप-समुद्र, कुलाचल, सुमेह-शिखर, स्वयम्भु-रमण समुद्र के बे अन्तिम जल-बातायन, मेरे अणु-अणु को खीच रहे हैं। उद्देलित किये दे रहे हैं।... तुम्हाँ कहाँ माँ, कैसे... कैसे रुक्, इस विन्दुमर नन्दावर्त के खण्डों, कक्षों, वरण्डों, वातायनों में – जो मेरी अखियों पर पदों डाले रहते हैं।...'

'अरे माम, यहीं बैठा सारे लोकान्तरों में ना घमण कर रहा है तू! फिर कहीं जाने का प्रश्न ही कहाँ उठता है?'

'ग्रमण से जी नहीं भरता, वह भटकन है, माँ। अब तो सदेह सर्वत्र हन में रमण करने को मेरे प्राण पल-पल व्याकुल है।... सुमेह-पर्वत के अनेक परिकेशगत बनों, अरण्यों, तटान्तों, कटिबन्धों में देव-देवांगनाओं की कीड़ा करते देख रहा है। पृथिवी के इस उपान्त से आगे देवों की सदेह गति नहीं।... और नो, सोलहों स्वर्णों के पटल छुलते जा रहे हैं। कल्पवृक्षों की सर्वकामपूरन आलोक-छाया में सारे मनोकाम्य कलों का उपभोग करते देव-देवांगना, इन्द्र-इन्द्राणियाँ। प्रत्येक अगले स्वर्ण में विपुलतर, ऊर्ध्वंतर होते उनके रत्नाविल विसानों, सरोबरों, कीड़ा-पर्वतों, उद्धानों के अकल्प्य सुख-वैश्वव। धर्ण-धर्ण अभिनव सौन्दर्य और भौग की लहरों के इस चंचल लोक में आपा खो जाता है। भौग की प्रगाढ़तर होती महावासना में यहीं सब कुछ अवश्युचित, लुप्तप्राय, तन्द्रालीनता में इन्द्र-स्ननुषी लीला की तरह चल रहा

है।... दिव्यांग जाति के कल्प-वृक्षों के अधोतिमंय वन सर्वत्र रिखाई पड़ते हैं। जिनके तले कामना करते ही, मनचाहे दिव्य भोजन, दिव्य वर्मन तथा अन्य सारी ही दिव्य भोग-भाष्यमिर्या इन देवों को प्राप्त हो जाती हैं। छहों ऋतुओं के बातावरण, प्रभाव, फल-फूल यहीं के आकाश-बातास और कानन-उद्धानों में सदा सुप्राप्त हैं। रक्त-मांस, अस्ति-मज्जा से रहित इन देव-देवांगनाओं के शरीर विशुद्ध पुद्गाल द्रव्य की तरह प्रवाही है। नितान्त लंबीले और मनोभावी हैं। इनके दिव्य देह-बन्ध में तन-मन मानो एकाकार हो गये हैं। इनके शरीरों के बीच वाणि, रस, गन्ध और स्पर्श भी बाधक नहीं, पारस्परिक संयोग में साधक होते हैं। मनचाली विक्रिया करने में ये सक्षम होते हैं। एक शरीर में से टीका उसी के अनुरूप सहजों छोटे-बड़े मनचाहे शरीर में बना लेने में समर्थ हैं। दिव्य कथ की उपपाद शैया में स्वयंभु प्रक्रिया से सहसा ही ये अंगड़ाई भर कर उठ जाते हैं; और इस प्रकार अपने पूर्णकाम रूप में ही ये जन्म लेते हैं। तब विसी भी देव की एकान्त काम्या देवांगना, अन्यत्र जन्म लेकर, तत्काल उसके सम्मुख आ जाती होती है। जन्म से देहपात तक इनके शरीर अक्षय सौन्दर्य-यौवन से मंदिर रहते हैं।...'

'जरे मेंग मान भी तो ऐसा ही है, वह किस देव या इन्द्र से कम है... ?'

'... सामर्द्दी पर्यन्त ऐसे विपुल वैभव-भोग में जीकर भी, ये देव बेचारे अतुल ही रह जाते हैं। और काल के भीतर बुद्ध-बुद्ध की तरह विसीन ही जाते हैं। ऐसी अनुष्ठि और फूल से मुझे मीमिल करोगी मी? क्या और विनाश की इस परम्परा में जुड़े रहने को अब मैं तैयार नहीं।... करम को परा-कोटि पर भोग कर भी, क्या ये पूर्णकाम हो सके हैं? काम जितने रूपों में तृप्ति चाह सकता है, वे सारे आयाम इन्हें सुलभ हैं। एक प्रभुख देवांगना या इन्द्राणी, फिर कई-कई देवियाँ, इनकी भोग-शैया में बिलसती रहती हैं। इन देवांगनाओं के प्रसारादों से भी ऊंचे इनकी बलभावों के अवन होते हैं, जो इनकी विद्युत भाव-वेतना को एक विलक्षण तृप्ति देती है। और फिर होती हैं सहजों गणिकाएँ, जो इन देवों के उदाभास में देह-काम और मनोकाम को निर्बन्ध, उच्छृङ्खल आलोड़नों और विसर्जनों से लृप्त करती हैं।... इन देव-निकायों में, उच्च से उच्चतर स्थानों के देव-देवांगनाओं का काम-मुख और ऐन्त्रिक सुख सूखतर और गहिरतर होता जाता है। अर्ने मैथुन को ये प्रवीचार

कहते हैं। इस प्रवीचार के सूधमलर और निविद्यातर होते स्तरों को देख कर स्तन्धि हैं। काम स्वयम् ही अपनी सदनता में तीव्रतर होता हुआ, ऊर्ध्वतर अनुभूतियों में रुशान्तरित होता जाता है। सौधर्य और ईशान स्वर्ण के देव-देवियों मानवों की तरह ही स्थूल काषु-मैथुन से लृप्ति पाते हैं। उससे ऊपर के सानकुमार और माहेन्द्र स्वर्ण के देव, देवाग्नियों के स्पर्श मात्र से परम प्रीति को प्राप्त होते हैं। उससे ऊपर कहु, अहोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ स्वर्णों के देव अपनी देवियों के शृंगार, बाकृति, अंग-अंग और भाव-भगिनी, विलास-वातुरी, मनोज वेष तथा शोहक रूप के देखने मात्र से आलहाद-मन्म हो जाते हैं। और यह कथा देख रहा है, सामने जीया में लेटा वह देव नैपथ्य में कहीं दूर अपनी प्रिया की नूपुर-अंकार सुन कर ही गहन रमण-सुख की घूँछों में लीन हो गया है। ही, यह शुक, महाशुक, शतार और सहजार स्वर्ण के देवों का कीड़ा-लोक है। यहाँ के देव, देवाग्नि के संगीत, बोमल हास्य, ललिल कथा और भूषणों के मूढ़ रूप को सुन कर ही एक अब्द्युत विवर्ण-सुरक्षित-समाधि में लीन ही जाते हैं। इससे भी ऊपर जा कर आनन्द, प्राणत, आरण और अब्द्युत कल्प के देव अपनी अंगना का मन में संकल्प करने मात्र से, उसके साथ संयुक्त का सुख पा जाते हैं। प्रिया के स्मरण मात्र से, यहीं स्मर-देवता आस्थलीनता की कोटि का मैथुन-सुख पा जाते हैं। रति का सुख यहीं स्वाधि के अनन्त सुख-राज्य का स्पर्श करता है। इससे ऊपर के भनुसार स्वर्णी, सर्वीर्ण-सिद्धियों और नव-प्रेदेयकों में बहिर्मुख काम की देवता ही लिरोहित हो जाती है। प्रतिकार की आधश्यकता से परे उनका प्रवीचार यहीं अन्तर्मुख और स्वाक्षर हो जाता है। उनकी साहजिक आत्म-स्थिति में, सुरक्ष-सुख-स्वयमेव ही उनके भीतर निरन्तर प्रवाहित रहता है। कामिक देवता की इह सारी स्थितियों और भूमिकाओं में इस कथ, संयुक्त कथ से बफ्ले को रमण-कनुभव कर रहा है, मी। पर इनके भी सारे प्रस्तरों में संसरित होता हुआ, मैं इनके अस्तित्व छोर पर आ खड़ा हुआ हूँ। और सामने देख रहा हूँ—मूळ की अवश्यान्त अभेद्य, अंधियारी खन्दक। यह जब तक है, परमतम काम-सुख का, अन्त भी वियोग और विच्छेद में होना ही है। चरम तमन के इस राज्य की भेदे विना, मेरी चेतना को विराम नहीं, मी।

‘हकी, हकी मात्र, तुम इस रमण वहे दुर्दिल और अबंकर दिल्लौदै पह रहे हो। हर पार्यव आधार से उचितम, इस खन्दक में कूद पहने को उत्तर लग रहे हो।’ मान, इस किनारे को लहना, देहना, ऐरी सामग्र्य से बाहर है। औट आओ बेटा। औट अमले। तुम्हारी माँ की छाती दूटी जा रही है।

‘‘हाय, मेरी बहिं छोटी पड़ गई !’’ ‘‘मेरी हड्डी-हड्डी तड़क रही है’’ और मैं चूर-चूर हुई जा रही हूँ। तुम्हें पकड़ पाने में असमर्य !’’ शीतर-दोहर की दृष्टि मात्र इस भव और असमर्यता में मंद गई है। ‘‘कहाँ है मान तू, मेरे लाल ?’’ हाय, तुमें यह कैसा वज्जाधात दे कर खोल दी मेरी आँखें। ‘‘यह क्या देख रही हैं ?’’ एक ही छलांग में पार गया तू यह खुन्दक। ‘‘और उस पार एक नीली रोशनी के तट पर अकेना खड़ा है तू। हमारे बीच अपरिमेय अलंघ्य फैली है यह खाई। मान, इससे खड़ा दियंगा तू मुझे क्या दे सकता था। पुत्र हो कर ऐसा हत्यारा, निर्दग्ध ही गया तू ? जीत जी, खुली आँखों, चलती साँसों के दील तू मुझे मौत के इस अंधिकारे निर्जन तट पर अकेली छोड़ गया ?’’ हाय, अब कहाँ जाऊँ ? क्या कहूँ ? मान ? मान ? मान ? कहाँ अदृश्य हो गया तू ?’’

‘‘अं ऊपर, उधर, मेरी ओर देखो माँ, यहाँ खड़ा तो हूँ मैं। देखो न, सर्वार्थ-सिद्धि के इन्द्रक-विज्ञान का ध्वजा-शिष्ठ नीचे रह गया। उससे भी बारह योजन ऊपर आ कर, देखो, यह ईपल-प्रारम्भार नाम की आठवीं पृथ्वी है। नरकों की सात पृथ्वियों से ऊपर, सर्वार्थ गिर्हि तक के सारे लोक पृथ्वी तट से उत्सेधित होकर अन्तरिक्ष में ही ऊपर-पृथ्वियों पर अवस्थित हैं। पर तीन लोक के स्तराक पर, यह जो गिर्हानय है, यह फिर विशुद्ध पृथ्वी से आलिंगित है। मूलभूत ठोक पार्थिकता ही यहाँ परम दिव्यता में परिणत हो गई है। मृक्त मिदात्मा यही पृथ्वी के साथ अन्तिम और अपेक्षण से संयुक्त हो गये हैं। दोनों ही पूर्ण स्वरूपस्थ होने से, महासत्ता यहाँ भेद-विज्ञान में परे निजानन्द में लीन हो गई है। लोक-शीर्ष पर आँख़ थहर प्रारम्भार पृथ्वी ही सोदधाम है, निर्बाण-भूमि है। इसके मध्य में उत्तान श्वेत छत के नमरन, अर्द्धचन्द्राकार सिद्धशिला विद्यमान है। यह उत्तरोत्तर ऊपर, की ओर अगमार्हत होती हुई त्रिलोक के चूड़ान्त में अंगुल के असंख्यात्में अंश परिमाण में तनु, सूक्ष्मतम हो गई है। अपने छोर पर यह तीसरे तनु-वातावरण को भेद गई है। उस वातावरण की सघनताओं में निर्बन्ध अवशालूना करते हुए अनन्त कोटि मिदात्मा नित्य शुद्ध, बुद्ध, आत्म-स्वरूप में लीन, अपने ही शीतर के अनन्तों में निर्बाध परिणमन शील हैं। अनन्त दशन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य, अनन्त सुख आदि अनन्तानन्त गुण और शक्तियाँ उनमें स्वतःस्फूर्त भाव से निरन्तर सक्रिय हैं। इसी की सर्वकाल के द्रष्टा, ज्ञानी और शतस्ता भुक्ति, मोक्ष, निर्बाण आदि संज्ञाओं से अभिहित करते आये हैं।’’ इन मुक्तात्माओं के सुख की कल्पना कर सकती हो, माँ ?

‘‘देख लाल, तू मेरे कितना पास आ गया फिर। मैं तो केवल तेरा यह खलौना मुखड़ा देख रही हूँ। इस सुख से बड़ा तो कोई सुख माँ के लिए नहीं।

तेरे बेहोरे में वह सारा सुख समाया है। फिर किसी कल्पना की मरीचिका में क्यों पहुँ !'

'यह कल्पना की मरीचिका नहीं, मौ। मेरे भीतर हम क्षण जो प्रतीयमान है, वही कह रहा हूँ। तुम मुझे चक्रवर्ती देखना चाहती हो न ? पर उसके आगे भी मुख के कई सौपान हैं। चक्रवर्ती के सुख से भोग-भूमिज अनुष्ठान का सुख अनन्त गुना है। उससे अनन्त गुना सुखी धरणेन्द्र है। उससे अनन्त गुने सुख का भोगी देवेन्द्र है। उससे अनन्त गुने सुख में अहमीन्द्र विलास करता है। विगत, आगत, अनागत की इन सारी सत्ताओं के सुख को एकथ किया जाये, तो उससे भी अनन्त गुना सुख नील में आहीन सिद्धात्मा एक 'भू' में भीगते हैं। अन्यतः यह गुणानु-गुणन भी उस सुख का सही आयाम प्रकाट नहीं करता। क्योंकि अहमीन्द्रों तक के सारे सुख पराश्रित हैं, इन्द्रियजन्य हैं, सो बाकुलतामय हैं। पर सिद्धात्मा का सुख, स्वायत्त, आत्मोत्त्व, निराकुल, आत्मन्येवात्मानातुष्टः हैं। इसी से वह वचन और भणना से असीत मात्र अनुभव्य है।

'ऐसे सुख को तू मेरी गोद में लेटा अनुभव कर रहा है, फिर कहाँ जाने की पड़ी है तुझे ?'

'मझी मौ, यह उस सुख की अनुभूति नहीं, उसमें स्थिति नहीं, यह मात्र उसकी प्रतीति है। चाहो तो इसे सम्यक्-दर्शन कह लो। इस दर्शन को सम्यक्-ज्ञान बनना होगा। और उस सम्यक्-ज्ञान को चारित्र बन जाना होगा। यानी इस सुख में ही तब निरन्तर रमण और विचरण होगा।

'कोई अन्त भी है तेरे इन उत्तमावों का ! सभी श्रमणों और शास्त्रों से यही गाथा मुनने मैं यक मर्द हूँ। कोई उस भोक्ता में जा कर आज तक लौटा तो नहीं। कौन साक्षी दे कि ऐसा कोई सुख कहीं है ?'

'हो सके तो वह साक्षी, मैं सदेह यहाँ उपरिषद करना चाहता हूँ। . . . जाने क्यों, मुझे ऐसा लग रहा है, मौ, कि यह निर्बाण भी अन्तिम उपलब्धि नहीं। मेरी धात्रा यहीं समाप्त नहीं दीखती। . . . इस निर्बाण से भी आगे की एक स्थिति मेरी अभीप्सा में अलक रही है। भेद-विश्वान से परे एक अद्वित महासत्ता में स्थिति : जिसमें संसार और निर्बाण एकाकार हैं। वे परस्पर एक-दूसरे में अन्तर-संकोह हैं। . . . अरे मौ, देखो न, मैं निर्बाण को अनिर्बाण जगत में यग-धारण करते देख रहा हूँ। मैं अपने भीतर सदेह सिद्धात्मा को लोक में आश्रित संचरण करते देख रहा हूँ।

‘किलनी देर हो गई तुझे, बोलते-बोलते । चूप ही जा लायू ॥ भेरे लास ॥ ॥ ॥’

‘... और सहसा ही अपने बालों और गालों पर माँ का हाथ किरला अनुभव किया । आँखें खुल गईं । ... यह कथा देख रहा है । माँ की गोद में उत्साहित है । बरसों से ऐसा नहीं हुआ था । उस मोहोधर को लहज आया, और उठने को हुआ कि माँ ने दोनों बांहों से मुझे भय-चा आश्रित कर लिया । ... लवा, जैसे एक तीखा प्रश्न माँ ने बिन बोले ही, मेरी असलते में अनशना दिया ॥ ॥ ॥’

‘... अब ही तो है तुम्हारा अनुरोध भी, अनन्त केवल सिद्धात्मा ही नहीं, वह मारा लोक, इसके गारे बढ़ात्मा जीव भी अनन्त है । सत्ता मात्र अपने द्रव्यत्व में अनन्त और अदिनाशी है । तीनों लोकों का जीवन, उनके कई पटसों में विवर, पर्वत, नदियाँ, समुद्र, कई भवन-मन्दिर जैसे पुराण-सम्पर्क तक आश्रित अनादिनिधन हैं । तब सिद्धात्मा की अनन्तता, और अविनाशीकरण की क्या विशेषता ? वह अनन्त जब तक अपनी सारी ऋतुओं गुणतात्त्वों के साथ, तात्त्व में व्यक्त न हो, अपनी और महां जीवन की लीला में संक्रान्त न हो, उसकी कथा सार्थकता ? अपरं संत्रास, यातना, मृत्यु जैलते असंघट संसारी जीवों से मुह मोड़ कर, जो अपने ही निशांग-नुख में बन्द हो गया है, उस सिद्धत्व को लेकर मैं अस कहेंगा ! हो सके तो उस परापर मिद्दत्व का, लोक की रचना में सिद्ध और सचित देखना चाहता हूँ ॥ ॥ ॥’

‘... मेरी बात तो तू मानने से रहा । अब मैं यही तो कह रही हूँ ॥ ॥ ॥ पर तू सुने तब न । चिर दिन का हठीला जो है । पर आधा न बही, जो मैं कह रही थी । देश मैं हूँ न, दुन्ह मैं ला अपनी मुकित । इस काश में, इस महल में, माँ की गोट में लेटे-लेटे सभी कुछ तो देख लिया तेजे ॥ ॥ ॥ फिर अब वही जाना है ने ?’

‘... नहीं माँ, मोक्ष से भी आगे की सिद्धि जिसे लाना है, वह गहरी फैसे रुक सकता है । त्रिलोक और क्रिकाल के समस्त जीवों की सृष्टि में, उनके जीवन में, पुकित के लापकतं भवादी सुख को जो संचरित देखना चाहता है, उसे उन तपाम अमरुद्यात जीवों की चेहना में उत्तर कर, उनके साथ तदूप तदाकार होना होगा । उसके लिये उमे विराट् प्रकृति के असीम जीव-राज्य में विवरण करना होगा । और जीवों के और अपने बोच जो अनन्तकाल के कर्मविवरण और मनोग्रन्थियाँ पड़ी हैं, उन्हें भेद कर, प्रत्येक जीवाणु के साथ आसमान् हो जाना पड़ेगा । माँ की मोहोधर योद, और नद्यावर्त की सुख-शैया में वह सम्भव नहीं । प्रकृति में व्याप्त यू-गुणों के हिसाप्रतिहिसा और कमों के दुष्कर्कों के प्रति आत्मोत्सर्ग कर देना

होगा। उनके प्रति अपने को खोल कर, उनके सारे कथाघातों को खोलते हुए, अपने चैतन्य की अव्याकृत अवगाहना में उन्हें विसर्जित कर देना होगा। अपनी देह के रेशे-रेशे को योगाग्नि में तपा कर, गता कर, अपने विशुद्ध द्रव्य में संस्थित होने पर ही निष्ठिल के साथ ऐसी एकाकारिता सम्भव है। 'अभी-अभी अन्तहीन नरकाग्नियों में जनसे जीवों की यातनाएँ आँखों आँखों देखी हैं। अनन्त तिगोदिया जीव-राशियों को बेदना तक से आस्म-विस्मृत, आने ही में खदबदाते, बैठनी के भाव एक सांस में बढ़ारह चार जननसे-परले जनुभय किया है। वे सारे जीव मेरी आत्मा में जाण के लिए चीत्कार कर रहे हैं, आधान्द कर रहे हैं। मैं, मेरी पीड़ा को समझने को कोशिश करो।'

'कहो बेटा, सुन रही हूँ।'

'जाने किसने अन्मान्तरों में, जाने किसनी योनियों में, किसने ही जीवों से मैंने भग्नुल्य बांधा होगा। वे सारे जीव अपने बैर का बदला भुज से लेने को, कथाय-प्रमत्त होकर निम्नातिनिम्न योनियों में मोहांद्र भटक रहे हैं। जहाँ-जहाँ भी होंगे वे, अपने कायोत्सर्ग के बल उन्हें अपने पास खीचूँगा। उनके प्रति आत्मार्पण करके, अपनी नगन काया के अणु-अणु में उनके प्रतिशोषी बैर के सारे प्रहार मौन भाष से सहूँगा।' 'सहता ही जला जाऊँगा, ताकि वे अपनी समस्त कथाय को मुझ पर उतार कर, उससे मुक्त और निर्वर हो जायें। पहले अपनी ही आत्मा में, अपने ही निजी वैरियों से, पूर्ण मिथी और सम्वादिता स्थापित न कर लूँ, तब तक निष्ठिल चराचर में मैत्री और सम्वाद का सुख-साधना ज्ञान कैसे स्थापित किया जा सकता है।'

'कायोत्सर्ग तो भीतरी बात है न, मानू? इस बाहर की छत में जाने कब से तेरा कायोत्सर्ग चल तो रहा है। तेरी ध्यान-साधना में आप ही एक दिन, सारे जीव खिचे चले आयेंगे। है कि नहीं?'

'नहीं' 'नहीं मौ, असम्भव। मुझे स्वयं जीवों के पास जाना होगा। अपने अहम् की सारी ग्रंथियों में द कर, उन्हें सुलभ हो जाना होगा। छोड़ो लोक-लोक की जीव-राशियों को; ठीक इस महल से बाहर निकलते ही, जो मानवों की अस्तियाँ हैं, उन्हीं के साथ मैं अभी कोई सम्भव और सम्बाद नहीं साध पाया। यिष्वी-कानक की यात्रा के समय, तुम्हारे इस आर्यविर्त की कई ग्राम-वस्तियों में घटका था। कुण्डों, काम्मकरों, चांडालों, अंत्यजों की जो जीवन-स्थिति देख आया था, उसके बाद तुम्हारे इस सुख-वैश्व रूपे राजमहल में सौटने का भन

ने हुआ। वह सब असह्य लगा : अक्षम्य अपराध प्रतीत हुआ। इन महलों और राज्यों के ऐश्वर्यों की नींवों में जो प्रतिगल अपने जीवनों की आद्वृतियाँ दे रहे हैं, उनकी विाज्रता, दीनदा और आत्महीनता को देख, मूल स्पष्ट प्रतीति हूँड़ी, कि लोक में कुछ समर्थ लोग, अपने बाहुबल और उत्तराधिकार के जोर पर, निरन्तर एक सार्वभौमिक हत्या और हिंसा की सृष्टि कर रहे हैं। कर्म-विग्राह से यदि यह वैषम्य है, तो उस गलत कर्म-भृंखला को उलटना भी जागृत और चैतन्य मनुष्य का दायित्व है। कोई भी आत्मवान् और जागृत व्यक्ति, होण-हवास रहते एक हत्यारी और शोषक जगत-जगतस्था में सहभागी हो कर, करोड़ों मानवों की सामुदायिक हिंसा के इस व्यापार को कैसे चलने दे सकता है? . . .

'क्या करूँ मैं, बहुत विवश हो गया हूँ मैं, यहाँ मेरे चले जाने को। धनी-निर्धन, सुखी-दुखी, शोषक-शोषित, पीड़िक-पीड़ित के ये भेद, ये दरारें मुझ से सही नहीं जाती। मेरी जनों में रक्त नहीं, जैसे चिच्छा बह रहे हैं। मेरे तन का अण-अणु उनके निरन्तर दंणों से उत्पादित है। लगता है भी, हजारों-लाखों लोग, जब तक पांडी-दरगीढ़ी बेहाल, निर्धन, मजबूर हैं, लाचारी और आत्महीनता में जी रहे हैं, तब तक इस ऐश्वर्य से मच्याने महल में भी कौन रहे? तुम्हारा यह मारा वधव मुझे काटता है, यह मुझे चोरी का लगता है। यह सार्वभौमिक हत्या की खेती का प्रतिक्रिय लगता है। तुम नागर न होना मौ . . . ! क्या करूँ, जब यह सब मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। यह सब सहते हुए जीना क्षम मेरे बश का नहीं . . . !'

'मान, तेरी इन अनहोंनी हठों का अन्त नहीं। जो आज तक कोई न कर सका सृष्टि के इतिहास में, वह कूँ करेगा? असम्भव को कौन सम्भव कर सका है?'

'असम्भव और भग्नावीर राथ नहीं चल सकते, मौ! मनुष्य के कोष में से असम्भव शब्द को मैं सदा के लिए निकाल फेंकना पाहुता हूँ। सत्ता यदि अनन्त-सम्भावी है, तो असम्भव यहाँ कुछ भी नहीं। वह केवल अज्ञानियों और अहं-ज्ञानियों की, अपनी सीमा से निष्पत्त एक मिथ्या धारणा भाव है। असम्भवों की लकड़ियें धीनने वाले लुम्हारे परम्परागत शास्त्र और आमण स्थापित स्वार्थों के स्थिति-गोपक हैं। यह असम्भव शब्द उन्हीं का आविष्कार है . . . अहंतों की कैवल्य-वाणी को कौन लिपिबद्ध कर सका है। अहंत के मुख से असम्भव शब्द उच्चरित नहीं हो सकता। अहंत् और असम्भव, ये दोनों विरोधी संज्ञाएँ हैं। सर्वसम्भव, सर्वज्ञ, त्रीभवकर, असम्भव की मर्यादा पर कैसे अटक सकता है? . . .'

'एकाएक मैं उठ बैठा, और देखा, मौ प्रस्तरीभूत-सी, पहचान-भूती, भटकी आँखों से मुझे देख रही है। बहुत सूता लगा उनका आँचल, और वे निष्ट लुटी-सी बहुत अनाश हो आई हैं। . . .'

'... मैं बहुत पीछे कूद गई, मान ! मैं से तू बहुत आगे जा चुका । ... जाने कब का ? फिर भी क्यों रह-रह कर भरम में पड़ जाती हूँ । जिसका बछड़ा सदा के लिए खो गया है, उस गाय-सी रम्भाती, बिलखती मैं बावली बेकार बीरामों में दौड़ी फिर रही हूँ । ...'

माँ अपने औंसू न रोक सकी । उन्हें पौछने का अधिकार मैं खो चुका हूँ, जाने कब का । मोहरात्रि को पुक्कार कर बब और सुसाये रखना मेरे बश का नहीं । ...

'... जाओ, अहों तुम्हारा जी चाहे जाओ, मान । तुम्हें रोक कर रखने वाली मैं कौन होती हूँ । सारे आसमान को अपने औचल की कोर में गौठ दे कर बाष्प सेने की श्रांति में पड़ी हूँ मैं । ... ऐसी मूढ़ रुचि, तुम्हारी माँ कैसे हो सकती है । ...'

'तन की भी तो हो ही, अब मेरे मन, चेतना, आत्मा की माँ भी बन जाओ न । तुम्हारी ही गोद में द्विजन्म पाना चाहता हूँ, माँ, सत्य का ज्योतिर्मय जन्म । ...'

'तो उसके लिए मूँझे रुपाग कर मौत की अंधेरी ख़ुन्दकों में कूदोगे तुम ? मेरी मति-बुद्धि से बाहर है मह सब ।'

'वह अंधेरी ख़ुन्दक भी तो तुम्हारे ही गर्भ में है, माँ । फिर लौट कर उसी में कूदेंगा, और उसकी भोहान्ध कारा को सचेतन, सशान तोड़ कर, अखण्ड, अमन्त गुना अधिक, समूचा तुम्हारा हो कर, तुम्हारी गोद के सिंहासन पर प्रवक्ट हो उठेंगा । ...'

माँ ने शब्द न सुने : केवल भावित हो आइं; बोध से उजल आया उनका मुख । और अखण्ड माँ को मैंने जैसे साक्षात् किया । ...

'आवागमन से परे की, अपनी और मेरी स्थिति को मेरी आँखों में बूझो, माँ ! तब पाओगी कि जाना-जाना, यह निरी शब्द-माया है । तब मेरी जाती हुई बिछोही पीठ नहीं देखोगी, मेरा सन्मुख आता मुख ही देखोगी । काश सत्ता का वह आयाम तुम्हें प्रत्यक्ष दिखा सकता । लेकिन शब्द के राज्य की सीभा आ गई । ... अब बोलना निःसार लगता है । देख सको तो देखो, मैं तुम्हारे सामने हूँ समूचा । ... तदा ।'

'... तू तो कहता है, भोज में खो नहीं जायेगा । लौट कर आयेगा मेरे पास । क्या लायेगा मेरे लिए ? ...'

‘‘हथेली पर रक्खा हुआ एक ऐसा सहज-पहलू हीरा, जिसमें त्रिलोक और त्रिकाल के तमाम परिणमन अलक रहे होंगे ! तब दुःख, मृत्यु, विनाश, शोक, विद्योग के अनधिकारों से आच्छान्न लोक मेरे हृत्कमल में सहज अनुभूत और आश्वस्त होगा । उसे प्राप्त करने को, उसमें व्यापने को, चौरासी लाख योनियों में मुझे फिर भटकना नहीं होगा । भ्रमण तो अनन्त द्वार किया इन सारी अन्ध योनियों में । पर क्या फिर मी उन्हें जान सका, अपने को जान सका, इस लोक को जान सका ? - बाहरी भ्रमण हारा नहीं, भीतरी आत्म-भ्रमण हारा ही इसे सम्पूर्ण जीना और स्वायत्त किया जा सकता है । तभी इसमें निर्बाध रमण कर, इसके अण्-अण् में आत्मज्ञान का चक्रवर्तित्व स्थापित किया जा सकता है । ’’ और वह चित्तामणि हीरा ले कर, त्रिलोक और त्रिकाल का चक्रवर्ती, विश्वभरा मीं की गोद में नहीं लौटेगा, तो कहो जायेगा ? वहीं दिछेगा उसके चक्रवर्तित्व का मिहासन । ’’

मीं को मुदी अँखों से आनन्द के अजस्त्र औसू बह रहे हैं । और मैं उनके अन्तर्चक्षु बन कर, उनके द्वय अनहोने देटे को निनिमेष निहार रहा हूँ । ’’

वातावरण समाधि के अंशत फूलों की सौरभ से आप्तावित है । ’’



महाभिनिष्करण

[मार्गशीर्ष हृष्णा नवमी]

तेवश्ची सन्ध्या के इस कोहरिल तट में विश्व फूल उभर रहे हैं। एक अपार्श्व सौरभ चेतना में व्याप गई है : पर इससे अधिक सुपरिचित सुगन्ध का अनुभव तो पहले कभी हुआ नहीं। ॥१॥ ये जारे बलाद्यगी पूजा ३०८८ द्वारा विवरित हो कर, एक जामुनी सरोवर की लहरों में परिणत हो गये। ॥२॥ और सहसा ही यह कथा देख रहा हूँ कि वह सरोवर फैल कर 'ब्रह्म समुद्र' में व्याप गया है। और उसमें से गोलाकार समुद्र-राशि की तरह प्रशाङ्क अन्धकार का एक विराट् तम-इकन्ध उठा हुआ सारे लोक पर छा गया है। अपने पादमूल में असंख्यात् योजनों में विस्तृत यह तमोराशि, जपमः संख्यात् योजनों में अपसारित होती हुई ब्रह्म-युगल के अरिष्ट-इन्ड्रक विमान के तल में अवस्थित हो गई है। उसकी अणित अन्धकार-पंक्तियाँ ऊपर की ओर उठ कर अरिष्ट विमान में आरों ओर फैल गई हैं। किर वे आरों दिशाओं में विभाजित हो कर, मर्त्यलोक के अन्त तक व्याप गई हैं। उन अन्धकार पंक्तियों के अन्तरालों में देख रहा हूँ—अम्पाम, सूर्योग्म, चक्राम, सत्याम, क्षेमकर आदि चाहा-स्वर्ग के देवों के तीरते हुए जाने कितने चुतिमान विमान। ॥३॥

॥४॥ और उस सागराकार गोल तम-इकन्ध के चूडान्त पर सौकान्तिक देवों के कितने ही पंक्ति-बद्ध रत्नप्रभ बातायन उभर आये हैं। देवों के बीच देवथि कहे जाते हैं ये देव। स्वर्णों के सारे भोगों से छिरे रह कर भी ये स्वभाव से सहज ही वीतराय और धोगी हैं। विषय और विषयी के भेद से परे इनकी चेतना एक निविषय सुख से सदा ऊमिल रहती है। इन्द्र-इन्द्राणियाँ तक इनकी पूजा करते हैं। उन चूडान्तिक बातायनों पर उन्हें कीड़ा भाव से लूभते देव रहा हूँ। ॥५॥ सहसा ही वही से कई मणिश्रम विमान उठ कर नम्भावत की ओर आते दीखे। ॥६॥

‘‘मेरे सामने पंक्ति-बढ़ आ कर खड़े हो गये हैं, ये दिव्य रूपधारी कुमार-योगी। सारस्वत, आदित्य, ब्रह्म, अरुण, गतोदय, मुषित, अव्याकाश, अरिष्ठ आदि जाने कितने ही नाम, कुहरिल हवा में गूंज कर, कहीं ज्योतिमय अकारों में भास्वर हो उठे।’‘ हेर आरे कल्प-दृक्षों के फूल उन्होंने मेरे चरणों में बिखेर दिये।

एक अलगता लुहत आर्द्धी लड़त में भेदी नेत्राता रूपदेन्तराते उमी। कई अनुषाकार सुन्दर ओढ़ों की पंक्तियों से उच्चरित होता सुनाई पड़ा : ‘बुज्जमह !’ ‘बुज्जमह !’ ‘मा बुज्जमह !’ ‘मा बुज्जमह !’ ‘आगो !’ ‘आगो !’ मूर्छों में न रहो !’ ‘मूर्छों में न रहो !’ अर्णक के अन्तराल से फिर सुनाई पड़ा : ‘उद्गाहि !’ ‘उद्गाहि !’ ‘उठो !’ ‘उठो !’ फिर गभीर चृष्णी के उपरान्त एक लम्बाय-मान इवनि अन्तहीन हो गयी : ‘पट्टाहि !’ ‘फट्टाहि !’ ‘प्रस्थान करो !’ ‘प्रस्थान करो !’

और उस इवनि के छोर पर मेरी बाल्य चेतना सर्वथा विलुप्त हो गई।

‘‘अपूर्व है आज के श्यान की गहराई और उसका विस्तार।’‘ अब तक के श्यान की चरम तल्लीनता में, एक रेशमीन अन्तरिक्ष के दूरातिदूर विराट प्रसार में कोई एकमेव नील मक्षश तैरता दिखाई पड़ता था।’‘ इस श्यान वह बृहस्पत होता हुआ एक अण्डाकार नील ज्योति-पुंज में प्रभास्वर हो उठा। और अगले ही श्यान, किसी नीलमी महल के तटान्त पर छड़ी एक नीलेश्वरी सुन्दरी, वहें प्रसार कर आवाहन-मुद्रा में विशालतर होती दिखायी पड़ी। उसकी देह के प्रत्येक अवयव में सहस्रों और्खें खुली हैं ; और उन और्खों में सारी इन्द्रियों के हार एकाग्र, एकाकार होते जा रहे हैं।’‘ देखते-देखते मैं एक सुनील समुद्र के प्रशान्त प्रसार में चिरसिंजित हो गया।’‘

[मार्गशीर्ष कृष्ण दशामी]

‘‘ब्राह्म सुहृत्ते की निर्मन वायु-तरंगों में अनुभव हुआ : सारे स्वर्णों के पटल और इन्द्रों के आसन कम्पायमान हो रहे हैं। अनगिनती कल्प-विमर्शों के वैभव और ऐश्वर्य उमड़ कर नन्दावत्त-प्राप्ताद की ओर प्रवाहित हैं।

‘‘उषःकाल के मोतिया आलोक में जब ऊँखें खुलीं, तो पाया कि अपनी श्रेष्ठा में नहीं हैं। पद्मराग-मिला की एक चौकी पर पश्चासन में आसीन हैं। सहस्रों इन्द्र अपनी इन्द्राणियों और देव-देवांगनाओं के परिकर के साथ, क्षीर-समुद्र के

जल से भरे सुवर्ण-कुम्हों से मेरा अभिषेक कर रहे हैं। ॥१॥ शची जाने कितनी ही कमनीय बाहों से मेरा अंग-लुचन् कर रही है। कल्प-लताओं के पुष्प-पराग से मेरे सारे शरीर में अंगराग-प्रसाधन किया गया है। फिर एक अखंड उज्ज्वल ज्योतिर्मय उत्तरीय मेरी देह पर धारण कराया गया। उसके उपरान्त अनादि-निष्ठन चित्र-विचित्र रत्नों के किरीट, कुण्डल, केयूर और समुद्र-तरंगिम मुक्ताफलों की मालाओं से आपाद-मस्तक मेरा शृंगार किया गया है।

॥२॥ सारा आकाश एक प्रकाण्ड मृदंग की तरह अन्तहीन नाद से शब्दायमान है। स्वगौ से नन्दायारी के भविण तक वह नामत नक्तरिङ्ग देव-देवाननदाओं, अलकाओं, घड़ों, गन्धर्वों के उत्तरते यूथों से छा गया है। जैसे एक निःसीध चित्रपटी दिव्य रंग-अभाओं से छलमला उठी है। तरह-तरह के देव-वाणी, संगीतों, नृत्यों की झंकारों से दिग्नाओं के तट रोमाचित और द्वित द्वित हो उठे हैं।

॥३॥ देख रहा हूँ, राजद्वार पर तुमुल वाणी-संगीतों के बीच एक भव्य पालकी उत्तर आयी है। यह 'चन्द्रप्रभा' नामा पालकी, मानो करोड़ों चन्द्रमाओं के स्कन्द में से तराशी गयी है। इसकी श्रीतन्त्र-सरल आभा से सारे लोकाकाश के हृदय में एक गहरी कपूरी श्रीतलसा और शान्ति व्याप गई है।

॥४॥ शकेन्द्र और शची मुझे बहे सम्भ्रम के साथ हाथ पकड़ कर उस पालकी की ओर ले गये। शची ने अपलम्बन के लिए अपनी अपरूप कमनीय कोमल बाहु पसार दी। उसे पकड़ कर मैं पालकी में थों आसू हो गया, जैसे अपने भरम विलास-कक्ष के शयन पर आरोहण किया हो।

भासित हुआ कि काल-चक्र में विजया नामक मुहूर्त-शण प्रकट हुआ है। मेरे पद-नख पर उसरा और फालनी लक्षणों की संयुति हुई है। पालकी में मेरे पीताम गङ्गङ-रूप के सिंहासन का आलोक उक्षीयमान सूर्य के गोलक की तरह भास्वर हो उठा है। पूर्वाभिमुख आसीन मैंने देखा, कि ठीक सामने पूर्व दिशा में एक पुरुषाकार छाया दूर तक फैलती चली गयी है।

शिविका में दीखा : मेरी दायीं और एक कुल-महत्तरिका थृद्धा हंसोज्ज्वल बस्त्र लिये बैठी है। मेरी दायीं और धाय-माता विपुल सामग्रियों का मुख्य वाल लिये बैठी है। पीछे एक परमा गुलदी पुदती सोनवहों शृंगार किये मुझ पर सुवर्ण-दण्ड का हीरक-श्वेत छत्र छाये हुए हैं। इशान कोण में उड़ी एक पुण्डरीक-सी ईश्वर नमिता बाला भणिमय विजन डुला रही है। पादप्रान्त में कई वार-वनिताएँ नृत्य-प्रसारों में निवेदित होती हुई, कई-कई ग्रंथियों-सी एक साथ छुल रही हैं।

उनके जासुलायित केलों का शोहान्वकार मेरे चरण-तटों में आकर बिलीश हो जाता है । । ।

अयल-जगल खड़े परिजन-परिवार के सारे ऐहरे, किसी एकमेव आस्थीय ऐहरे की चिरत्तन् परिचिति में एकाकारन्से दीखे । पास उक्त आये मौ और पिता के युगलित मुखड़ों पर, जौसू-आरती भूंदी अंखें मेरे सम्मुख चिचित-सी रह गयीं । । । 'मौ, शापू, वियोग की रात बीत गयी । । । मेरे परम परिणव की इस संग्रह-बैला में आशीर्वाद दो, कि अपनी अनन्मा वधु का बरण कर, जल्दी ही तुम्हारे पास लौट आऊँ' । । ।

'ओ री पागल बैला, बहा दो अपने सब आौसु । डतने कि मेरी मुक्त जल-कीड़ा के भास्कर सरोवर हो जायें । । । बरे सोमेश्वर, सखा का साथ नहीं दोगे, कि यों व्याकुल हो रहे हो ? क्या तुम नहीं चाहते कि तुम्हारी कविता को लोकालोक में साकार करें ? ठीक मुहर्त में आ पहुँचोगे मेरे पास, और दोनों मिल कर महाबीर की कैल्प्य-प्रभा से कण-कण को भावित और सुन्दर कर दोगे । । ।'

सहस-सहस्र प्रजाजनों की राशिहृत मेदनी जारी और घिरी है । सरि, ऐहरे बौसुओं से उफल रहे हैं । दबी सिसकियों से सुखकते जाने कितने भर-नारी वज्र मेरे निष्पल अंगोंगों में आलोकित हो रहे हैं । । । । एकर-एक दिवायी पड़ा : चेटकराज, सुमझा नानी, सारे मामा लोग, रोहिणी भामी लक्षा वैशाली के अनेक लिङ्छिक-कुल-राजन्य आसपास घिर आये हैं । । । 'बरे नानी मौ, वियोग के अंधेरे में पीछे छूटीगी ? विदा के इस कण में अटूट संयोग की गोदी में मुझे नहीं लोखी ? । । । और मेरे चेटक-शापू, क्या वैशाली के ही गणनाव ही कर रहोगे, समस्त सौक के बापू नहीं बढ़ोगे ? और फिर आकर भी, तुम से दूर में कही जा सकता है ? । । । और आर्यवित की सिहनी रोहिणी भामी, तुम तो मेरे सूरज-पुङ्क की संगीनी हो, यों कातर हो कर मुझे अकेला छोड़ जाओगी ? । । । ओ मेरी प्रजाओ, मैं यदि जीवन का नया रक्त बन कर तुम्हारी शिराओं में व्याप जाना चाहता हूँ, तुम्हारी सौसों में बस जाना चाहता हूँ, तो क्या यों सुखक कर मेरी राह रोकोगे ? मुझे निर्बाध अपने भीतर न आने दोगे ? । । । अन्दन, तुम यहीं न दिवायी पड़ी न ! ठीक ही तो है । तुम्हारे पास आने की ही तो यह महाप्रस्थान कर रहा है । । । । तुम्हें साधने पाते ही जान लूँगा, कि जहाँ पहुँचना था, वहाँ पहुँच गया हूँ । । । । लिङ्छिकि कुलपुक्षो, निश्चिन्त हो जाओ । मेरी आरम्भजय और वैशाली की विजय को मिल न आनो । छिलीक का वैष्णव जो यहीं समर्पित है इस शही, उसे क्या अनन्देष्व करेगे ? । । ।

मानवों और देवों की अन्तहीन जपकारों के बीच, आकाश में तोरणाकार उड़ते सहस्रों देव-देवांगता फूलों की राशियाँ बरसते दिखायी पड़े । । ।

जब सुसुल जप-मिनाद के साथ, परिजनों और प्रजाजनों के कन्धों पर पालकी उठी, तो लोक के सारे पटल रोमाचन से कम्यायमान होते अनुभव हुए । कुछ ही हृष्ट जाने पर शत-शत इन्द्रों और शाहें-दों ते चारों ओर से आ कर पालकी अपने कन्धों पर ले ली । कुष्ठपुर के राजमार्ग में अनवरत बरसते फूलों के बीच से, दृष्टि के पार होती विशाल शोभा-यात्रा चल रही है । अन्तरिक्ष के अधर में भात-सहस्र अप्सराएं नृथ कर रही हैं । उसके नीति अंगों में से स्वर्गों के किलने ही कीड़ा-कुल उद्यान और केन्द्र-तरंगित सरोवर आविमन और लयमान होते दीख रहे हैं । बेशुमार फूल-पत्तियों, बन्दनवारों, रत्न-तोरणों में से यात्रा मुजर रही है ।

दूरियों में देख रहा हूँ : अलंकृत हाथियों की कई-कई सरणियाँ चल रही हैं । हेथारव करते एवेत अश्वों के यूथ गतिमान हैं । बैडूर्य-शिला का एक विशाल सिहासन, मणि-कुट्टिम पादुकाओं से दीप्त, कहीं ऊँचाई पर आलोकित है । उसे धेरे अनगिनत रथ अपने रत्न-शिखरों से आकाश को चित्रित करते चल रहे हैं । देवों, विद्याधरों, राजाओं की चमुरंग सेनाओं का ओर छोर नहीं । ठीक पालकी पर, उड़ीयमान भुद्राओं में मुकान्मूष कर नृथ करती अप्सराओं ने चारों ओर रूप-साक्ष्य का एक वितान-सा छा दिया है ।

‘‘ और मेरे भीतर गूँज रहा है : ‘नेति-नेति’ ‘‘ नेति-नेति ! : यह भी नहीं । । । यह भी नहीं ! : यहौं अन्त नहीं । । । यहौं अन्त नहीं । । । ’ और इस सारे पाचिव और दिव्य ऐश्वर्य के लोकाल्प-यापी परिच्छाद से निष्कान्त हो, अपने को एक अगाध शान्ति के सुरभित समुद्र पर चलते हुए देख रहा हैं । । । पूरे कोल्काण सशिवेश को पार कर, धीर गति से चलती हुई यह शोभा-यात्रा जब ‘जात्-खण्ड उद्यान’ में पहुँची, उस समय हेमन्त के नमने अपगङ्गा की कोमल धूप, वन-शिखरों पर से सरकती दिखायी पड़ी ।

क्षिविका जहाँ उतारी गई, वहीं सामने सघन हरित भर्कत-छाया से आलोकित एक विशाल अशोक वृक्ष प्रगत मुद्रा में स्वागत करता दिखायी पड़ा । उसके तलदेश में स्थित एक ऊँची विपुलाकार सूर्यकान्त शिला पर हन्दाणियों ने चंदन, केशर, कुमुम और मणि-चूणीं से स्वस्तिक और आल्पनाएँ रची । । ।

‘‘ हठात् सहस्रों देव-किकरों के हाथों में थमे दण्डों की ताढ़ना से हन्दों के करोड़ों दुन्दुभि बाजे आकाश-व्यापी हो कर प्रचण्ड घोथ करने लगे । नाना समवेत

बाहों में कहण-कोमल राशिनियाँ प्रवाहित होने लगीं। . . . और पाया कि पृथ्वी और स्वर्गों के तमाम समुद्रों और सरोवरों की संयुक्त जलधाराएँ महादीर का अभिषेक कर रही हैं ; प्रदूष-प्रान्त के विविध नदियाँ-हड्डियों की सम्पत्ति भी उहाँ रही है। धूपदानों से उछली सुगन्धित धूआँ-लहरियाँ एक अद्भुत पावनता से बातावरण को व्याप्त कर रही हैं।

इन्होंने उहाँसे हुए और घबल हृस-पंचितयों की तरह दिव्य बीणाओं की सुराखियों में बहने लगे। चिनां-बेलियों से बरसते रंगारंग फूल हवा में चित्रसारियों करते तिरोमान होने लगे। देवागनाओं की अंजलीकृत लावण्य-प्रभाएँ कपूर-सी उहती दिखायी पड़ीं। . . .

. . . मेरे भौतर के अगाध में से चरम उल्सास का एक रोमाचन उठ कर मेरे अंगों को बिगलित कर चला। . . . मुझ पर बरसती, प्रकृत अभिषेक की जलधाराएँ सहसा ही एक सुनील नीहार का बिलान बन कर मेरे चारों ओर छा गयीं। एक निस्तावध नीलिया की आँख के बीच मैंने अपने को एकाकी पाया। . . . सहसा ही मेरी देह पर से उतर कर, किरीट-कुँडल, केयूर, मुक्ताहार और सारे वस्त्राभूषण भरती पत्तियों की तरह झड़-झड़ कर, महादीर के पाद-प्रान्त में आ गिरे !

. . . उस सूर्यकान्त शिला के आसन पर, मैंने किसी व्याप्तीत नग्न शिशु को, एक मिठोय निर्विकार पारदर्श प्रभा के रूप में अवस्थित देखा।

उठान् स्तवधता की वह नील नीहारिका विलीयमान हो गयी। . . . असंख्य कण्ठों की त्रिलोक-व्यापी जयकारें भूज उठीं। छोड़े हुए सर्प-कंचुक जैसे निष्प्रभ वस्त्रालंकारों को कुल-महत्तरिका ने अपने हृस-धबल वसन में समेह लिया।

. . . मैंने देखा कि मेरी कुंचित कमनीय अलकावलियाँ नाशिनियों-सी उछल कर, मेरे सारे मस्तक को धोए कर लहरा उठीं हैं। और चारों ओर चिरी दिव्य और पार्थिव कामिनियों के हृदय मोहिनी से व्याकुल हो उठे हैं। . . .

. . . महादीर किञ्चित् मुस्कुर आये। . . . और अगले ही थण अपने दोनों हाथों की पंच-मुष्ठिकाओं से एक ही अटके में उन सोहान्धकार-भरे केशों का लोच कर, उन्होंने उल्हे हवा में उछल दिया। सहस्रों सुन्दरियों के अंतर्लों, भृणाल बौहों और इन्होंने के रत्न-करण्डकों ने उन्हें झेला। . . . दूर कहीं श्रीर-समुद्र की लहरों में वे केशावलियाँ तरंगित दिखायी पड़ीं। . . .

शक्तेन्द्र का गम्भीर स्वर सुनाई पड़ा : 'हे ब्रिलोबधेश्वर, हे निखिल के एकमेव आत्मीय, अवसर्पिणीकाल के पुरोधा तीर्थकर, शब्द में सामर्थ्य तहीं कि तुम्हारी महिमा का गान कर सके। सृष्टि का संगमन्त्र दरण उच्च ने उच्चक में पिस रहा है। संसार की पीड़ाओं का अन्त नहीं। पारस्परिक राग-देघ, वैर-भास्तर्य के बीचीभूत हो अज्ञानी जीव एक-दूसरे का घात, पीड़न, शोषण कर रहे हैं। भास्तर्य के बीचीभूत हो अज्ञानी जीव एक-दूसरे का घात, पीड़न, शोषण कर रहे हैं। जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, वियोग से असंख्य आत्माएँ सन्तप्त हैं। अवृद्ध कषायों के निरन्तर कषयन से हमारी बेलनाएँ, सदा आरत, आहृत और घायल रहती हैं। हमारी आत्मा के अधिन्न, एकमेव वाल्लभ प्रभु, जिर काल से सन्धरत इस लोक का हमारी आत्मा के अधिन्न, एकमेव वाल्लभ प्रभु, जिर काल से सन्धरत इस लोक का शाण करो। इसे अपने चरणों में अभय-शरण दे कर, मुक्ति और जीवन का कोई अपूर्व मार्ग प्रशस्त करो' । । ।'

.... अपने ओढ़ों पर सहमा ही एक प्रसन्न स्मित को कमल की तरह छिल बाले देखा ।

.... अपने भीतर के अपाह नीरब में ध्वनित सुनाई पड़ा :

० इस क्षण से मैं न रहूँ : केवल सद्य ग्रेष रहे : मेरे तन, मन, वचन में आरपार वही प्रकाशित हो उठे। केवल वही मुझ में जले, बोले, चले ।

० इस क्षण से चिलोक और श्रिकान्त के धराचर भूत मात्र मेरे तन, मन, वचन से अघात्य हो जायें। अणु-अणु के बीच मैं 'आत्मवत् रान्मभूतेषु' भाव से चिच्छैः उनके साथ तदाकार हो कर रहूँ ।

० इस क्षण से पदार्थ मात्र मेरी दृष्टि में स्थायम् अपने आपका ही कर रहे। अपनी ईश्वर-नृपित की चाह के बीचीभूत हो कर उस पर मैं बलात्कार भ उहरै। माटी, जल, नृण जब को मैं उनकी अनुमति से ही ग्रहण करूँ। वे जब मेरा वरण करें, तो मैं उनका संवरण हो रहूँ ।

० इस क्षण से मेरे लिए, पल-पल पीड़ित 'मैं' और 'मरा' समाप्त हो गया। सर्व को उनके स्वश्रम में निर्बाधी और स्मार्तिकृत रहने दै। त मैं उन गर अधिकार करूँ, न वे मुझ पर अधिकार करें। त मैं उन्हें परिप्रहित करूँ, न वे मुझे परिप्रहित करें। तन, मन, वचन से क्षण-क्षण संचतन, अप्रमत्त रह कर, बरत् और व्यर्वित मात्र के साथ परिप्रह का नहीं, परस्परोपग्रह का ही आचरण भूल गंगा ।

० इस क्षण से मेरा रमण केवल अपने में हो, आत्मा में हो, अन्य और अन्यथ में नहीं। स्व-रमण होकर ही सर्वरमण हो रहे। आत्म ही निम, आत्म ही गांत,

आत्म ही काम, आत्म ही काम्य, आत्म ही मेरा एकमात्र विलास, संधोग, मैथुन और
पितन हो कर रहे । । ।

‘‘और समय के अविभाज्य भूहृत में मेरी आत्मा एक अपूर्व, अननुभूत
ज्ञानालोक से उद्भासित हो उठी । । । मनुष्य लोक में विद्वान् तमाम पर्याप्त
और व्यक्त मन वाले संभी पञ्चेन्द्रिय प्राणियों के मनोगत भाव मेरी अन्तश्चेतना
में प्रत्यक्ष हो उठे । । । क्या इसी की मनःपर्याय ज्ञान कहते हैं ?

‘‘और मेरे सद्विकार बीठों से प्रस्फुटिस हुआ :

‘‘तथास्तु शकेन्द्र ! । । । भित्ति मेरे सब्द शुद्धेशु : वैरं मञ्जरण केण्विः । । ।
सर्वभूत मेरे भित्र हैं : किसी से भी भुज्ञे वैर नहीं । अणु-अणु की आत्मा में अवगाहन
करेगा भगवान् । । ।

‘‘और मैंने उस सूर्योकान्त विलासन पर देखा : ऊँचों में उश्छीत तेज की
एक नमन तलबार की तरह अण्डायमान वह पुरुष, निश्चल कार्योत्सव में निस्तक्षण,
निष्पन्न हो गया है । । ।

सूर्य की अन्तिम किरण उसके भस्त्रक के बाह्य-बलय में आ कर ढूँढ गई ।

सायाहृ की घिरती छापाओं में दूर-दूर जाता जन-रघ, कासघ राति के
घनाम्बिकार में खो गया ।



परिशिष्ट

निबेदन है कि इस 'परिशिष्ट' के अन्तर्गत जो-'प्रस्थानिका' प्रस्तुत है, उसे पाठक मिश्र पुस्तक समाप्त कर लेने के उपरान्त ही पढ़ें। कृति और पाठक के बीच वह न आये, यह कांडनीय है। इस 'प्रस्थानिका' में उन सारे प्रस्थान-विन्दुओं और मुद्दों को स्पष्ट कर दिया गया है, जिन्हें लेकर ज्ञानि हो सकती है, प्रश्न और विवाद उठ सकते हैं।

प्रस्थानिका

इस पूर्व को छठवीं सदी में महाबीर का उदय एक प्रतिचादी विश्व-शक्ति के रूप में हुआ। जो जोषन-दर्शन उस चमाने में बाद (धीरिस) के रूप में उपलब्ध था, वह धिरा कौर मृत हो चुका था। इश्वरियान् दीक्षन की उससे लहरी दिशा नहीं मिल रही थी। पूर्वी पर सर्वत्र ही एक गत्यवरोध और अराजकता व्याप्त थी। तब उस ध्यान-मिश्र बाद के विरुद्ध एक प्रचण्ड प्रतिचाद (एष्टी-धीरिस) के रूप में महाबीर आते दिखायी पड़ते हैं। उस समय के विसंवादी हो गये जगत का प्रतिचाद करके, उन्होंने उससे एक नया संवाद (सिधेसिस) प्रदान किया।

वेद के धर्मियों ने विश्व का एक सामग्रिक भावबोध पाया था। उनका विश्व-दर्शन एक महान् कविता के रूप में हमारे सामने आता है। पर उस कविता में भी ये विश्व के स्वयम्-भक्ताश्च केन्द्र सविता तक तो पहुँच ही गये थे। गायत्री में उनका वही साक्षात्कार व्यक्त हुआ है; किन्तु यह दर्शन केवल मात्रात्मक था, प्रजात्मक नहीं। इसी कारण इसकी परिणति मात्रातिरेक में हुई। देह, प्राण, मन, इन्दियों के स्तर पर उत्तर कर यह मात्रातिरेक स्वयम्-भू सविता के सेजस्-केन्द्र से विच्छुत और वियुक्त हो गया। अभिव्यक्ति अपने मूल लीत आत्म-शक्ति से विच्छुड़ गई। मात्रात्मक में सारा जोर अभिव्यक्ति पर ही आ गया। वृक्ष का मूल हाथ से निकल गया, केवल नूल पर ही निगाह अटक गई। जह से कट कर सत्त्व के कलेकर में हरियाली कब तक रह सकती थी? सो वह मुझने लगा, उसका हास होने लगा। यहीं वेद वेदामास हो गया। सविता के उद्दीप्तों का गायक ब्राह्मण पथ-च्छुत और वेद-भ्रष्ट हो गया। फलतः कमं-काण्डी ब्राह्मण-ग्रंथों की रचना हुई।

तब उपनिषदों के धर्म प्रतिचादी शक्ति के रूप में उदय हुए। धर्मिय राजधियों ने प्रकट होकर अपने विजेता ज्ञान तेज और तपस् द्वारा सविता

का नूतन साक्षात्कार किया। बेदों को महामाव वाणी के केन्द्र में उन्होंने प्रजान का स्वयम्-प्रकाश सूखे उगाया। लेकिन उपनिषद् की ज्ञानविद्या भी इष्टाभाव से आगे न जा सकी। कालान्तर में वह ज्ञान भी विकृत होकर स्वेच्छाधारियों के हाथों निलिङ्गता, पलायन और स्वार्थ का औजार बना। अब-सर पाकर दबे हुए कर्ते-करणी आहारात्म ने फिर सिर उठाया। ज्ञानविद्या पर फिर छाई बेद-विद्या हाथों हो गयी। उपनिषद् के बहुज्ञानियों से लगा कर अमण पाल्वं तक, माद, दर्शन, ज्ञान को तपस् द्वारा जीवन के आचार-व्यवहार में उतारने की जो एक महान प्रक्रिया धर्मित हुई थी, वह कुण्ठित हो गई। तब महाबीर का उदय एक अनिवारि विग्लड़ी शाखिल के रूप में हुआ। दीर्घ और दारुण तपस्या द्वारा उन्होंने दर्शन और ज्ञान को जीवन के प्रतिपास के आचरण की एक शुद्ध क्रिया के रूप में परिणत कर दिलाया। इसी से दर्शन के इतिहासकारों ने उन्हें क्रियावादी कहा है। क्योंकि उन्होंने बस्तु और व्यक्तिमात्र के स्वतंत्र परिणामन का मन्द-दर्शन जगत को प्रदान किया था। ' 'मनुष्य स्वयम् ही अपने गाय का विद्युत है। अमं कर्ते॥ यहने, हसने देखने ने देखने देखने को वह स्वतंत्र है। वह स्वयं ही अपने आत्म का कर्ता और विद्याता है। वह स्वयम् ही अपने सुस-इल, हृषि-विद्याद, जीवन-मूल्य का निषाविक और स्वामी है। ' '

इससे प्रकट है कि आज का मनव्य जिस आत्म-स्वातंत्र्य को सौज रहा है, उसकी प्रस्थापना उपनिषद् युग के अधिः, धर्मण पाश्वं और महाभ्रमण महाबीर कर चुके थे। इस तरह मूलतः आधुनिक यूग-चेतना का सूक्ष्मपात ईसापूर्व की मठवी सदी में ही हो चुका था। विचार और आचार की एकता ही इस चेतना का मूलाधार था। महाबीर के ठीक अनुसरण में ही दुःख आये। उनके व्यक्तिगत में मैं महाबीर का ही एक प्रस्तार (प्रोजेक्शन) देख पाता हूँ। वे दोनों उस युग की एक ही क्रिया-शक्ति के दो परस्पर पूरक और अनिवार्य आधार थे। महाबीर को परात्पर परमाहुरी सत्ता के पूर्ण साक्षात्कार के बिना चैन न पड़ा। दुःख जगत के तात्कालिक दुःख से इतने विचलित हुए, कि दुःख के मूल की सौज तक जा कर, स्वयम् दुःख-मूकत होकर, सर्वे के दुःख-भोगन के लिए संसार के समक्ष एक महाकारणिक परिवारा के रूप में अवतरित हो गये। आत्म-तत्त्व और विश्व-तत्त्व, तथा उनके दोनों के मौलिक सम्बन्ध के साक्षात्कार तक पाना उन्हें अनिवार्य न लगा। पूर्ण आत्म-दर्शन नहीं, आत्म-बिलोपन ही उनके निर्बाण का लक्ष्य हो गया। सो 'अव्याकृत' और 'प्रतीत्य समुत्पाद' का सर्वन करके उन्होंने विश्व-प्रपञ्च से उत्पन्न होने वाले सारे प्रक्षनों और समस्याओं

को मौण कर दिया। मगर महावीर तत्त्व तक पहुँचे बिना न रह सके। सो वे तत्त्व के स्वभाव को ही अस्तित्व में उतार साने को चेष्टना हुए थे। ताकि जीवन की समस्याओं का जो समाधान इस तरह आये, वह केवल लाल्कालिक निष्ठ वाह्याचार का कार्यत न हो; वह स्वयंभू सत्य का सार्वभौमिक और सार्वकालिक प्रकाश हो। वह केवल मार्गिक और कार्यिक न हो: वह तात्त्विक, स्वामार्गिक और स्वायत्त मी हो। स्वयम् तत्त्व ही भाव बन कर जीवन के वाचार में उतारे। उनका प्राप्तव्य चरम-परम सत्ता-स्वरूप या, इसी कारण उन्होंने इतिहास में अप्रतिम, ऐसी दीर्घ और दृदीन्त तपस्या की। वस्तु मात्र और प्राण मात्र के साथ वे स्वगत और तदगत हो गये। सर्वज्ञ अहंत् महावीर में स्वयम् विश्व-तत्त्व मूर्तिमान होइए इस पृच्छी पर उत्तर:

ईसापूर्व की छठवीं सदी में, समूचा जगत् अन्तिम सत्य को जान लेने की इस चेष्टनी से उड़ियाई पड़ता है। मारे सोकाकाश में एक महान् अतिकान्ति की लहरें हिलोरे लेती दीखती हैं। उस काल के सभी दृष्टा और जानी विचार को आचार बना देने के लिए, धर्म को कर्म में और तत्त्व को आस्तित्व में परिणत कर देने को जूझते दिखाई पड़ते हैं। इसी से सक्रिय ज्ञान (आवश्यकित नॉलिज) के शुरूत्वर व्यक्तित्व, उस काल के मूर्यगड़ल के हर देश में पैदा हुए। महावीर में लाज्जोरत, मेन्शियस और कॉन्स्यूमियस, युनान में हिराकिलटस और पायथायोरस, किल्स्टीन में येमियाह और इलेक्ट्रिल तथा पारस्य देश में अर्थूस्त्र, और भारत में महावीर और बुद्ध एक साथ, आत्म-धर्म को सौबे आचार में उतारने की सहानियात्मिक मंत्रवाणी उच्चारित कर रहे थे। वस्तुतः वह एक सार्वभौमिक क्रियावादी अतिकान्ति का युग था।

* * *

महावीर की पञ्चीकरणी निकाण-शती की गुंज जब कारो ओर के बातावरण में सुताई पहों, तो अनायास मेरे मन में यह भाव उदय हुआ, कि क्यों न मगवान के व्यक्तित्व और कृतित्व पर कोई सूजनात्मक काम किया जाए। राम, कृष्ण, बुद्ध, कीस्त केवल सम्प्रदायों तक सीमित नहीं रह सके हैं। इतिहास और साहित्य दोनों ही में उन पर अर्थात् अन्वेषणात्मक और सूजनात्मक कार्य हुआ है। उनकी तुलना में महावीर इतिहास के पृष्ठों में बहुत धूमधार पड़ गये दिखाई पड़ते हैं। साम्प्रदायिकता के घेरे से परे, विश्व-पुरुष महावीर की कोई सही और जिन्दा 'इमेज' न इतिहास में सुलभ है, जोर न जगत् के दर्शन और साहित्य

के अंशों में। मेरे जी में एक हुद्देवर्ष संकल्प जागा कि, जो महावीर मूर्तिमास विश्वनत्त्व होकर इतिहास में चले, काल के विपर्यगामी चक्रनेत्रि को उलाझ कर जिन्होंने उसे अपने चिदाकाश में गाड़ दिया, और सम्प्रण सृष्टि को हिंसा के दुष्कर्त्र से मुक्त कर जो उसे अपनी जाग्यत्य चेतना से सम्बद्ध दिशा में माड़ गये, उन्हें अपने सृजन द्वारा मैं साम्प्रदायिकता के मुद्रा कारागार से मुक्त करूँगा। एक अनिवार्य प्रकार ने मुझे बेचैन कर दिया कि जिस परम पुरुष ने, प्राण-मात्र को अपनी नियति का स्वयम्-प्रकाश विधाता और निर्माता बनाने के लिए जड़त्व के अभ्यास अन्धकारों में उत्तर जाना कुचूल किया, और महाकाल के गर्भ में खो जाने तक का खतरा उठा लिया, उस शिलोक और शिकाल के पाश्वत चक्रवर्त को समर्थ के मलबों में से खोद निकाल कर, जीवन की महावारा में उसे यथास्थान प्रतिष्ठित करना होगा। विश्वेद्वर महावीर के मन्त्रे और चिर जीवन व्यक्तित्व को सृजन द्वारा अनावृत करके, आज के स्वातंत्र्य-कामी जगत् के सामने, उनकी एक सही अस्मिता और पहचान प्रकट करनी होगी।

इसी पुकार के प्रत्युत्तर के रूप में यह उपन्यास प्रस्तुत हुआ है। एक विशुद्ध कृतिकार की बेचैन और बंसोक कर्जा में से ही महावीर की यह 'सम्भवामि मुग्य-युग्म' व्यक्तिमत्ता अवतीर्ण हुई है। जैनागमों में और इतिहास में महावीर के व्यक्तित्व को एक बहुत धूंधली रूप-रेखा (कंटूर) ही हाथ आती है। इतिहास में महावीर को लेकर आज भी जिसनी भ्रातियाँ मौजूद हैं, उन्हीं द्वायद ही उस कोटि के किसी महापुरुष के बारे में हो। दिग्म्बर जैन सम्प्रदाय के ग्रंथों में तो महावीर-जीवन के उपादान लगभग नहीं कित ही मिलते हैं। तत्कालीन इतिहास की पृष्ठ-भूमि और इवेताम्बर आगमों में उपलब्ध महावीर-जीवन की पौराणिक गाथा ही एकमात्र वै क्लोन है, जिससे मैं अपने सृजन के लिए, किसी कदर मूर्ति आवार अप्ति कर सका हूँ। शेष में तो यहीं प्रस्तुत महावीर अन्ततः एक कलाकार के अन्तःसाक्षात्कार (विज्ञ) में से ही प्रतिफलित और प्रकाशित हुए हैं।

इस किताब को लिखने के दौरान बार-बार मैंने जैसे खुली अस्त्रों देखा है, मानो साक्षात् हिमवान् जायचित् फी घरती पर चल रहा है। और उसके हर चरण-पात के माथ सृष्टि के कण-कण में एक मौलिक अतिकान्ति घटन हो रही है। जैनों के जड़ीभूत साम्प्रदायिक ढाँचे में छले, और मन्दिर-मूर्तियों में बन्दी महावीर ये नहीं है। और न महज इतिहास की तथ्यों और तारीखों से निभित

लिङ्कों पर दिखाई पड़ने वाले मीनियेषर महावीर थे हैं। ये तो वे महावीर हैं, जो मेरी सृजनात्मक क्रज्ञी के उन्मेष में, मेरी रक्त-शमनियों में आपोकाप, उत्तरोत्तर सुलते और उजलते चले गये हैं। मानो कि मैं केवल कलम चलाता रह गया हूँ, और मगवान स्वयम् ही मेरी कलम को नोक से कागज पर उतरते चले आये हैं। अनेक बार माथी रातों में महाकाल के विराट् शून्य में एक दक्षताकाता रह गया हूँ, और मेरी दृष्टि के कलक पर वे प्रभु अन्तरिक्ष में से जबलन्त उत्कीर्ण होते चले आये हैं। अपनी इस सृजनानुभूति को इससे अधिक, शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। निरन्तर यह प्रतीति दृढ़तर हुई है, कि स्वयम् श्री मगवान के अनुग्रह विना कोई भास्तु नहिं या रचनाकार उनकी राजार्दी जीवन-लीला का गान नहीं कर सकता; क्योंकि अंशतः और एक सास अर्ध में उन प्रभु के जीवन में सहभागी हुए विना, उनके समग्र के साथ एकताने हुए विना, अपनो रक्तचाहिनियों में पल-पल उस परमाग्नि की शारण किये विना, कला में उनकी जीवन्त भूति नहीं उभारी जा सकती। इसी से कहना चाहता हूँ कि यह कृति मेरा कर्म स्व नहीं, मेरे माध्यम से स्वयम् उन मगवान का ही स्वैच्छिक प्रकटीकरण है। इसमें जहाँ भी सीमाएं, त्रुटियाँ या कमियाँ हैं, वे मेरे माध्यम की अल्पता का परिणाम ही कही जा सकती हैं। चर्ना तो महावीर अपने को मेरी अन्तदृष्टि के समक्ष आरपार और अशेष स्तोलते चले गये हैं। इतने मार्गों, अंगिभाओं, रूपों और आयामों के साथ वे मुसलसल मेरे मीतर अनावृत (अनफोल्ड) होते चले गये, कि उन अनन्त पुरुष के बैश्व और विभा को समेटना, मेरे सान्त अस्तित्व के लिए एक मारी कसोटी सिद्ध हुआ है।

साम्प्रदायिक जैन अपने ज्ञानों की सीमित साधा में वर्णित, किसी जैन महावीर को मेरी इस कृति में लोजेंगे, तो शायद उन्हें निराश होना पड़ेगा। यहीं तो विषुद्ध विश्व-पुरुष महावीर आलेखित हुए हैं, जो केवल जैनों के नहीं, सब के थे, हैं। जो अपने युग के युगधर, युगंकर और तीर्थंकर थे। उस युग की पीड़ा और प्रजा जिनमें संयुक्त रूप से व्यक्त हुई थी। अपने काल के एक लीख प्रश्न और चुनौती के उत्तर में जो महाकाल-पुरुष हमारे बीच मानुष तन घर कर आये थे, वे आदर्दाँ की निरी जड़ीमूत पूजा-मूर्ति नहीं थे। मात्रवीय रक्त-सास की समस्त ऊष्मा के साथ वे हमारे बीच, नितान्त हमारे आत्मीय होकर विचरे थे। उनके व्यक्तित्व में मानुष और अतिमानुष तत्व का अद्यमूर्त समायोजन और संयोजन हुआ था। ऐसा न होता तो वे हमारे इतने प्रिय और पूज्य कर्से हो सकते थे। जैनायामों में महावीर की मानुष मूर्ति सुलभ नहीं है। एक आदर्दाँ और

अतिमानव प्रजा-मूर्ति ही हाथ आती है। वह आज के मनुष्य को, जाज के इस सौषण जीवन-संग्राम के बीच एक अभीष्ट तृप्ति और समाधान के से दे सकती है? उन मगवान का परम अनुग्रह हुआ, कि उन्होंने मेरे कवि के हाथों एक जीवन मनुष्य के रूप में, अभी और यहाँ के इन लोक में प्रकट होकर चलना स्वीकार किया है। मेरी इस कृति में, उनकी मानवता ही जीवन को नन्द असिधारा पर चलने हुई, अनायास अतिमानवता में उत्तीर्ण होती चली गई है।

कोई भी सर्वक कलाकार सम्प्रदाय-बद्ध तो हो ही कैसे सकता है। इसी से मेरे महावीर जैन-अजैन, दिगम्बर-इवेताम्बर, ब्राह्मण-थमण के सारे भेदों से परे, चिन्हित विश्वात्मा महावीर है। इस सूजन में ब्राह्मण काङ्गमय, जैन बाङ्गमय या इतिहास का उपयोग मैंने केवल साधन-स्रोतों के रूप में किया है। उनमें से किसी का भी सटीक प्रतिनिष्ठित करने का दावा मेरा नहीं है। मेरे महावीर सम्भवतः वे गाधार्थ महावीर हैं, जैसे वे शूर्य जन्मे, जिसे, चले शीर रहे। वे मेरे मन अत्यन्त निजस्वरूप, निजी महावीर हैं।

दिगम्बर और इवेताम्बर आगम तथा इतिहास में उपलब्ध तथ्यों का चुनाव मैंने नियान्त अपनी सूजनात्मक वाक्यकला के अनुसार किया है। किसी प्रकार का साम्रादायिक पूर्वग्रह मेरे यहाँ लेख मात्र भी सम्भव नहीं था। मेरे कलाकार की सत्यान्वेषी दृष्टि, महाभाव चेतना, और सौन्दर्य-बोध में जो तथ्य अनायास आत्मसात् हो गये, उन्हीं का उपयोग मैंने किया है।

इस मन्दर्म में उदाहरण के साथ कुछ स्पष्टीकरण जारी हैं। मसलन इवेताम्बर आगमों में कथित मगवान के ब्राह्मणी के गर्भ से क्षत्राणों के गर्भ में स्थानान्तर का मैंने मात्र प्रतीकात्मक उपयोग किया है। यानी वेद-च्युत और यज-अष्ट ब्राह्मणत्व की महावेदना इस ब्राह्मणी के भीतर ही डलकर्त्तम हो सकी, और उसीके उत्तर में भानो यज-पुरुष महावीर के ब्रह्मतेज ने एहले उसके हृदय-गर्भ में प्रवेश कर उसे समाधीत किया। और अगले ही क्षण वह स्वर्ण-सिंहारोही यजपुरुष उसे क्षत्रिय-कुण्डपुर की ओर धावमान दिखायी पड़ा। इस प्रकार ब्राह्म तेज और क्षात्र तेज के संयुक्त अवनार महावीर ने एक बारगो ही ब्राह्मणी और क्षत्राणी दोनों माँओं के गर्भ को कृतार्थ किया। इसी प्रकार इवेताम्बरों की मान्यता है कि महावीर ने विवाह किया था, दिगम्बरों के अनुसार वे कुमार-तीर्थकर ही रहे। विवाह को उन्होंने अंगीकार न किया। मैंने एक उपयुक्त प्रसंग

उपस्थित कर, महावीर और यशोदा का परम मिलन तो आयोजित किया, पर किसी सांसारिक प्राणिक विवाह में उनको बर्बिकर, उनके उस अनन्त मिलन को सीमित करना मेरे कवि-कलाकार को न साया। वह के तट पर आत्मिक भाव से भरपूर मिल कर भी, सांसारिक स्तर पर वे एक-दूसरे से दिदा ले गये। तब आत्मा के स्तर पर एक अत्यधीन रोमांस में उनका मिलन अनन्त हो गया। जरा, मृत्यु, रोग, शोक, विषेश की दैहिक-मानसिक उपाधियों और व्याधियों से पर, भूमा के भीतर उनका एक शाश्वत मिलन घटित हुआ। यह अधिक कलात्मक, सुन्दर, प्रिय, और महावीर के व्यक्तित्व के उपर्युक्त लगता है। उनके परिवेश की अनेक स्थितियों के साथ उनके सम्बन्ध और मिलन को मैंने रोमांसी भूमा के इसी बहुआयामी लीक में घटित किया है। उनके ऐसे सारे सम्बन्धों और व्यवहारों में मैंने परम बीतराग और पूर्ण अनुराग को संयुक्त (एन्टीग्रेल) मूर्मिका उपस्थित की है। ठीक वही, जो किसी सर्व-व्यक्ति पुरुषोत्तम या तांचंकर में सहज सम्भव होती है। वे किसी रुक्ष या भीर नंतिकता से चालित नहीं होते, विशुद्ध और डायनामिक (प्रवाही) आत्मालोक से उजड़वल होता है उनका समूचा चारित्य। वह एक अविकल्प (इन्टीग्रेटेड) सम्पर्क चारित्य होता है।

जैन ग्रन्थों में उपलब्ध महावीर की जीवनी में सती चन्दना का प्रसंग ही सबसे अधिक हृदय-स्पर्शी है। कृष्ण, बुद्ध और क्रीस्ट के जीवन-चरितों में ऐसे भास्मिक प्रसंग बहुतायत से मिलते हैं। इसका कारण मुझे यही सगता है कि महावीर का जीवन और प्रवचन, बीद्वागमों के सी बहुत बाद में ही लिपिबद्ध हो सका। तब तक उनको अनुशास्ता परम्परा के श्रमणों ने उनके सास्त्रिक जीवन-उथाओं को बहुत हद तक बनी-बनाई, कठोर (रिचिड) आचार-संहिताओं तथा सिद्धान्तों से छोड़ दिया था। इसीसे बुद्ध की तरह महावीर का कोई महाभाव व्यक्तित्व हमारे सामने नहीं आता। मुझे बार-बार प्रतीति हुई है, कि स्वयम् उन भगवान की अचूक कृपा के फल-स्वरूप ही, मेरे कवि की कलम से उनका वह विलुप्त महाभाव स्वरूप इस कृति में किसी कदर मूत्र और साकार हो सका है। जो भगवान समस्त चराचर जगत् के एकमेव आत्मीय होकर रहे, उनका व्यक्तित्व ऐसा भावहीन, रसहीन और रुक्ष हो ही कैसे सकता है, जैसाकि वह जैनागमों में उपलब्ध होता है। वे मेरे मन के बाहर जहीमूत सिद्धान्तों और आचार-संहिताओं से गड़े हुए महावीर नहीं हैं, जीवन, ज्वलन और प्रवाही महावीर नहीं, जो कि उन्हीं

के हारा निरूपित इच्छा के निरन्तर परिणामनशील स्वरूप के अनुसार।

सती चन्दना का कथा-प्रसंग इवेताम्बर और दिगम्बर ग्रन्थों में विभिन्न रूप से वर्णित है। इवेताम्बरों ने चन्दना को अंगराज दण्डवाहन की पुत्री और चम्पा की राजकुमारी शील चन्दना बताया है। इस रूप में वह महावीर की बड़ी मौसी पद्मावनी की बेटी के रूप में सामने आती है। दिगम्बरों ने चन्दना को वैशाली के गणनाथ महाराज चेटक की सबसे छोटी पुत्री और महावीर की लगभग समवयस्का छोटी मौसी कहा है। चन्दना का यह हुसरा रूप और उसकी समूची दिगम्बर कथा, मेरे कथाकार को अपने प्रयोजन के लिए अधिक उपयुक्त और कलात्मक लगी। समप्र कथा-प्रबन्ध जिस तरह मेरी कल्पना में उद्भावित (कान्तीव) हुआ है, उसमें हमजौली मौसी चन्दना ही अधिक संगत प्रकृति होती है। चम्पा की राजकुमारी शील चन्दना को मैंने एक अतिरिक्त पात्र के रूप में अंगीकार कर लिया है, और उसे एक विशिष्ट प्रतीकात्मकता प्रदान कर दी है। प्रसंगतः यही यह रूपष्ट कर दीं कि इस पुरे उपन्यास में पात्रों की वय-तिर्णय के झमेले में मैं ऊर्जा नहीं पड़ा हूँ। एक काल-खण्ड विशेष में कई पात्र घटित हैं। उनके बीच के सम्बन्ध और कथा-सन्दर्भ में ही अधिक महत्वपूर्ण हैं। एक सुरचित कथा-मृणला में यथास्थान वे आ गये हैं। उनको उन्होंको लेकर मेरे पाठक या समीक्षक विवाद में न पढ़ें। यदोंकि उस हद तक की तथ्यात्मकता को मैंने मूलतः ही अस्वीकार कर दिया है।

मेरे कवि के अन्तःसाक्षात्कार (विज्ञ) में, चन्दना मगवान के साथ मगवती के रूप में लही दिक्षायी पड़ती है। सच्चिदगतन्त्र प्रमुखी अन्तःस्थ आह्वादिनी शक्ति, उनकी असिद्धात्म धर्म-सहचरारिणी, पुरुषोत्तम की आत्म-सहचरी, उन्हीं की कियाशील चिद्वक्ति का एक साकार विग्रह। उनकी परब्रह्मी आत्मा के सोन्दर्य और ऐश्वर्य की एक सागोपाग अमिक्यवित्ति। उनके अन्तःस्थ महामात्र और महाकारुणिक प्रेम की, सर्वभराचर को सुलभ एक मातृ-मूति। जगदीश्वर के साथ लही त्रिलोक और त्रिकाल फौ जगदीश्वरी माँ : छतोंस हङ्कार आयिका-संघ की अधिष्ठात्री महासती चन्दनबाला। नारीत्व का वह सारांशिक परम सोन्दर्य और प्रेमभय स्वरूप, जो सहस्रान्दियों के आरपार, मानव-इतिहास की कई पीड़ियों को एक जगद्वात्री दूध की धारा को तरह आप्लावित करता चला जाता है। इस प्रकार मेरी चन्दना के

रूप में, सृष्टि-प्रकृति में जो नारी का विशिष्ट 'फ़ंक्शन' (प्रवृत्ति) है, उसे अत्यधिक घोजता में स्वीकृति, समर्थन और तात्त्विक भूल्य प्राप्त होता है। यहीं परम पुरुष ने प्रकृति में अपने आत्म-बैमबू को अभिव्यक्ति देकर, उसे भी परम सार्थकता और कृतार्थता प्रदान की है। इस चरित्र के अंकन में और नारी के साथ महाबीर के अन्य सम्बन्ध-सन्दर्भों में, मेरा कलाकार जैनों की कहुर सैद्धान्तिक भाष्यताओं तथा आचार-कास्त्रीय सीमा-मर्यादाओं से वास्तित नहीं हो सका है। अनन्त पुरुष महाबीर को सिद्धान्तों की जड़ में कैसे बोंधा और उपलब्ध किया जा सकता है। उन्हें हम निरन्तर प्रबाही अपने आत्म-स्वरूप के अनुरूप ही अपने लिए उपलब्ध कर सकते हैं, और रघु सकते हैं। 'आकी रही भावता जैमी, अभु मूरत देखी लिन तैमो' और 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तास्तर्थैष मजाम्यहम्' के अनुसार ही भगवान को हम अपने अभिन्न आत्मीय रूप में प्राप्त कर सकते हैं।

कई और भी सत्यात्मक और सत्यात्मक विभावनाएँ (कॉन्सेप्ट्स) इवेताम्बर और दिगम्बर जैनों से समान रूप से, अपनी कलात्मक आवश्यकता और भगवान के समग्र व्यक्तित्व की अपनी सृजनात्मक अवतारणा के अनुरूप, मैंने स्वतन्त्र भाष से बनी हैं। कोई साम्प्रदायिक पूर्वग्रह तो किसी कलाकार के साथ संगत ही नहीं हो सकता, केवल एक विद्यायक, सर्जनात्मक प्रेरणा ही ऐसे चूनावों की निष्णयिक हो सकती है। मसलन महाबीर के बड़े माई नन्दिकद्धून का पात्र मुझे अनिवार्य नहीं लगा, सो उसे मैंने ग्रहण नहीं किया है। यशोवरा के साथ उनका सांसारिक विवाह मुझे अनुकूल नहीं पढ़ा, गो महाबीर की पुत्री प्रियदर्शिना और जामात् जामालि को उस सन्दर्भ में ग्रहण नहीं किया है। तीर्थंकर काल में इन पात्रों का प्राकट्य किसी अन्य रूप में प्राप्त हो सकता है।

केवल दो सर्वथा कल्पित पात्र मैंने रखे हैं, जिनका उल्लेख यहीं नहीं करूँगा। क्योंकि उनका यहीं अनावरण, रचना में उनके बास्तविकता-बोध को हुस्त कर सकता है, और पाठक की रमण्यता को आधान पहुँचा सकता है। कोई भी रद्दनाकार आत्मिर अपनी कल्पना-शक्ति से ही किन्हीं पौराणिक या ऐतिहासिक महापुरुष की सांगोपांग रचना कर सकता है। चाहे वास्त्रीकि या तुलसी की रामायण हो, चाहे वेद व्यास का महाभारत, चाहे कालिदास का शाकुन्तल, और चाहे जैन भगाकवियों और आचार्यों द्वारा रचित तीर्थंकरों के जीवन-वृत्त हों, उनमें बालेखित सभी प्रमुख या सहयोगी पात्र उनकी सृज-

नात्मक पारदृष्टि और कल्पना की हो उपर्युक्त होते हैं। और इन्हीं महाकवियों के सारस्वत प्रसाद के हम जाणी हैं, कि आज भी हमारे मालबोक और कल्प-लोक में राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर या क्रीस्ट जीवित रह सके हैं। इसी अजंक कल्प-शक्ति ने अपनी कालजगते दरिलाल के लल, जहाँ शत्रुघ्नियों के आरपार मनुष्यों की हजारों जीवियों के रक्षण में संकान्त किया है, और इस दण तक हमारे रक्षालयों में उन्हें अमर और जीवित रखता है।

* * *

वैदिक ज्ञान की यह उक्ति कि कवि 'कविम् नीषी परिमू स्वयम्भू' होता है, एक मौसिक यत्य की अभिव्यक्ति है और सर्वथा सार्वक है। अत्याधुनिक मनोविज्ञान और फ़िजिक्स (मौतिकी) तक से इस बात को समर्थन प्राप्त हुआ है कि कल्पना-दाचित महज कोई हवाई उड़ान या बल्पना मात्र नहीं है। अत्याधुनिक परा-मनोविज्ञान और आध्यात्मिक मनोविज्ञान के बादि जनक कार्ल गुस्तेब पुंग ने गहरे अन्वेषण के साथ यह प्रस्थापित किया है कि सत्यतः और वस्तुतः किसी पारदृष्टा कलाकार की सक्षमता और तोत्र कल्पना याक्षित ही, मानवीय ज्ञान की एकमेव सुलभ ऐसी क्षमता (फ़ेकल्टी) है, जो बहुत हुद तक जलीनिय प्रश्ना के निकटतम पहुँच सकती है। वह मानों आत्मिक सर्वज्ञता का ही एक ऐन्ड्रिक-मानसिक पर्याय है। रचनाकार की ज्ञानात्मक चेतना अपनी सूजनात्मक ऊर्जा के चरम उन्नेष के क्षणों में एक ऐसी परा-काला को स्वर्ण करती है, जहाँ उसके कल्प-वातावरण पर देशकाल के तमाम व्यक्षणों को नेदकर, हजारों वर्ष पूर्व के व्यक्तित, वस्तु और घटना-कथ तक अपने यथार्थ रूप में साक्षात् हो सकते हैं। तब कोई आइचर्य नहीं कि कृष्णदेव, मरत, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, शकुनतला, सावित्री-सत्यवान् या होमर की हेलेन, उनके रचयिता महाकवियों द्वारा तादृष्ट अपने सारभूत रूप में हमें ज्यों के त्यों उपलब्ध हो सके हैं।

कई अधुनात्मन मौतिकी-ज्ञात्मिकों (फ़िजिसिस्ट), वैज्ञानिक उपलग्नात्मकारों और विज्ञान-दार्शनिकों ने बत्तमान में यह प्रस्थापना की है कि व्यक्तियों, वस्तुओं और घटनाओं के स्थूल भौतिक पर्यायों का कालान्तर में विवरण हो जाने पर भी, उनके सूक्ष्म पर्याय अनन्त लोकाकाश में अक्षुण्ण रहते हैं। बहुत सम्भव है, कभी आगामी युग के वैज्ञानिक देसी-विज्ञन और रेडियो की तरह ही ऐसे यंत्रों का आविष्कार कर दें, जिनके माध्यम से हम सुहर

अतीत में हुए वेद-उपनिषद् के मन्त्रोच्चार, या अन्य ज्योतिष्ठों की उपदेश-वाणियों को तादृष्ट सुन सकें, और उनके सर्वांग व्यक्तित्वों और उनकी जीवन-लीलाओं को प्रत्यक्ष अपनी आँखों से देख सकें। जब स्थूल-दशर्तों भौतिक विज्ञान सी ऐसी कालभेदी उपलब्धि करने की बात सोच सकता है, तो मनुष्य की सूक्ष्म-दशर्तों मानसिक और आत्मिक ज्ञान-शक्ति तो निश्चय ही उससे आये जा सकती है, देश-काल के बारपार व्याप्त सूक्ष्म सत्ताओं का और भी अधिक ज्ञानन्त और सारांशिक साक्षात्कार कर ही सकती है। कल्पना शक्ति मी मनुष्य को एक ऐसी ही मानसिक-भाविक अतिदूरगमी, उद्धर्वगमी और अन्तर्गमी अभिमत्ता है, जो आत्मनित्यक सृजनोन्मेष और तीव्र संवेदना के क्षण में, अपनी लक्ष्यभूत किसी भी सत्ता या अतीत व्यक्तिमत्ता की एक लास 'वेद-संग्रह' (कम्पन-पटल) को स्पर्श कर, उसमें अक्षुण्ण विद्यमान उस सत्ता की सूक्ष्म परमाणविक पर्याय को पकड़ सकती है, उसका सचोट आकलन और अंकन कर सकती है।

उपनिषदों में और उससे प्रसूत वेदान्त में, इस सारी बाह्य सृष्टि को मनोमय कहा गया है। यानी कि इसका अस्तित्व केवल हमारे मन से उद्भूत कल्पना-तरंगों में है। अन्ततः अपने आप में इसका कोई ठोस अस्तित्व है ही नहीं। यह सब-कुछ महज हमारी कल्प-शक्ति का लेज है। इससे यह निष्कर्ष हाय आता है कि मनस्तत्व में सब-कुछ सतत विद्यमान है। मूल, वर्तमान, भविष्य की किसी भी सत्ता को लक्ष्य कर, यदि एक सतेज संकल्प शक्ति से हम उसे लीचें, तो वह सत्ता यथावत् हमारी मानसिक चेतना में मूर्तिमान हो सकती है। वेदान्त के प्रतिनिधि और प्रामाणिक ग्रन्थ 'योग वासिष्ठ' में एक द्रष्टान्त-कथा आती है, जिसमें यह दिखाया गया है कि एक व्यक्ति को एक कुटीर में बन्द कर दिया जाता है, और कुछ ही घण्टों में वह विगत हजारों वर्षों के अपने कई जन्मान्तरों को तादृष्ट अपनी सम्पूर्ण अनुभूति-चेतना के साथ जी लेता है। जैन पुराण आत्माओं के जाति-स्मरण, यानी उनके कई-कई पूर्व जन्मों की स्मृतियों की कथाओं से भरे पड़े हैं। कोई सचोट प्रसंग आने पर एक आत्मा विशेष, अपने एक या अनेक पूर्व जन्मों के जीवन को अपने मनोलोक में साक्षात् करके, उनकी समस्त घटनाओं और अनुभूतियों को जो लेती है। इन सब चीजों से यह प्रमाणित होता है कि हमारी मानसिक चेतना और अन्तर्द्देशेतना में त्रिलोक और त्रिकाल की सारी जीवन-लीलाएँ सूक्ष्म रूप में समाहित और अक्षुण्ण रहती हैं और किसी आसंगिक तीव्र

संशात के फल-स्वरूप वे ज्यों की त्वां हमारे अन्तःकरण में प्रत्यक्ष सजीव हो उठती हैं।

इस तरह प्राचोन परम्परागत और आधुनिक मनोविज्ञान, दोनों हो से हम इस सम्बादना पर पहुँचते हैं, कि सहजान्वयों-पूर्व के व्यक्तियों और घटनाओं को, उनके चरित्रों को हम आगनी तीव्र संवेदनात्मक फलपना-शक्ति से उनके यथार्थ स्वरूप में आकलित कर सकते हैं। बर्तमान में महाबीर की सूक्ष्मिति से सारा लोकाकाश व्याप्त है। क्योंकि लाखों लोग एकाग्र भाव से उनके जीवन और प्रवचन को धाद कर रहे हैं। फिर यह भी है कि महाबीर अब केवल अपनी मौतिक-मानसिक सत्ता से सीमित नहीं; उससे परे उनका व्यक्तित्व नित्य-सत्य आत्मिक सत्ता में अद्भुत हो गया है। उनकी सिद्धात्मा में चिलोक और चिकाल निरन्तर हस्तामलकवत् अलक रहे हैं। उनका ज्ञान-शरीर सम्बन्ध बहुगणों में व्याप्त है। इस प्रकार वे हमारी संकल्प-शक्ति और वैशिवक चेतना को, चहुं और से और भी अधिक सुलभ हो गये हैं। इस वस्तु-स्थिति को समझ रख कर सहज ही यह मान्य हो सकता है, कि महाबीर की सत्ता से ओतप्रोत आज के लोकाकाश के बांध जब आज मेरे कवि-कलाकार ने अपनी समझ एकाग्र चेतना से उन्हें स्मरण किया है, और लगतार दो चर्च के क्षण-क्षण में उन्होंके ध्यान और संकल्प में वह जिया है, तो कोई आश्चर्य नहीं कि मेरी सृजन-चेतना में उनका वह यथार्थ जीवन और अन्तर्गत सांगोपाण मूर्त हो सका हो, जो आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व उन्होंने जिया था। और कोई वज्र नहीं कि यो दो या अधिक कल्पित पात्र मैंने रचे हैं, वे महज रूपाली कितूर नहीं, बल्कि वास्तविकता में वे तब अस्तित्व में रहे हो, और मैं अपनी एकाग्र सृजनात्मक फलपना-शक्ति के बल उन्हें पकड़ने में समर्थ हो सका हूँ।

तब अद्वा की माफा में यह भी कह सकता हूँ, कि अब जन्म-मरण के चक से अतिकान्त, मोक्ष या शाश्वती (इटनिटी) में सम्पूर्ण नित्य विषमान भगवान महाबीर ने स्वयम् संभवतः अपने कवि पर ऐसी झप्पा की हो, कि हमारी पृथ्वी पर जिया गया उनका समग्र तीर्थकर-जीवन, उसके शब्दों में साकार हो उठे। मेरी अत्यन्त निजी आत्मानुसूक्ष्मिति ने बारम्बार मुझे यह प्रत्यय कराया है कि मैंने महज अपनी आत्म-परक (साङ्गेकिट्व) सत्तक से ही अपने प्रस्तुत महाबीर को नहीं रचा है, बल्कि स्वयम् लक्षण (आँड्जेकिट्व) महाबीर मेरे सृजनोत्मेपित चित्त-तन्त्र के माध्यम से अपनी स्वेच्छा से ही मेरे शब्दों

में ज्यों के त्यों व्यक्त हो जठे हैं। यह प्रतीनि भेरे सीतर इतनो प्रबल, अतवर्य और अनिवारि है, कि इसके विरोध में आने वाले किसी भी बौद्धिक तर्क के समक्ष मैं महज स्तब्ध मौन हो रहता हूँ। उसका किचित भी प्रतिकार मुझे तुच्छ और अनावश्यक लगता है। और तो और प्रामाणिक और आपने माने जाने वाले परम्परागत शास्त्रों को सीमित बौद्धिक प्रस्थापनाएं भी यदि इसके विरोध में सामने आयें, तो मैं उनसे बाधित और विचलित नहीं हो सकता। क्योंकि सृजनात्मक चेतना सदा सर्वेतोमुखी, संयुक्त (इंटीग्रल) और सामग्रिक होती है। वह सारे एकान्त बौद्धिक विधानों से कहीं बहुत अधिक पूर्णता के साथ, किसी भी सत्ता का सम्पूर्ण आकलन करने में समर्थ होती है। सच तो यह है कि अनेकात्म-मूर्ति, साक्षात् सत्ता-स्वरूप महावीर को किसी रचना-धर्मी कवि-कलाकार की अतैकान्तिक सृजन-चेतना ही सर्वांग आकलित और चिह्नित करने में समर्थ हो सकती है।

हमारे देश का बौद्धिक और साहित्यिक धर्म बेहृद सीमित, संकीर्णसना और पिछड़ा हुआ है। हमारे बाज के तथाकथित आधुनिकतावादी सूक्ष्याती (सॉफिस्टिकेटेड) साहित्य-समीक्षकों, और एकान्त स्थूल वस्तुवाद से पूर्वग्रहीत पाठकों के छोटे नज़रिये में भी उपरोक्त बातें हास्यास्पद भा हो सकती हैं। लेकिन जिस पश्चिम से यह भौतिक वस्तुवाद उधार लेकर हम अपनो आधुनिकतावादी दृक्कानदारी चला रहे हैं, उस पश्चिम के भौतिक-वैज्ञानिक, मनो-वैज्ञानिक, दार्शनिक और साहित्यिकार, उस महज इन्द्रिय-शोचर भौतिक वस्तुवाद को जाने कब से पीछे छोड़ चुके हैं। वे प्रति दिन वस्तु और चेतना के नवीनतर क्षितिजों का अनावरण कर रहे हैं। उनके यही शहज इन्द्रिय-मन सीमित वस्तुवादी अवबोधन (पर्सोप्शन) और दर्शन अव उन्नासवीं सदी की चीज़ हो चुकी है। सच ही यह एक उत्कट व्यंग्य और दयनीय विद्म्बना है कि भारत में अपने को अप-टू-डेट समझने की भाँति में जो रहे लेखक और विचारक, बीते कल के पश्चिमी नज़रियों को दातों से पकड़ कर हो, जोरो-शोरों से अपनी आधुनिकता की नुसायश करने में आज सी दिन-रात मशागूल हैं।

* * *

इसी मिलसिले में एक और भी मुहे को स्पष्ट कर देना प्रासंगिक होगा जिसका प्रयोग इस उपन्यास में हुआ है, और जो तथाकथित आधुनिकतावादी की निशाह में आपत्तिजनक और विवादास्पद हो सकता है। आप जैन प्रस्थों

में तीर्थंकर के गर्भायान, जन्म, अभिनिष्करण, कर्दल्य-प्राप्ति तथा निवापि के प्रसंगों को पंच-कल्याणक कहा गया है। इन अवसरों पर विभिन्न स्वर्गों के इन्द्र-इन्द्राणी, देव-देवाङ्गना, यज्ञ-यज्ञवर्च, अप्सराएँ आदि अधि-दैविक सत्ताएँ तीर्थंकर के कल्याणक-उत्तम का समारोह करने को युच्छी पर आते हैं। मैंने अपनी कथा में व्यान-विजन के माध्यम से उपरोक्त देव-सौकों के शरतों पर उत्तरने को स्वीकार किया है। लक्नोकी युवितायों द्वारा पार्थिव प्रसंग में उनके दिव्य वैश्व के अवतरण को ज्यों का त्यों चिह्नित किया है।

इन गम्भीरों दीड़े और हेठु भेड़े मन हैं नहीं हैं। पहला यह कि उक्त दिव्य परिवेश से संदित जो तीर्थंकर की 'इमेज' सदियों से हमारे सोक-मानस में बढ़मूल है, उसे विच्छिन्न करना मुझे उचित नहीं लगा। वह कुछ बैता ही लगता है, जैसे किसी परिपूर्ण कला-कृति को उसके फलक, कम्पो-जीवन (संरचना), परिषेश, बातावरण से हटा कर, उसकी संगति, सिफ्फनी और संयुक्ति (यूनिटी) को मंग कर दिया गया हो। सदियों से जो तीर्थंकर स्वरूप लोक के अवसेतन और अतिवेतन में संस्कारित है, उसे संदित करके यदि हम उसका कोई सुधारवादी चित्र उसारेंगे, तो लोक-मन के प्रति उसकी अचूक अपील सम्भव न हो सकेगी। इसी कारण जहाँ एक और मैंने चाहूँ महावीर की परम्परागत (ड्रेडीशनल) 'इमेज' को यथा-स्थान कल्पणा बनाई है, वही द्वासरी और उनको ज्ञानात्मक चेतना, मात्र-चेतना और सारे वर्तन-व्यवहार को रूप दाशोनिक और चारित्रिक मान्यताओं से मुक्त करके, एक सहज प्रवाही, स्वयम्-प्रकाश, गति-प्रगतिभान (डायनामिक) टू-ठेट महावीर को प्रस्तुत किया है। भनोवैज्ञानिक वृष्टि से लोक-हृदय में 'डायनामिक' महावीर को प्रतिष्ठित करने के लिए यही समायोजन मुझे सबसे कारगर प्रतोत द्वाजा।

इस किताब को लिखने के दौरान अक्सर मूँझे कई साहित्यिक मिर्चों तथा इस देश के मूर्खन्य पुरातात्त्विक और शोष-पंडितों तक ने भार-भार साक्षात किया, कि मूँझे अपने उपन्यास में शास्त्रों में वर्णित अलौकिक तत्वों, चमत्कारिक अतिशय-प्रसंगों (सुप्तर-नेचरल फिलॉमना) आदि को छाँट देना चाहिये। नहीं तो, आज के जन-मन को मेरा महावीर अपील न कर सकेगा। इन धीमानों और विद्वानों के ऐसे सुमारी पर अक्सर मूँझे बहुत हँसी आई है। आज के जन-मन का उनका ज्ञान कितना किताबी, अखबारी और उथला है, यह स्पष्ट द्वाजा है। किसी भी कृतित्व को ब्रह्म करने वाला

असली जन-मन वह सतही दीमाण नहीं है जो अनेक ऊपरी-बाहरी प्रभावों, प्रणालों और सन्देशों के झींच साले खाता रहता है। वह तो वह अन्तर्मन या सामग्रिक अवचेतना (कॉसेक्टिव अन्कॉनेशन) है, जो आदिकाल से आज तक के इतिहास-व्यापी ज्ञान, संस्कृति और विज्ञानों की अखंड अन्तर्वर्ता से निपत्ति है। उस तक जो कृतित्व रहेंगे उसे अनायास अपील कर सके, उसे उद्बुद्ध और प्रगतिमान कर सके, उसके मत्थबरोध को तोड़ कर, उसके बहाव को नयी भूमि और नयी शिखा दे सके, वही मेरे मन सच्चा सृजनात्मक कृतित्व कहा जा सकता है।

जो मी कुछ इन्डिय-गोवर न हो, जो स्थूल आँख से न दिलाई पढ़े, उस सबको नकारने और उसमें अविद्यास करने वाले एकान्त बुद्धिवाद और विज्ञान का युग तो जगत के अप-टू-डेट ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्रों में कभी का समाप्त हो चुका। अब तो विज्ञान की हुनिया में अन्तरिक्ष युग आविसूत हो चुका है; मनोविज्ञान परामानसिक, अतीन्द्रिय अगोवर के सीमान्तों पर मनुष्य की किसी सम्भावित आध्यात्मिक चेतना का अन्वेषण कर रहा है; और दर्शन के क्षेत्र में 'फिलॉमेनालॉजी' सारे दायरों को लोडकर हर दुर्घट-अदृश्य या कल्पनीय सम्भावना तक को अपने ज्ञान और खोज का विषय बना रही है। असोम अवकाश में हमारी आँख से परे, जाने कितनी हुनियाएँ फैली पड़ी हैं। हमारी पृथ्वी तो आज के ज्योतर्वेजानिकों की निगाह में, उन ज्ञात-अज्ञात परस्परों और ज्योतिमंय विश्वों के आगे बहुत छोटी पड़ गई है। तब महावीर या बुद्ध जैसे लोकोत्तर व्यक्तित्वों के सामिन्द्र्य में देवलोकों के उत्तरने की बात पर चौकना या मुँह बिदकाना, आज के सन्दर्भ में बहुत असानपूर्ण, अवैज्ञानिक और हास्यात्पद लगता है। मैं अपने इन आउट-फोरेंस साहित्यिक मिश्रों और मारतीय विद्या के बुद्धिवादी शोध-विद्वानों को स्पष्ट जताना चाहता हूँ कि उनका यह सुधारचादी और द्वद्य-आषुनिकताचादी नज़रिया असलियत में अब रुद्धीचादी होकर, बहुत पुराना पड़ चुका है। अवतारों, तीर्थंकरों या योगियों के सन्दर्भ में जो अधिदर्विक घटनाओं के घटित होने, या दिव्य सत्ताओं के आविर्भाव के विवरण मिलते हैं, उनकी बौद्धिक-तार्किक या सुधारचादी व्याख्याएँ, आज के प्रगत ज्ञान-विज्ञान के युग में बहुत कृतिम, बचकानी और नाकानीपरी लगती हैं।

तीर्थंकर महाचीर के आध्यात्मिक और मारवदीय पदस्थ (स्टेट्स) को जो मध्य-दिव्य विभावना (कॉन्सेप्ट) परम्पराओं और शास्त्रों से हमें उपलब्ध

होती है, उसके यथेष्ट कलात्मक और सोन्दर्यात्मक सर्जन के लिए, शिलोक और विकाल के अधीक्षक वाहे जाते तीर्थकर के उस परम महिमा-मंडित स्वरूप की सचोट कलात्मक अपील उत्पन्न करने के लिए, उनके व्यक्तित्व के अलौकिक ऐश्वर्यशाली परिवेश को स्वीकारना मुझे अनिवार्य प्रतीत हुआ। उन काट-चाँद देने पर तो उनकी वह त्रैलोक्येश्वर वाली इमेज हो खत्म हो जाती है, जिसके चरणों में लोक-लोकान्तरों के सारे बेभव समर्पित हो जाते हैं। देवलोकों के अकल्पनीय सुख-भोग और ऐश्वर्य भी, भव्यसोक के उस मन्युजयी अनिमानव के कदमों में पड़कर, अपनी तुच्छता और निमारता प्रकट करते हैं।

इकीकृत जाहे जो भी हो, लेकिन आदिकान में आज नक के सारे कथियों, कलाकारों और शिल्पियों ने प्रतोकों के रूप में ही सही, अनिमानवों के सर्जन में, उनके परिपाशवे के रूप में, उनके अलौकिक परम्पर का सोन्दर्यात्मक उपयोग तो किया ही है। पं. जवाहरलाल ने बहुत सही कहा था कि मिथकों और पुराकथाओं को हमें बास्तववादी नजार से नहीं पढ़ना चाहिये, उन्हें रूपकों के रूप में पढ़कर उनके गहरे मानवासाय में उत्तरने की कोशिश करना चाहिये।

* * *

बोद्ध आगमों में ईसापूर्व छठकीं सदी के मारत का एक सांगोपांग वस्तु-निष्ठ मौगोलिक और ऐतिहासिक स्वरूप उपलब्ध होता है। इसी कारण उस काल के मारत का ऐतिहासिक स्वरूप उत्पादने के लिए, मारतीय और पाहिचासी सभी इतिहासविदों और शोष-विद्वानों ने बोद्ध आगमों को ही मुख्य लोक के रूप में जपनाया है। इस माने में जैन आगमों के संदर्भ में गौण लोक के रूप में ही ग्रहण किये गये हैं। जैनागमों में चित्रित महावीर ऐतिहासिक से अधिक प्रोताणिक ही है। सो उनके बाधार पर महावीर की कोई ऐतिहासिक व्यक्तिमत्ता रचना सहज साध्य नहीं लग रहा था। लेखन के आरंभ में मेरी कुछ घुंघली-न्सी परिकल्पना ऐसी ही थी कि मुझे एक तीर्थकर को यनोवेशानिक तरीके से एक विराट् आध्यात्मिक और लोक-यतिनाता व्यक्तित्व प्रदान करना है। उसके लिए एक बास्तविक पृष्ठ-भूमि रचने के उपकरण में जब मैं बोद्धागमों में उत्तरा और राइस डेविड आदि उस युग के प्रामाणिक इतिहासकारों की मैले टटोला, तो वेशाली के विद्वाही राजपुत बर्द्धमान महावीर का एक सांगोपांग मूर्त स्वरूप मेरी बैस्तों आगे उभरता चला आया। उस

काल के धार्मिक, दार्शनिक, राजनीतिक, अर्थिक, सामाजिक परिप्रेक्ष्य में, अपने समस्त परिवेश के प्रति सक्रिय और उत्तरदायी एक जिन्हा महावीर अपनी अखिलो आगे भुजे बलते दिखायी पड़े। इस तरह अनायास ही अपने युग के इतिहास-विद्वाता के रूप में महावीर भुजे सुलभ हो गये। अपने काल के अर्थ, दर्शन, राज, समाज और अर्थ-खेत्रों को वे सम्पूर्ण संचेतना से आदर्श-सात् करते हैं। एक मरणे हुए जगत और युद्ध की पीड़ि, रुद्ध और संशर्श को वे अपने सीने में धड़कता अनुभव करते हैं। “सहसा ही मैं प्रतिष्ठुद्द हृआ कि जो नवीन युग-तीर्थ का प्रवर्तक तीर्थकर है, जो अपने समय का सूर्य है, वह अपने आमरण के लोक की विकृतियों और बेदनाओं से बेसरोकार कीसे रह सकता है ! अपने समय और विश्व को सम्पूर्ण मानवीय सम्बोधना के साथ वे अपने भीतर जीते और भोगते हैं।” “और तब अनायास ही वे नोक-परिषाता और इतिहास-विधाता को तरह बोलते और वर्तन करते दिखायी पड़ते हैं। अपने युग की चीत्कार और पुकार का मूर्तिमान उत्तर बन कर वे आर्यविनं की आसेतु-हिमाचल घरती पर विहार करते दिखायी पड़ते हैं।

पर उनकी चेतना और उनका व्यक्तिस्व इतिहास पर समाप्त नहीं, देश-काल पर खत्म नहीं। वे एक जन्मजात योगी हैं। देश-कालभौदी पीरिक चेतना लेकर ही वे जन्मे हैं। लोक के लिए उनकी संवेदना और सहानुभूति महज मानसिक और प्रासंगिक नहीं, वह प्रजानात्मक और आध्यात्मिक है। प्रासंगिक समस्याओं का समाधान भी वे बस्तुओं के मूल में जा कर, अपने अज्ञान के केरद में खोजते हैं। अपने युग की धार्मिक, मानसिक, दार्शनिक, अर्थ-राज-समाजनीतिक बस्तु-स्थिति का वे एक मोलिक विश्लेषण करते हैं, जो कि समस्या को जनायास ही आध्यात्मिक, मार्क्सीमिक और सार्वकालिक स्तर पर संक्षालन कर देता है। “और अचानक ही मैं देखता हूँ, कि मेरे महावीर को शाणी में, हमारे आज के जगत की तमाम समस्याएँ ज्यों की त्यों प्रतिविम्बित हो जाती हैं। स्पष्ट लग उठता है कि ठीक इस पल के हमारे मारत और विश्व को लक्ष्य करके बोल रहे हैं भगवान् महावीर। और जिस अतिकान्ति की बात वे करते हैं, ठीक वही हमारे वर्तमान युग की तमाम दुर्घट-अस्त समस्याओं को सुलझाने का एकमात्र कारणर उपाय प्रतीत होता है। लेकिन इस अतिकान्ति को मूलगमी रीशनी को पाने के लिए और उसे अपने युग के जगत में धर्मित करने के लिए मेरे महावीर

इतिहास के बाहर खड़े हो जाते हैं। मीमूदा अनाचारी व्यवस्था के दुश्चक्ष को तोड़ कर, उसे एक अभीष्ट सम्भादी दिशा में शोड़ देने के लिए उन्हें यह अनिवार्य भारत है, जिसे इस व्यवस्था के विनाशित हो कर ही इसको नाशप्रस्त जड़ों में विस्फोट की सुरंगें लगा सकते हैं।

इस प्रकार अनायास कुछ ऐसा घटन हुआ है कि मेरे महाबीर एक बास्ती ही संयुक्त रूप से ऐतिहासिक और पर्म-ऐतिहासिक (मेटा-हिस्टोरिक) व्यक्तित्व के रूप में सामने आते हैं। आरम्भ में ऐसी कोई स्पष्ट परिकल्पना मेरे सामने नहीं थी। लिलने के दोरान ही मुझे रूपद प्रतीति होती गई, कि महाबीर को उन्हें बाला में कोई नहीं होना। मुझे मात्र माध्यम बना कर, स्वयम् उन मगवान ने ही अपने को इस छुनि में नये सिरे से उद्घाटित, अनावरित और पुनर्जित किया है। आज की इस दिशाहारा, आत्महारा मानवता को देशकालानुरूप नूतन उद्घोषन देने के लिए हमारे युग के उन तीर्थंकर प्रभु ने मेरी कलम से उत्तर कर हमारी इस मर्याद घरती पर फिर से चलना स्वीकार किया है। यह उनकी कृपा और मर्जी है : मेरी क्या सामर्थ्य कि मैं उन्हें अपने मनचाहे भाँचों में ढाल सकूँ।

* * *

महाबीर-जीवन के जो यन्त्रिति उपादान इतिहास और आगमों में मैं उपलब्ध होते हैं, उनके आधार पर कोई घटना-प्रधान सुधूर्लित महाबीर कथा उचित मम्बव नहीं है। महाबीर किसी कथा-नायक से अधिक एक युग-विषयका और युगान्तर-दर्शी व्यक्तित्व के रूप ही हमारे सामने आते हैं। इसी से यह उपन्यास एक व्यक्तित्व और विचार-प्रधान महानाथा (एपिक) के रूप में ही अटित हो सकता है।

बीच में हमारे यहाँ विचार-कविता को बात उठी थी। मुझे लगता है कि उनके पौछे हमारे युग का कोई अनिवार्य तकाजा काम कर रहा था। आज भनुष्य-जाति इतिहास के अन्तिम सीमान्तरों पर, अपने अस्तित्व के लिए मरण-नक यूद्ध लड़ रही है। We are on the frontiers : and we seek a final answer. Here and Now, हम फँटियसं पर जूझ रहे हैं, और हमें दो दूक और आखिरी जबाब चाहिये। कोई ऐसा भौलिक समाधान, जो हमारे उत्तरे हुए अस्तित्व को एक नशा और अधारभूत आक्षयन (सब्लटेम) दे सके। हम भीचों पर हैं,

और एक हृद के बागे महज कलात्मक घुमाव-फिरावों, रचना-कौणसों और शिल्प-प्रयोगों में उलझने के लिए हमारे पास थीं और बकल नहीं है। हमें तसारा है एक ऐसे केन्द्रीय व्यक्तित्व की, एक ऐसे शलाका-पुत्र की, जो इतिहास की विकृत बुनियादों और घमासान चोराहों पर, सीधा एक अतिथान्ता महाशक्ति का विस्फोट कर दे। जो अपने व्यक्तित्व की शलाका पर अपने चाल को माप दे, और निविकल्प विचार की ऐसी जलती शलाका नींवें-सीधे हमारे सामने फेंके कि जो एक बारगी ही तमाम जड़-जर्जर दौड़ों को मस्ससात् कर दें, और स्वस्थ अस्तित्व को एक अचूक नयी बुनियाद ढालें। ऐसे सौके पर सपाट बयानी की नहीं जाती, वह आपोआप अनिवार्य होती है। एक विष्वलदी विचारधारा का सीधा विस्फोट इस घड़ी टाला नहीं जा सकता। चलिक वही कारण हो सकता है।

‘‘हमारी सत्ता इस क्षण अधर में थरथरा रही है, और हम अपने ही भीतर की किसी परात्पर महाशक्ति से जबाब तलब कर रहे हैं। हमारे बश का कुछ भी नहीं रह गया है। भानवीय बुद्धि और कतृत्व के तमाम औजार और हथियार नाकाम हो चुके हैं। तब हमें अपने ही भीतर के किसी ऐसी उत्तरण अतिमानव को तलाश है, जो हम सबकी पुंजीमूल शक्ति और परम ज्ञान का विश्रह हो, और जो हमारे मामलात में वरबस हस्तक्षेप करके, उन्हें किसी भुनियादी रोशनी में मुलाला दे, और हमारी विन्दगी और इतिहास को एक नया सोड़ दे दे।

ऐसे ही किसी बेरोक तकाखे ने मेरे भीतर भी काम किया है, और उसी का प्रतिफलन है यह रचना। अनुत्तर-योगी महाबीर, मेरी उसी बेंच पुकार के उसर में एक बहुआयामी महासत्ता के रूप में व्यक्तित्वमान हुए हैं। हमारे मौजूदा जीवन-जगत और चेतना के हर आयाम पर तीखे प्रबन्ध चल रहे हैं, और उन्हीं का अमोघ उत्तर देते-से वे सामने आये हैं। इसीसे इस कृति को मैं एक व्यक्तित्व-प्रधान विचार-उपन्यास कहने की हिमाकृत भी कर सकता हूँ।

* * *

इस मुकाम पर शिल्प का प्रबन्ध उठ सकता है। कोई सी समर्थ और 'गोलिक रचनाकार' काव्य-शास्त्र पढ़ कर महाकाव्य नहीं रच सकता। वह तो

अपने मीतर के अनिकार्यं तकाज्जो से बेताब हो कर ही रचना करता है। उसके मीतर से जब एक पुरा युग और जगत् बोलने और बाहर आने को छटपटा रहा हो, तो यह उसके बश का नहीं होता, कि अपनी रचना के स्वरूप और लिंग का विषयता वह स्वयम् रह सके। लास कर महाबीर जैसी विश्व-सत्ता यद्यु किसी रचनाकार के हाथों रूप लेना चाहे, तो उस रचना के रूप-तंत्र का स्टीयरिंग-ब्लौल (चालक-चक्र) भी वह अपने हाथ में ही से लेती है। रचनाकार को हैसियत महज चक्र की रह जाती है, जो महाबीर के हाथों में धूम रहा है।

इसीसे कहना चाहूँगा कि यह कृति यदि कोरी कथा से अधिक एक व्यक्तित्व-प्रधान वैचारिक महानाशा बनी है, तो उसके विधायक और निर्णायक महाबीर ही रहे हैं, मैं नहीं।

वैसे भी मैं यह मानता हूँ कि हर सच्चा और मौलिक कृतिकार अपनी विद्या स्वयम् ही निर्माण करता है। पहले ही से मौजूद निर्धारित विषयों की परिभिर्वासी दैनिक इडु कुरुत नहीं रह रहता। आज तो सर्जना और कला के क्षेत्रों में ऐसा अपूर्व नवोन्मेष प्रकट हुआ है, कि हर कलाकार और सर्जक, अपनी हर अगली रचना में, अपनी मीतरी मृजनात्मक आवश्यकता के कल्पनालय, नयी विद्या प्रस्तुत करता दीख रहा है। काव्य, महाकाव्य, कहानी, उपन्यास, नाटक के तमाम पुराने दृचिं घड़ले से दूर रहे हैं। रचनाकार अपनी हर नवीन कृति में कोई नया ही स्वच्छन्द प्रयोग करते नजर आते हैं। एक उपन्यास ठीक उपन्यास होने के लिए आज किन्हीं पूर्व-निर्णीत हड्डों और पार्वनियों का कार्यल नहीं। मीतर का कथ्य और सम्बोदन, अपनी निसर्गधारा में बहुत हुआ, अपने शिल्पन के दृचिं अपने ही अन्दर से फैकला चला जाता है। आज रचना-धर्मिता जगत् सी कृतियम् प्रयास-साध्य नहीं रह गई है। वह बहुत महज, मुक्त और निसर्ग हो गई है। पहाड़, अरने, समन्वय, उकाला-मुखी, आत्मा और हतिहास सीधे-सीधे अपनी तमाम ताकृत और अस्मिता के साथ रचना में मुद्रित और शिल्पित होने चले जाते हैं।

शुरू में महाबीर पर महाकाव्य सिखने का इच्छा था, और आभारी हूँ मुनीश्वर विद्यानन्द स्वामी का, कि उपन्यास लिखा गया। महाकाव्य उपन्यास होने को मजबूर हुआ, तो उपन्यास महाकाव्य हुए बिना न रह सका। एक नया ही आयाम पैदा हो गया। महाबीर जैसे अनन्त पुरुष को महाकाव्य में

ही समेटा जा सकता है। पराकोटि की कल्प-बेतना के बिना उनका सजीव कल्पन और विम्बायन सम्भव नहीं। इनि को परात्मा-गमिनी कल्पक उद्धान, और अतलगामी धैसान के बिना, महावीर के अनन्त-आयामी और अवाह व्यक्तित्व को नहीं थाहा जा सकता, नहीं मिरजा जा सकता।

बेशक मुझे यह मुविदा रहो कि मैं भूलनः एव रुषि हूँ। मेरी संवेदना और कल्पना स्वभाव से ही पारात्मर-बेधो है। बस्तुओं, व्यक्तियों, घटनाओं, सौन्दर्यों और सम्बेदनों के छोरों तक गये बिना मुझे चैन नहीं पड़ता। अपनी इस स्वभावगत तीव्रता, बेधकता और विद्युत्ता (पोटगनेमी) के बलते, महावीर को रचना में मुझे काफी मुविदा हुई है। कठ-धैरे तक-संगत गद्य में एक विस्फोटक और देश-कानोनीण सत्ता-पुरुष फो चैस सहेजा जा सकता है।

यों मीं आज कथा और कविता के बोन्च की मर्यादा-रेखा बहुत बेमालूम हो रही है। सृजन की सारी ही विधाएँ एक-दूसरे में अन्तर-संकाल्प होती दीखती हैं। आधुनिक उपन्यास के आदि जनक हुनरी प्रूफ्ट ने ही, कथा को कविता होने से नहीं बचाया था। वह मानव आत्मा के ऐसे अन्तर्मन कक्षों के द्वार खड़क्षया रहा था, जहाँ काव्य की सूक्ष्मता के बिना प्रबंध पाना सम्भव नहीं था। इसी से वह कविता की तभाम सूक्ष्मता, गीतिवत्ता (लिरिसिजम), जंवगाहनशीलता (प्रोमिय), प्रवाहिता और लचीलापन एक बारमी ही अपने उपन्यास 'दि स्वान्स वे' में ले आया था। मेरे प्रस्तुत उपन्यास में काव्य और कथा की यह अन्तर-संकाल्प महज ही घटिन हुई है। विषय की असाधारणता के अनुरूप, अपना एक विलक्षण जिञ्च-विधान, मेरी रचना-प्रक्रिया में आपोआप ही प्रस्तुति होता रहा गया है।

इसी प्रक्रिया के दोगन एक और सौ आजादी में ली है, या कहें कि बिना कियो अपने फँसले के वह मुझ से लेते ही बनी है। यानी चाहे जब हर कोई पात्र स्वयम्, आत्म-कथानक अन्दाज में अपनों कथा कहने लगता है। प्रथम खण्ड के कुछ गिने-नुने अड्यारों में ही कथाकार कहानी कहता नज़र आता है। वर्ता तो लगभग सभी अड्यारों में, महावीर सहित सारे पात्र अपनों कथा स्वयम् ही कहते सुनायी पड़ते हैं। द्वितीय खण्ड तो समूचा महावीर के आत्म-कथन के रूप में ही प्रस्तुत हुआ है। तृतीय खण्ड का रूप प्रथम खण्ड की तरह ही मिला-जुला है। कुछ ऐसा लगता है, मानो कि एक आत्मिक विवशता से उत्सूत होकर पात्र अपनी चेतना को पर्त-दर-पर्त

तो लेते चले जाते हैं। मगर अवचेतना-प्रवाह की विश्वस्त्रल अभियक्षित यहाँ नहीं है, बल्कि अतिचेतना-प्रवाह का एक अन्तर्भुक्ती अन्वेषण और उत्तरस्त्रल निवेदन ही इसमें अधिक गतिशीलता है।

* * *

मेरे उपन्यास के महावीर अवतार जैसे लग सकते हैं। जैन लोग अवतारकाद का संदाचिक ढंग से विरोध करते हैं। पर मेरे महावीर सो सारे वैधे-वैधाये दौंसों और मिदान्तों को तोड़ते हुए सामने आते हैं। वे तो परम अनेकान्तिक और तिरन्तर प्रगतिमान मना-पुरुष हैं। अनेकान्तन मूलतः भावात्मक वस्तु है, ताकिक नहीं। वह एक बोरगो ही नाना भाविती निष्ठण वन्न-मना का व्योतक है। उसी से कहना चाहता हूँ कि अनेकान्तिक मना के मूर्तिमास विष्व महावीर को किन्हीं ऐकान्तिक गणित-फॉर्मलों, परिभाषाओं और मिदान्तों के बाखाल से नहीं बंधा जा सकता। युग की महावेदना और उसमें पुकार के उत्तर में ही तीर्थकर पृथ्वी पर अवतरित हो कर, ममकात्मीन जगत को उम यातना के नामचूड़ से मुक्त करने हैं, जन-जन और कण-कण को उनकी लक्षायोन मुक्ति का मार्ग दिखाते हैं, अर्थ एक नये मार्गान्तिक युग-नीर्थ का प्रवर्णन करते हैं। प्रमाण और उदय की शक्ति एक मार्ग उनके भोतर में विस्फोटित होती है। अजानात्मकार का किनाश और ज्ञान का प्रकाश उनके हर वचन और बन्दन में एक साथ होता चला जाता है। उनके उम पुंजीभूत (कार्यभूतेन्द्रिय), केन्द्रोद्धर और युगंकर प्रबलप को अवतार के मिलाय और क्या कहा जा सकता है। काम से काम भावात्मक कृप में तो एक महज ही कहते बनता है। और मिदान्त की भाषा सो मेरे मन कटु एकान्तवाद की भाषा है, और प्रकट है कि मेरे महावीर उम कठधरे को नोडने आये थे। मो किसी कठधरे की भाषा में महावीर को कैसे परिभाषित किया जा सकता है?

* * *

भौगोलिक और प्रितिहासिक नामों के चुनाव में मैंने उत्तरता दरवतो है। उसमें प्रधमनः मेरी दृष्टि लोकव्यात्मक और कलात्मक रही है। कला-चित्र, घण्डनि और भावाकाश, यभी दृष्टियों में जो नाम अधिक भावधंक लग, उन्हें मैंने अपना लिया है। पुरानात्मिक और जोश-कर्ता की नश्यनिर्णय की दृष्टि मेरे उचनाकार को स्वीकार्य न हो सकी। एक खास प्रमाण में किस नदी, पर्वत, बन, तार, पुर-पत्तन का नाम अधिक भावधंक घण्डनि-चित्र और कला-चित्र उत्पन्न करता है, उसी को मैंने चुन कर नियोजित कर दिया है।

कथा को एक बहुत गम्भीर और नाकरबर 'सम्पेत' देने के सिए मैंने अक्रिय-कुण्डपुर को वैशाली के एक उपनगर के रूप में, एक खास सन्दर्भ में, उससे अलग भी रखना है। वैशाली और कुण्डपुर के बीच का फायदा कितने भीत या योजन का है, इस तथ्य में मुझे दिलचस्पी नहीं। नाकुण्ड मीलों का जो भी फायदा है, उसे मैंने उभारा हूँ। यहांकी दीवाब के बाद अद्वाहेंग बरग की उम्म तक वैशाली नहीं जाते। हिमवान और विन्ध्याचल पूँछ आये, किन्तु ही जनकी मृत्यु-परिवर्तन, यह शर-बार बुलाये जाने पर भी वैशाली नहीं जाये। नगमन अपने मृहन्त्याग की पुर्व-सम्भाय में ही वे पहली बार, एक नियन्त्रित-पुरुष भी नगह वैशाली जाने हैं। और वहाँ के सन्धान में उस नन्द-द्युविन का विस्फोट आते हैं, जिसे लेकर वे जन्मे थे, और जो वहाँ उनकी एकमात्र 'ईमिटन्स' (नियन्त्रित) थी। अब कुण्डपुर और वैशाली के बीच का उपचेताव फायदा कितना। महावृणुं और भार्यक गिरि होता है !

अक्रिय-कुण्डपुर के पास गण्डकी नदी बहती है। कुछ बिडाल इसी को हिरण्यवनी भी कहते हैं। बिना किसी तथ्य-निर्णय के इस्टेट में पहुँच मैंने 'हिरण्यवनी' को अपना लिया है। चयोंकि हमकी इन्हीं मौसुम दूसरे हैं, और हिरण्यमय पुरुष महाबीर को पृष्ठभूमि में वह एक अत्यन्त मार्थक धर्योग सिद्ध होती है। वैशाली के प्रमुख गजबद्ध विदेह-वंश भी वहे गये हैं। भागमो मे स्वयम् महाबीर को विदेह-पुत्र और उनकी माँ विश्वा को विदेहदत्ता भी कहा गया है। जनक विदेह का विदेह-वंश समाप्त होकर विन्ध्यविद्यो मे निर्माजित हो गया जाता है। वैशाली और उसका समान गजग-परिसर विदेह-वेद्य भी कहनाना है। उगोंमे महाबीर को मैंने आत्मात्मक और कुल-परमारा, डीनों ही अर्थों में जनक विदेह का बंशज भी कहा है। जाहिर है कि इस नगह तथ्यात्मक मंगनि भी महज ही बैठ जाती है और जनक तथा याज्ञवल्य के माथ जोड़ कर महाबीर को सारत के जानात्मक और सामृद्धिक इतिहास और परम्परा में कड़ीबड़ी रूप में बटित करना वही गम्भीर हो जाता है, जो कि इस रचना में मैंना अनिवार्य अभीष्ट था। विदेहों की वैशाली कहकर, जनक की जनकपुरी को भी मैंने सोढ़ तोर पर बृहत्तर वैशाली क्षेत्र में ही महज समावेशित कर लिया है। इसी मे हिरण्यवनी के जल को सौता, मैथ्रेयी, गार्गी के स्नान से पावन करना मंगन हो सका है, और उससे महाबीर को गोगोलिक पृष्ठ-भूमि मे एक अद्भुत महिमा और परिवर्तन की गुणित मम्मव हो सकी है।

ऐसे हो और भी गोगोलिक और एतिहासिक नामों में मैंने सम्बन्ध-सूत्र जहाँ-जहाँ जोड़े होंगे। तथ्य-निर्णयिक गोष-पंडित मुक्त से अपने विवादप्रस्ता

निर्णयों पर चलने की प्रत्याशा न करें। मोर्टे तौर पर भौगोलिक स्थितियों और नामों का मानविक के अनुस्तुति सहज निवाह किया गया है। पर चुनाव का सन्दर्भ-सूच मैंने अपना स्वतंत्र रखा है। उसमें सौदर्य, मात्र और कलात्मकता ही निष्णयिक है। मैं उसे किसी भी कलाकार का एक रुक्म-संसाक्ष 'ज्यूरिहिडक्षन' (अधिकार-क्षेत्र) मानता हूँ, जो तथ्य-प्रवितों की मदाक्षलत से परे है।

व्यक्तियों, उनके नामों, और उनके वीच के सम्बन्धों के आकलन में भी मैंने स्वतंत्रता बर्ती है। उपलब्ध सम्बन्ध-सम्मानाओं में जो सम्बन्ध मेरी कथा को अधिक सतेज और पुष्ट करे, उसी को मैंने मान्यता दी है। दिगम्बर-श्वेताम्बर भान्यताओं के मेद को गोण कर, मैंने उन दोनों ही स्रोतों से अपने अनुकूल चुनाव कर लिये हैं।

* * *

इवेताम्बर आगमों में ही महावीर की जीवनी के उपादान मिलते हैं। सभी अधिकारी इतिहासकारों ने उन्हें प्रामाणिक लोत के रूप में स्वीकारा है। आगमों की भाषा, कथन और कथा-शैली, प्रवचन और वातालिण की शैली, सम्बोधनात्मक गद्बाबलों आदि बोद्धागमों से बहुत मिलती-जुलती है। प्रमुखतः बोद्धागमों में ही महावीरकालीन भाग्य का जोवन्त प्रतिक्रिया मिलता है। वही समकालीन सम्भवता-संस्कृति के लहो आइते हैं। इवेताम्बर आगमों में भी अद्वानः यह विशेषता सौजूद है। सम्प्रदायिक पूर्वग्रहण इन आगमों को न स्वीकार कर, दिगम्बरों ने महावीर को जोवनी को ही गंवा दिया है। महावीर के जीवन-चरित्र से भी उन्हें अपना मताग्रह अधिक मूल्यवान प्रतीत हुआ। अनाग्रह, अपरिग्रह और सोह-मुक्ति का प्रवचन नो हम मास-सास में करते हैं। पर भूमि तक में अपने मोह, आग्रह और परिग्रह को ठोंक बैठाने में हमने कोई कसर नहीं रखी है। महावीर से अधिक हमें ये प्रिय हैं, और जी-जान से हम उनसे चिपटे हुए हैं। इवेताम्बर आगमों का दिगम्बरों द्वारा अस्वीकार, महावीर के जिन-शासन को एक महाभूल्य दस्तावेज और विचासन को नकार देने का सांझनिक अपराध ही कहा जा सकता है।

द्विसरी ओर इवेताम्बर सम्प्रदाय, इतिहास में महावीर का दिगम्बरत्व सिद्ध होने पर भी, और आगमों में महावीर का अचेलक नाम होना सफल उत्तिष्ठित होने पर भी, इवेताम्बरत्व के पूर्वग्रह से ग्रस्त होकर महावीर के चित्रों में उसे झोड़ की डाल, छाया, कोहरे, अन्धड़ की धूस, अंगत-ज्वाला और मापों से ढाकने की हास्यापद चेष्टा करता है। पंथ-मूढ़तावश यह सत्य

पर पद्धि डालने की नादानी है, जिस पर सिद्धात्मा महाबीर को भी हैसी आ जाती होगी। एक और हम अनेकान्त, जहिंसा और अपरिग्रह के चारों से धरती-आसमान धर्गा रहे हैं, और दूसरी ओर हम इतने कहर ग्राकान्तवादी, हिंसक, उंगी और परिग्रह-मूल्लिंगत हैं कि अन्य धर्मियों की तो बात दुर्ग, स्वयम् महाबीर की मन्त्रानों ने हीं आपने सम्प्रदाय-कलाह को बदो पर, तो कौर्यकर-मूर्नियों के समक्ष, परहार साई-भाई को कल्प नक किया है ! तीर्थों पर आपने कालूनी कड़जे जमाने को हम चार-चार दिनों में लड़ रहे हैं, और लाखों रुपयों की आतिशबाजी कर रहे हैं। आपने गिरने हुए और लाल्लाशी में जीते हुए महाबीर बन्धुओं को उठाने और जिन्दा रखने को हमारे धीमन्त अपना दावित और कर्तव्य नहीं मानते, पर तीर्थों की सम्पत्ति पर लालेबन्दी करने की तीव्र कथाय के बहीभूत हो, वे आपने धन को पानी की नश्ह अनर्गेल बहा रखते हैं।

जो महाबीर मारे बन्धन काट बाई, भारे चाद-मस्त्रधाय के घेरे लोडकर, इतिहास में नग्न और निर्गंध लड़ा है, उसे आपनी साम्प्रदायिक गंधियों में जकड़ कर, मनमाना काट-छाँट कर बिकूत कर देने में हमने कोई बमर नहीं उठा रखती है। मगवान के इस विश्व-व्यापी महानिर्वाणोन्मव की मंगल-बेला में भी यदि हम उपरोक्त स्थल कथाय और मोटे पूर्व-ग्रहों से मुक्त हों, आत्मिक गुणना के सूक्ष्म में न छोड़ भक्त, तो इतिहास में यह निर्वाणोन्मव झमारे गौरव का नहीं, लज्जा और कलंक का अध्याय होगा।

जहाँ भक्त मेरी अपनी बात है, सम्प्रदाय तो द्वार, मैं तो तथाकथित जैनत्व के दायरे में भी धृत फहले निष्कान्त ही चुका। कृष्ण, महाबीर और भीम्त को एक ही महासना के बिभिन्न-मुखीन प्रकटीकरण (मेनीफंस्टेशन) मानने वाला मैं, एक स्वतंत्र सत्य-यथानी कवि हूँ। नब साम्प्रदायिकता तो मूँझे छू मी कैसे सकता है। इसी से महाबीर का आत्मज विवि बीरेत्त, उनके अनु-यायियों की इस कहर धर्मान्वता, और आपने ग्रामी-सादृन के लिए महाबीर की हत्या तक कर देने को उनकी नापरता। देख बार, खुन के आमूर रो आया है।

मेरे धर्म-रक्त को विगदही, क्या मेरे इग हृदय-रक्त को देखकर गियल सकेगो ?

फहले ही महाबीर को आपनी धोर साम्प्रदायिकता के बागानाह में पञ्चों संदियों तक कंद रख कर, उन्हें इतिहास के पर पर से मिटा देने का महा-अपराध हम बरगवर करते चले जा रहे हैं। और आज भी, मारतीय गाढ़

और भू-मण्डल-व्यापी तिवार्ण-महोत्सव का विरोध करके, महादीर को अपने ठेके को समर्पित घोषित करने का एक महान् प्रदर्शन भी कहीं चल रहा है। यह विष्व-पूरुष महाबीर को विष्व-पट पर से भूस देने की आत्मिरी बर्बरता वा दोलक है। हम जीनों का गत लई सदियों का इतिहास सहाबीर-पूजा का नहीं, महाबीर-द्वोह का इतिहास है। अब व्यंग्य है, कि महाबीर के नाम का नवकाला पीट कर हम इस वयत सारी दुनिया को जगाने में लगे हैं, मगर हम खुद ही मोये हुए हैं। बदहवास और शाफिल हैं। ऐसी आत्म-हत्यारी आमिक बिगदरों दुनिया में विरल ही कोई होती।

* * *

यत्तरा जैयो मामने आती है, वह स्थिति और गति को संयुति होती है। हमों ये जैन इष्टाचारों ने उसे ठीक इसी रूप में परिभाषित किया है। महाबीर सत्ता के उम नात्तिक स्वरूप के चरम मानवीय प्रकटोकरण थे। उनके स्थिति पक्ष का गान लो जिन-शासन में सदियों में होता चला आया है। पर उनके गति-प्रगतिशील पक्ष का कोई जीवन्त मानवीय स्वरूप, भौजुदा लोतों से हमें उपलब्ध नहीं होता। जो अपने काल का मूर्य, और अपने युग-तीर्थ का प्रवर्तक तीर्थकर था, वह वह अपने समय की विविध-आयामी जीवन-व्यवस्था से बंसरोकार रह सकता था? उम जमाने के सत्ताधारियों, धर्म-पत्रियों और वर्णिक-धर्मियों के आष्टाचारों और अनाचारों को वह वह अनदेखा कर सकता था? यह बस्तुतः ही संभव नहीं है, और न उनके तोर्थकरने के माथ संगत हो सकता है। अनुगामी आचार्य परम्पराओं में खाले महाबीर के इस 'रोल' को अवगतना की हो, पर वास्तव में उनके विष्व-परिवाता स्वरूप का यह जीवनोन्मुख आयाम भी अनिवार्यतः प्रकट हुआ ही होगा। मैंने अपनी इस छुति में समवान के उस कर्मयोगी धर्म-धूरधर व्यक्तित्व को जीवन्त करने का प्रयास किया है। पर उनकी समग्र जीवन-दृष्टि और विष्व-दृष्टि को मैंने सत्ता के उपरोक्त नात्तिक स्वरूप पर ही आधारित किया है। 'उत्ताद-व्यय-धीर्यव्युक्तं सत्त्वम्': सत्ता एक वारगी ही उत्पाद, व्यय और ध्रुव की संयुति है। आषारमूल सत्ता (फॉडामेंटल रियालिटी) की यह जिनेश्वरों द्वारा उपदिष्ट परिभाषा समार के दर्णों में अन्वित है। इसी को वस्तु या व्यक्ति का स्वभाव भी कहा गया है। इसी सत्ता-स्वरूप या वस्तु-स्वभाव पर मैंने महाबीर के समूके व्यक्तित्व, छुति, जीवन और प्रववन को आधा-रित किया है।

जीनों का अनेकान्त-दर्शन भी, सत्ता के उपरोक्त अनन्त-आयामी (अनन्त गुण-व्याप्ति) स्वरूप को सही रूप में पकड़ने की एक छंजी है। सम्यक् दर्शन,

सम्यक् जान, सम्यक् चारित्र्य, यानी सम्यक् देखना, सम्यक् जानना, सम्यक् जीना, उक्त सत्ता-स्वरूप में नहगत रूप से जीवन-धारण और सोध-धारित का एकभाव उपाय है। कर्म-सिद्धान्त, अहिंसा-अपरिग्रह आदि सी मिथिति-गति-संयुक्त सत्ता के उसी प्रकृत स्वरूप की ही अनिकार्य उपज है। कमो-बेज सभी भारतीय धर्म-दर्शनों ने आत्म-अपने तरीके से कर्म-सिद्धान्त का प्रबन्धन किया है। वह मूलतः मनुष्य के स्वायत्त पुरुषार्थ का उद्योतक है। पर इतिहास के चक्रवर्तिनों में, प्रमु-चर्णीय जोषक शक्तियों ने ही उसकी भाग्यवादी व्याक्षार्थी को और करवाई है। धर्मों और धर्माचार्यों तक को उन्होंने अपनी भवान्य मौतिक प्रभुता वा खिलौना बनाकर रखा है। उसों द्वारा कर्म-सिद्धान्त को स्थापित-स्वार्थी वर्गों के हित में व्याख्यायित किया और कान्वाया गया है। कर्मवाद, भाग्यवाद, पुण्य-पापवाद को आड़ में जोषक शक्तियों ने भारत के इतिहास में जिन अमानुषिक अत्याचारों की मृष्टि की, वह तो इस क्षण तक भी सफल प्रकट ही है। वह मिलसिला भारत में आज के धर्म और अध्यात्म-गुरुओं की छाप-द्वाया में भी, जिन का त्यों अटूट चल और पल रहा है। वर्तमान भारत के सारे ही शीर्षस्थ और अध्यात्म-शक्ति-सम्पन्न श्रीगुरु-दरबार मी काले-बालारियों की सम्पदा के बल पर ही फल-कूल रहे हैं। भारतीय जन-जीवन के निकृष्ट हृत्यारों को भी इन श्रीगुरुओं के चरण-कमलों में वेशर्त फारण और अभयदान प्राप्त होता है।

इन श्रीगुरु दरबारों में मैंने देखा है, दीन-दलिल, पीड़ित जन-साधारण दुःख से लबरेज, और टापकाते हुए, दशनाधिमों के क्यूं में अपनी बारी काने पर जब श्रीगुरु के समक्ष आते हैं, तो श्रीगुरु उनकी ओर देखते तक नहीं। वे अपनी व्यष्टि-कथा कहते ही रह जाते हैं, और श्रीगुरु के छड़ीदार उन्हें वहीं से लीच-ढकेल कर अपनी राह भेज देते हैं। जबकि दूसरी ओर काले बालारों से करोड़पति बने महाजन और रिष्वतलोर राज्याधिकारी श्रीगुरु के चुनिन्दा भक्तों के रूप में उनकी दायीं और सहे रहने के विकाष्ट हक्कदार होते हैं। यही लोग आद्यमों के थोड़ साधनों के उपभोक्ता होते हैं, और हँसते-बलसाते जपन मनाते दिलायी पहुंचते हैं। कोई भी तीर्थंकरत्व, योगोत्त्व या सन्तत्व यदि आज के मीषण धैर्य के युग में कर्म-सिद्धान्त और प्रारब्धवाद की आड़ में, दीनहीन, शोषणप्रस्त जन-साधारण के सुख-दुःख, संघर्ष और समस्याओं से बसरोकार रहे, तो मैं उसे गम्भीर लंका की दृष्टि से देखता हूँ। मैं उसे स्थापित-स्वार्थी, जोषक और अत्याचारी शक्तियों का समर्थक और पक्षपत्र मानने को लालार होता हूँ।

मेरे युग-युग सम्मव नितन्नव्य महावीर ने कर्म-सिद्धान्त की इस स्थापित-स्वार्थी और शोषण-समर्थक व्याख्या का सीधा-सीधा भण्डाफोड़ किया है। जिनेश्वरों द्वारा आदिकाल से उपदिष्ट सत्ता-स्वरूप के आधार पर ही उन स्वयम् सत्ताधीश्वर मण्डान ने कर्म-सिद्धान्त को उसके प्रकृत स्वरूप में लोल कर सामने रखा है। अ्यक्षित-स्वातंत्र्य, समाजवाद, विकासवाद-प्रगतिवाद आदि हमारे मौजूदा युग की सर्वोपरि पुकारें हैं। उनके पीछे निश्चय ही महासत्य का कोई अनिवार्य तकाढ़ा काम कर रहा है। जाग्रत सत्ता-पुरुष महावीर के संयुक्त विद्वि-तिमान व्यक्तित्व से उठि उन पुलानों का युग-स्वरूप उत्तर न आये, तो जिनेश्वरों द्वारा प्रब्रचित सत्ता-स्वरूप ही गलत और व्यर्थ सिद्ध हो जाता है।

जैसा कि आरम्भ में ही कह चुका है, महावीर अपने समकालीन इतिहास में एक अतिवादी विश्व-शक्ति के रूप में प्रकट हुए थे। मौलिक सत्ता के सन्तुलन-नियंत्रण से, तल्कालीन विश्व-व्यवस्था में जो शोषण विष्णुति उत्पन्न हुई थी, उसके विरुद्ध वे विष्मव और विद्रोह के ज्यालामुखी के रूप में उठे थे। इस अतिक्रान्ति और प्रतिवाद का स्रोत सतहो इतिहास की शिया-प्रतिक्रिया-जनित दुष्ट शृंखला में नहीं था। वह सत्ता और आत्मा के मूल स्वरूप में था। इस प्रचण्ड क्रियाकादी का कर्मयोग, विशुद्ध आत्म-स्वभाव में से विस्फोटित हुआ था। बैंगाली का वह विद्रोही राजपुत्र अपने युग की मूर्धा पर जान और अतिक्रान्ति के अनिवार्य सूर्य के रूप में उद्भवासित दिखायी पड़ता है।

इसी कारण बतंपान युग की तमाम मौलिक पुकारों और समर्थाओं का मौलिक उत्तर और समाधान मेरे महावीर की बाणी में सहज प्रतिष्ठानित सुनाई पड़ता है। महावीर के धर्म-शासन में व्यक्तिगत सम्पत्ति के संचय और शोषण-समाज-व्यवस्था के लिए कोई स्थान नहीं। जिनेश्वरों द्वारा उपदिष्ट वस्तु-स्वरूप, अनेकान्त, अद्विसा और अपरिग्रह से अधिक सशक्त समर्थन और अचूक आधार, आज की समाजवादी पुकार को जायद ही कहीं अन्यथा मिल सके। पर यह सच है कि आज का जैन समाज महावीर के उस धर्म-शासन का प्रतिनिधि नहीं, प्रतिरोधी ही कहा जा सकता है। महावीर का अ्यक्षितत्व इसमें प्रतिबिम्बित नहीं; महावीर से इसका कोई लेना-देना नहीं।

एक और भी अहम मुद्दे का उपष्टीकरण आवश्यक है। ज्यादातर इतिहास-कारों ने महावीर को ब्राह्मण-धर्म और बैदं वा विरोधी बताया है। यह एक ऐसा भयंकर 'ब्लंडर' है, जिसका सरूप प्रत्याख्यान होना चाहिये। महावीर ने कहीं भी वैदिक-उपनिषदिक व्याख्या, और विशुद्ध ब्राह्मण-धर्म का विरोध नहीं किया है। उन्होंने बैदं-अष्ट परम्पर्युत ब्राह्मणों द्वारा को गई बैदं और

यम की असत्य, स्वार्थी और विक्रम व्याख्याओं का निश्चय ही मंजन किया पा। सच तो यह है कि भगवान् ब्रह्मजानी वाह्यण को ही ममाज की मूर्धा पर प्रक्षिप्त किया चाहते थे। यह नियम है कि मर्षज केवली हो जाने पर, तत्काल ही तीर्थकर की लोक-कल्याणकानी घर्म-देवना अनुक आरम्भ ही जाना है। उन केवल वा व्राह्मण-धर्म इन्द्रभूति गोतम, एक उपर्युक्त और नियत पट्ट-गणधर के अप में उनके गमन आकर उपस्थित न हो गया। आगमों में उनके प्रदुर ग्रनाण मिलते हैं कि अपने व्याख्य ग्रनुस्त्र व्राह्मण गणवरों द्वारा व्राह्मण शुति-बथनों पर ही मन्देह प्रवास किये जाने पर, वार्ष्यार मगवान ने उस व्राह्मण पर्वितों को समझ को ही दूषित और गलत बताया, तथा स्वयम् उपनिषद्-मूर्दों को उद्भूत कर, उनकी मत्यता का यथास्थान समर्थन करते चले गए। भगवान ने हर चन्द यह स्पष्ट किया है कि व्राह्मण शुतिर्दी अपने ग्रनुत बथनों में, यायेक दूषित से एकदम सही हैं, पर संशायात्मा और स्वार्थ-मूर्द व्राह्मणों न स्वयम् हों अपने अधूर ज्ञान से उनकी गलत व्याख्याएँ करके, बद, यज्ञ और आर्य व्राह्मण वर्म को अवशतिन किया है। महाबीर के प्रथम व्याख्य गणवरों का व्राह्मण होना, और जिन-जामन के गमीं ग्रनुस्त्र आचारों का व्राह्मण होना इस बात को प्रमाणित करता है कि बहु को जीवन में आचरित करने वाले सचेव व्राह्मण का जिनेश्वरों की घर्म-परम्परा में सदा ही सर्वोच्च स्थान रहा है, और आगे भी रहेगा।

* * *

मेरे महाबीर परम्परागत थमणों और जाह्नों की अच्छ-बद्ध सीमित वाणी नहीं बोलते। जो स्वयम् पर्यायी यानी शुद्ध दब्य-स्वरूप (काल्पेण) हो चुका है, वह किसी भाषा पर्याय (फार्म) की कैद स्वीकार करके सीमित और नित-नव्य मत्य का प्रबन्धन कर सकता है। महाबीर नो जन्म से ही मति-शुति-अवधिज्ञान के धारक थे। वे जन्मज्ञान थोरी थे। वे सर्वतंत्र-स्वतंत्र चिदपुरुष थे। उनका हर बचन और व्यवहार चिर स्वतंत्र चित्ति-शब्दित में से स्फूतं चिद्वाणी, चिदकिया और चिदविलास ही हो सकता था। इसी से मेरे महाबीर के कथनों और क्रियाओं में, उनके रुद्धीवादी और पराम्पराग्रस्त परिजनों को स्थापित घर्म-मर्यादाओं के मंग, विरोध और विलोपन तक की ध्वाति हो सकती है। वे प्रश्न उठा सकते हैं कि क्यों मेरे महाबीर के विचार और व्यवहार पूर्वगमी तीर्थकरों की शास्त्र-बद्ध चर्चाओं से विसंगत और अतिरिक्त लगते हैं? पर सत्ता तो अपने निज स्वरूप में ही निन-नूतन होती है, किसी भी माया और व्यवहार की परंपरागत

पर्याय (फॉर्म) से वह प्रतिबद्ध कोसे हो सकती है। तब स्पष्ट है कि उस सत्ता के भूतिमान अवतार महावीर के उच्चार, व्यवहार और तीर्थकरों महज परम्परा के अनुभासी नहीं हो सकते। परम्परा एकमात्र मौलिक सत्य की ही अटूट और जिरोधार्थी हो सकती है। उस सत्य के व्यंजक रूप-आकारों को परम्परा तो अपना काम सम्पाद्य करके कालान्तर में, स्वयम् ही जर्जर-जीर्ण होकर सूखे पते की तरह झड़ जाती है। और यदि वह सड़-गल कर भी मोहृस्त मानव चेतना में चिपटी रह जाये, तो नवयुग विधाता तीर्थकर और शलाका-पुरुष अपने मौलिक सत्य-तेज के प्रहार से उसे छवस्त कर देते हैं। महासत्ता के इसी धाइवत नियम-विद्यान के अनुभार तीर्थकर महावीर ने, पुरातन पर्यायों के सारे जड़ीभूत ढाँचों और परम्पराओं को बड़ी निर्भमता से नेस्तनाबूदङ कर दिया था। वे एक रवदम्भू-गरिमू परम सत्ताधीष्वर थे, और उनके स्वामार्दिक और स्वतःस्फूर्तं प्रनयेक विचरण, बाचरण और प्रबचन से, ह्रास-श्रस्त युग-स्वरूपों का अंस होता चला गया था, और नवीन युग-तीर्थ का प्रबत्तन होता चला गया था। एक बारमी ही प्रत्यय और उदय की धूरा पर बढ़ा वह सत्यन्धर, अपने तृतीय मैत्र से जड़-पुरातन को जमीदोष करता हुआ, नूतन रचना के सूर्यं मुमलसल बहाता चला गया था।

इसीसे निवेदन है कि परम्परा से उपलब्ध जैन शास्त्रों और सिद्धान्तों की शास्त्रिक कस्टोटी पर यदि कोई घर्मचार्य या पंडित महानुभाव मेरे महावीर को कहने और परस्ने की कोशिश करेंगे तो उन्हें निराश होना पड़ेगा। इसी प्रकार कोई इतिहासविद् ईसा-पूर्व छठवीं सदी के सटीक ऐतिहासिक ढाँचे में मेरे महावीर को फिट करके जाचना चाहेंगे, तो उसको पल्ले भी निराशा ही पड़ सकती है। जो महावीर परा-ऐतिहासिक भी थे, वे अपने युग में घटित होकर भी, उसकी तथ्यात्मक परिधि में गोभित नहीं पाये जा सकते। वे आज के रचनाकार के विजन-वातावरण पर ठीक आज के मीलग सकते हैं। कोई भी मौलिक प्रतिमा का सूजक कलाकार, अपने सौतर मौलिक सत्ता का यांत्रिकचित् प्रकाश लेकर ही जन्म लेता है। वह योगियों और तीर्थकरों का ही एक सारस्वत सूर्य-पुत्र होता है। इसीसे वह शास्त्र और इतिहास का उद्घाटी होता है।

□□

समरपन

अगम और अधाह की इस अवश्यक सोजन्यापा में महाशब्दित ने मुझे आत्मनः अकेला ही रखका है। महावीर तक पहुँचने के लिए एक हद के बाद मर्वया अकेले हो ही जाना पड़ता है। जब तक दो हैं, उस एकमेवा-द्विनीयम् की अलक कौसे पायी जा सकती है। ... फिर मी बहुत देखा है, कि इस बीच मेरे हृदय में मुरुजनों का कृषा-वस्त्र निरन्तर छाया रहा है, और मेरे कई प्रियजनों का स्नेह-सम्बल मुझे यथास्थान चारों ओर से थामे रहा है। उन सबको यहाँ स्मरण किये विसा समापन सम्भव नहीं।

गणेशपुरी के नित्यानन्द-तीर्थ में श्रीगुरु एक बोल उठे : 'लिखो ... लिखो ... लिखो ...'। गोलापुर की बाल-तपस्मिनी सुमति दीदो (पद्धति प० सुमतिवाई शहा) ने श्रीभगवान के आवाहन का मंगल-स्वर्णितक मेरे हृदय पर अंकित किया। पांडीचेरी के समुद्र-तट से थी माँ का सुवर्ण-नील वाशीर्वाद प्राप्त हुआ। और थी महावीरजी में विश्व-घर्म के अशुनातन मंत्र-दण्डा श्रीगुरु विद्यानन्द का अविकल्प आदेश सुनाई पड़ा : 'विश्व-पुरुष महावीर पर उपन्यास लिख कर, उनके इस विश्व-व्यापी निर्वाणोत्सव की मंगल-बेला में अपनी कृतम को कृतार्थ करो।' महाकाव्य लिखने के मेरे अनुग्रह पर वे बोले : 'उपन्यास के रूप में ही अपना महाकाव्य लिखो। यहाँ युग की पुकार है। उपन्यास के भाग्यम से ही तुम्हारी श्रीमहावीर-कथा आज के जन-जन के हृदय तक पहुँच सकेगी। और वह उसे होना है, यह मैं स्पष्ट देख रहा हूँ।' मेरे सारे विकल्प श्रीगुरु-आदेश के सम्मुख समाप्त हो गये। और यह उपन्यास ग्रन्थित है। ...

श्रीमहावीरजी के प्रांगण में ही इस कृति का बीजारोपण हुआ था। यह धटना एक गम्भीर आशय रखती है। चाँदनपुर के उन ब्रैलोक्येश्वर प्रभु की परम इच्छा ही, मुनिथी के मुख से मूलरित हुई थी। उन भगवान का वह निर्णय अटल था। और इस रचना के शब्द-शब्द के साथ मुझे यह अविकल्प प्रतीति होती रही है, कि चाँदनपुराधीश्वर श्री महावीर ही मेरे कवि की कृतम से स्वयम् अपने चरित का गान और पुनराल्यान कर रहे हैं। यह कृति

उन्हीं का उच्छवास है, उन्हीं का चिदविलास है, मेरा वास्तिलास नहीं। हाँ, इसकी जूटियाँ और सीमाएँ जो मी हों वे मेरे पात्र को न्यूनता का ही परिणाम कही जा सकती हैं।

मेरे सारस्वत द्विजन्म की मातृमूर्ति इन्दौर को 'श्री बीर-निवाण-ग्रन्थ-प्रकाशन-समिति' के मंडो श्री बाबूभाई पाटोदी ठीक निर्णय-मुहूर्त में, श्रीमहाकीरणी में आ उपस्थित हुए। मुसिधी ने उन्हें ही इस बक्षर-यज्ञ का अहतिवक्ष नियुक्त किया। उनके माध्यम से इन्दौर ने और 'समिति' ने कवि का और रचना का सार उठा लिया। उस प्रथम क्षण से ही बाबूभाई के मुँह से यह अमीमा सतत व्यक्त होती रही; 'बीरेन् भाई, तुम्हारी इस कृति को विश्व-व्यापी होना है।' और अपने इस संकल्प को सिद्ध करने के दौरान, इसके सेखन और प्रकाशन के इस क्षण तक बाबूभाई का जो गर्वोला लाङ-प्यार और बातसत्य मुझ पर बरसता रहा, उसे शब्दों में नहीं सहेजा जा सकता। परं उनकी अमोम्पा को मैं सम्पन्न कर सका था नहीं, इसका निर्णय तो समय ही करेगा।

'श्री बीर-निवाण-ग्रन्थ-प्रकाशन-समिति' के कर्ता-धरता हैं श्री मानकभाई पांड्या। श्रीमगवान के अदृश्य देवदूत की तरह, इस रचना-काल में अपने अकाह मौन प्यार से वे मुझे घेरे रहे हैं। विज्ञान-प्रकाशन और यशोकाम से अलिप्त हस ताधुमना व्यक्ति के भावंच, बाजंव और निर्द्वाम सेवा-माव के आगे सदा मेरा माया थद्वा और क़तज़ता से छुक गया है। मानवत्व में देवत्व की छाया यहाँ मैंने देखी, और अचूक देखी।

'तीर्थंकर' के सम्पादक डॉ. नेमीचन्द जैन हमारे युग को वेदना के एक अनोखे चिन्तक और नृतन विश्व-सन्धान के तपोनिष्ठ साधक हैं। मेरी इस रचना के दौरान, आदि से अन्त तक, जैसे वे मेरी हृदय-धड़कन बन कर मेरे साथ रहे हैं। इस अवधि के येरे मांधरों, पीढ़ाओं और यकाजों में, वे मुझे अकम्य बहि से यामे और साथे रहे हैं। पञ्च-व्यवहार के माध्यम से, इस उपन्यास की समूची रचना-प्रक्रिया के वे एकमेव सांकेति और गोप्ता हो कर रहे। आज के युग में ऐसा अन्तसंखा कहाँ सुलग होता है। उनके और मेरे अनुज भाई प्रेमचन्द जैन मी मानकभाई की तरह हीं, इस काल में अपनी दिव्य आत्मोयता की गोद में चुपचाप मेरी अविद्यान्त सृजनरत काया और चेतना को सहलाते रहे, और उसे अपने प्यार का अमृत पिलाते रहे।

गांधी के अहिंसक कान्ति-पथ के एकनिष्ठ अनुबादी और साक्षक इस आजन्म अहिंसारी युवा के भीतर बार-बार मूँझे एक छूपे महापुरुष का दर्शन हुआ है। इस पुस्तक के अन्तर-शाहृ कलेक्टर को सेवामन्त्रे का सारा भार भानकभाई के साथ वे भी चुपचाप अपने ऊपर उठाये हुए हैं।

समस्त मध्य-प्रदेश के धड्डेय लोक-पिता और बातसल्ल्य की चलसी-फिरती मूरत श्री-मिश्रीलाल मैया, सौजन्यमृति पं. नाथूलाल शास्त्री, और घर्मानुरागी दामेश्वर बाबू राजकुमारसिंह कासलीबाल आदि 'श्री बीर-निर्वाणन्त्र-प्रकाशन-समिति' के आधार-स्तम्भ उन सभी अप्रज घर्म-बन्धुओं का अतिथय कुतज्ज हैं, जिसके उदात साहसिक समर्थन और दाक्षिण्य के बल पर हो, ऐसी दुःसाहसिक रचना में कर सकते हैं।

मेरी सरस्वती के अनन्य प्रेमी, और मेरी संकट-धडियों के निष्कारण सहायक, स्व. महाकवि दिनकर को इस क्षण में कैसे मूल सकता है। अपनी जीवन-सन्ध्या में दिली विश्वविद्यालय में बोलते हुए एक बार उन्होंने कहा था : 'बीरेन्द्रकुमार जैन की कविता में इस देश की मिट्टी की सुगन्ध साकार हुई है।' ... कितनी साध यी भन में कि दिनकर माई कब मेरी इस रचना को पढ़े। पर आज वे मध्य आर्य-पुरुष, पाधिक देह में हमारे बीच नहीं हैं। उनके चरण छू कर, उनके बल्लज हाथों में यह कृति सौफने का सौभाग्य मेरा नहीं रहा। ... दिनकर माई, तुम तो इन्हे जिन्दा थे, हो, कि मर सकते ही नहीं। जहाँ भी इस समय तुम हो, समवान मेरी इस रचना को तुम्हारे हाथ में पहुँचायें। ... मुझे आजीवाद दोगे न, कि मेरी आजीवन तपस्या का यह फल कुतकाम हो सके।

इस बीच पूज्य जैनेन्द्रजी के आजीवाद को छप-छाया में मूँझे अदृट बल प्राप्त होता रहा। सदा की तरह इस बार भी वे मेरी हर समस्या के सहज समाधान होकर रहे। ... राजस्थान विश्व-विद्यालय के एक स्तम्भ और अन्तर्राष्ट्रीय ल्याति के राजनीति-शास्त्री डॉ. शान्तिप्रसाद बर्मा मेरे बादि बोहिक गुरु और अनन्य स्नेही अप्रज रहे हैं। इस रचना-काल में शान्ति माई साहृ के पत्र सतत मेरे भीतर की उस अदृष्ट महानता को उभारते रहे, जिसकी प्रत्यभिज्ञा ही, किसी लेखक से उसका थेष्ट सृजन करवा सकती है। आज से ३०-४० वर्ष पूर्व एक दिन उन्होंने ही मेरे भीतर अनायास उस अन्तर-आत्मिक महिमा का बीज अंकुरित कर दिया था। और देश-काल की

तमाम द्विरियों के बाबजूद, आज तक उसके सतत विकास के प्रेरणा-स्रोत होकर वे रहे। ऐसे आत्मीय सम्बन्ध जगत में कितने दुर्लभ होते हैं! सोच कुर्सेन्ह हृदय सुख में विमोर हो जाता है।

मेरा एकमात्र सहोदराधिक आत्म-त्यागी माई श्रीकुमार 'भुवितदूत' से लगावार इस कृति तक, मेरी रचना-प्रक्रिया का अधम् साक्षी और अटूट ममनन रहा है। मौ. अनिला रानी की अल्पुष्ण जील-तपत्रया ने हो, मृत्यु-मुख से एकाधिक बार मुझ सौख्यकर, यह लिख सकने को भुजे जीवित रखला है। मैंनी कुशल लक्ष्य-किल्पी बेटी ज्योतिना मिलन मेरी इस कथा के रचाव को अपना सम्पूर्ण समर्थन देती रही। अमित्र रमेश (रमेशचन्द्र शाह) की निर्मम समीक्षा-इटिंग भी इसके कई अंशों को सुन कर मूर्ख और स्तन्धु हुई है। इस रचना के दुसराय 'गडबोचर' और स्वडी चडाड़ियों के बीच, मेरे आत्मज ज्योतीन्द जैन और पश्चनकुमार जैन की तटस्थ कला-दुष्टि से जो परामर्श और ग्रोलाहन मुझे मिलना रहा, उससे रचना के सधाव में और अपने पथ पर अंडिंग रहने में मुझे बेहद भद्र मिली है।

बम्बई के अपने नित्य के साधी-संगियों में, मेरे अमित्र भाई जितेन्द्र पट्टनी, आत्मवत् माई श्रीहरि, हरिमोहन शर्मा और सम्पत्त ठाकुर यह वाहते उहाँ जापाये कि यह रचना अपने समय का अतिक्रमण कर जीवित रहेगी। साधुमना जीवन-सप्तस्त्रों और स्वतंत्र चितक मेरे व्यारे भाई जमनालाल जैन तथा महावीर की फ़कीरी ले कर, सारे देश की पद्धत्याक्रा धर रहे तेजस्वी चितक भाई भानीराम शर्मा 'अस्तिमूल' का उद्बोधन, मेरी इस रचना को अद्भुत शक्ति देता रहा है।

मेरे निष्काम आत्माधीं स्तोही भी रमणीक माई जबरी ने मेरे महावीर के भारत में पुनर्जगधारण के इस मुहूर्त में उन चिमुषन-सम्बाद प्रभु को राजतिलक लगाया है। मेरा सौमाय कि महावीर के प्रेम की एक सजीव मूरत उनके मीतर मुझे मुलस हुई है।

इस देश के जिन हजारों पाठकों और मुख्य मावकों ने समर्थ-समय पर प्रकाशित हम उपन्यास के अंशों को जो व्यार और अपनत्व दिया है, वह मेरे यही जीवन-धारण की एकमात्र कृतार्थता है। उनके मन्तव्यों की मुझे सदा प्रतीक्षा रहेगी।

शब्दों के इस अपार जगल को जिन टाइपिस्ट मिश्रों ने रात-दिन अधिशाल्त अम करके सुन्दर प्रेस कॉषी में परिषत कर दिया, उसका मूल्य शब्दों और रूपयों से नहीं चुकाया जा सकता। नई दुनिया प्रेस, हन्डौर, के व्यवस्थागत और सारे ही धर्मिक वन्दुओं ने इस शंथ के मुद्रण को भविष्येष स्नेह और लग्न से संजोया है। उनका हृदय से आमारी है।

* * *

मेरी छोटी बहन मयूरी इस रचना के पीछे एक अकाम्प दीप-शिखा की तरह खड़ी है। मौ जाने कितने रूपों में, जाने कब अचानक हमारे पास आ कर खड़ी हो जाती है, सौ कौन बता सकता है।... मगवती चन्दनबाला के प्रभामण्डल की एक किरण मेरी ड्वार-देहरी पर औचक हो जा खड़ी हुई है। उसे प्रणाम करता हूँ।...

फिर अन्तिम रूप में निवेदन है, कि इस छुति में भव्यम् श्रीनगरान ने ही अपनी जीवन-लीला का यानन्दा भास किया है। आप ही वे कहाँ अपनवाँ घट द्वाए हैं। इस पर मैं आनंद कर्त्तव्य की मुहर कीसे लगा सकता हूँ। हमारे युग के प्रति उनके इस प्रतम भनुगृही दात को, उन्हीं के श्रीचरणों में समर्पित करता हूँ।

अनन्त चतुर्बाही :

३० सितम्बर, १९७५

गोविन्द निवास, सरोजिनी रोड;
बिले पारले (परिचय); बम्बई-५६